Uttar Pradesh Rajarshi Tandon
Open University

MAST -103
लघु सिद्धान्त कौमुदी
(पाठ्यक्रमानुसार नियत अंश-
व्याख्या)

खण्ड
1

लघु सिद्धान्त कौमुदी

इकाई- 1

1.1 भूमिका, 1.2 अजन्त- पुल्लिङ्ग- राम, सर्व, हरि स्त्रीलिङ्ग- रमा, नदी, नपुंसकलिङ्ग- ज्ञान 5

इकाई- 2

हलन्त- पुल्लिङ्ग- राजन्, इदम् स्त्रीलिङ्ग- मातृ नपुंसकलिङ्ग- अहन् 48

इकाई- 3

तिङन्त, गम् तथा एध् धातुओं की रूपसिद्धि 84
(नोट- रूपसिद्धि लघुसिद्धान्तकौमुदी के अनुसार)

परामर्श-समिति

प्रो0 नागेश्वर राव	कुलपति - अध्यक्ष
डॉ0 हरीशचन्द्र जायसवाल	वरिष्ठ परामर्शदाता - कार्यक्रम संयोजक
श्री एम0 एल0 कनौजिया	कुलसचिव - सचिव

पाठ्य-सामग्री निर्धारण समिति

प्रो. पी0डी0 सिंह	आचार्य, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रो. जी0 आर0 पाण्डे	आचार्य, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ
प्रो. प्रभुनाथ द्विवेदी	आचार्य, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रो. सोमनाथ नेने	आचार्य, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रो. यू0 पी0 सिंह	आचार्य, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रो. आर0 सी0 पाण्डा	आचार्य, विद्याधर्म विज्ञान संकाय (बी0एच0यू0)
डॉ0 राममूर्ति चतुर्वेदी	रीडर, काशी विद्यापीठ
डॉ0 अच्छे लाल	प्रवक्ता, संस्कृत, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

सम्पादक

प्रो0 मुरली मनोहर पाठक	आचार्य, संस्कृत विभाग, पं0 दीनदयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर
डॉ0 राजेश्वर शास्त्री मुसलगांवकर	विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

लेखक

प्रो0 पी0 डी0 सिंह	अध्यक्ष काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज – 2024

ISBN -

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्य सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

प्रकाशक- उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से विनय कुमार, कुलसचिव द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित वर्ष – 2024.

मुद्रक – के0 सी0 प्रिंटिंग एण्ड एलाइड वर्क्स , पंचवटी , मथुरा – 281003.

खण्ड- परिचय

तृतीय प्रश्न पत्र के प्रथम खण्ड की ईकाई-1 में भूमिका, अजन्त-पुल्लिंग, राम, सर्व, हरि की रूप सिद्धी की गई है। स्त्रीलिंग में रमा, नदी तथा नपुंसकलिङ्ग में ज्ञान शब्द की सिद्धी की गई है। इकाई-2 में हलन्त पुल्लिंग - राजन्, इदम् स्त्रीलिंग-मातृ तथा नपुंसकलिङ्ग में अहन् शब्द की सिद्धि की गई है। इकाई-3 में धातु रूप की सिद्धि की गई है।

पाठ्यक्रम - परिचय

इस पाठ्क्रम में तीन खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में पुल्लिंङ्ग, राम, सर्व हरि। अजन्त-स्त्रीलिङ्ग - राम, नदी तथा नपुंसकलिङ्ग ज्ञान शब्द की सिद्धि प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। द्वितीय खण्ड में हलन्त - पुल्लिङ्ग, राजन्, इदम् हलन्त-स्त्रीलिंग-मातृ तथा नपुंसकलिंङ्ग अहन् शब्द की सिद्धि प्रक्रिया को बताया गया है। तृतीय इकाई में धातु रूपसिद्धि दी गयी है।

द्वितीय खण्ड में दो इकाई चतुर्थ एवं पञ्चम इकाई में कृदन्त तथा तद्धित प्रकरण के प्रकृति प्रत्यय का निरूपण किया है। पञ्चम इकाई में समास का सामान्य परिचय दिया गया है।

तृतीय खण्ड में तीन इकाई - इकाई षष्ठ, सप्तम्, अष्ठम। षष्ठ इकाई में अलङ्गकार का परिचय दिया गया है सप्तम इकाई में शब्दालङ्कार के विषय में वर्णन किया गया तथा अष्ठम इकाई में अर्थालङ्कारों के विषय में बताया गया है।

खण्ड–१

इकाई –१

आचार्य वरदराजकृत

लघु सिद्धान्त कौमुदी

(पाठ्यक्रमानुसार नियत अंश-व्याख्या)

****

१.१ भूमिका

व्याकरण और उसका महत्त्व

जिस तन्त्र से साधु शब्द का ज्ञान होता है, उसे 'व्याकरण' कहते हैं (व्याक्रियन्ते = व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति–शब्दज्ञानजनकं -व्याकरणम्')।

संस्कृतवाङ्मय में व्याकरण का स्थान बहुत ही ऊँचा है। उसकी गणना वेद के षडङ्गों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष) में होती है और उसे वेद का मुख-रूप प्रदान अङ्ग माना जाता है—

मुखं व्याकरणं तस्य ज्यौतिषं नेत्रमुच्यते।
निरुक्तं श्रोत्रमुद्दिष्टं छन्दसां विचितिः पदे ।।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य हस्तौ कल्पान् पचक्षते।

पतञ्जलि मुनि ने भी 'षट्स्वङ्गेषु प्रधानं व्याकरणं प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति'। वस्तुतः व्याकरणज्ञान के बिना वेद-वेदान्त, स्मृति-पुराण, इतिहास, काव्य आदि किसी भी शास्त्रान्तर में प्रवेश नहीं हो सकता।

चाहे किसी अन्य शास्त्र का अध्ययन किया जावे या न किया जावे, किन्तु व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन अवश्य करना चाहिये; क्योंकि व्याकरण-ज्ञान के बिना शब्दों का उचित प्रयोग नहीं हो सकता और शब्दों का उचित प्रयोग न होने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है। जरा-सी उच्चारण-सम्बन्धी भूल से स्वजन (सम्बन्धी) 'श्वजन' (कुत्ता), सकल (सम्पूर्ण) 'शकल' (खण्ड) और सकृत् (एक बार) 'शकृत्' (विष्ठा) बन जाता है। कहा भी है—

यद्यपि बहु नाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो माभूत् सकलः शकलः सकृत्छकृत् ।।

(आ) पाणिनीय व्याकरण की परम्परा और लघुसिद्धान्तकौमुदी

संस्कृत व्याकरण की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। प्रकृति-प्रत्यय, धातु-उपसर्ग और समासघटित पूर्वोत्तरपदों का विभाजन पूर्णतः निर्धारित हो चुका था। वाल्मीकीय रामायण में तो व्याकरणशास्त्र के सुव्यवस्थित पठन-पाठन का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।[1] ऋक् तन्त्रकार के अनुसार व्याकरणशास्त्र का आदि प्रवक्ता ब्रह्मा है। ब्रह्मा ने बृहस्पति को और बृहस्पति ने इन्द्र को शब्दोपदेश दिया।[2] वोपदेव ने आठ शाब्दिकों का उल्लेख करते समय सबसे पहले इन्द्र का ही नाम लिया है—

---

१. नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहु व्याहरतानेन न किञ्चिदपभाषितम् ॥ (किष्किन्धा० ३।२९)

२. ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भारद्वाजाय, भारद्वाज ऋषभ्यः, ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः— ऋक्तन्त्र (१.४)।

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नाऽऽपिशला शाकटायनः ।
पाणिन्यमरजैनेन्द्राः जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः ।। (कविकल्पद्रुम)

पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्य

इन्द्र से लेकर महर्षि पाणिनि तक अनेक वैयाकरण हुए, जिनमें से कुछ का निर्देश प्रातिशाख्य आदि प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। स्वयं पाणिनि ने ही अपनी 'अष्टाध्यायी' में आपिशलि (६.१.९२), काश्यप (१.२.२५), गार्ग्य (८.२.२०), गालब (७.१.७४), चाक्रवर्मण (६.१.१३०), भारद्वाज (७.२.६३), शाकटायन (३.४.१११), शाकल्य (१.१.१६), सेनक (५.४.१६) और स्फोटायन (६.१.१२३)—इन दस शाब्दिकों का उल्लेख किया है, किन्तु सम्प्रति इन सभी आचार्यों में से किसी का भी व्याकरण पूर्णरूपेण प्राप्त नहीं होता, उनका केवल उल्लेखमात्र ही मिलता है। सबसे पहला पूर्ण व्याकरण हमें महर्षि पाणिनि का ही उपलब्ध होता है।

पाणिनि

महर्षि पाणिनि के जीवन-वृत्त के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है। पतञ्जलि के महाभाग (१.१.२०) से पता चलता है कि उनकी माता का नाम दाक्षी था। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने उनका समय ५०० ई०पू० के मध्य निश्चित किया है और उन्हें नन्द राजा महानन्द का समकालीन बताया है।[१] गणतन्त्रमहोदधि के आधार पर उनका जन्म-स्थान 'शालातुर' नामक ग्राम बताया जाता है।

पाणिनि का प्रधान ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी-सूत्रपाठ' या 'अष्टाध्यायी' है। इसमें लगभग ४००० सूत्र हैं। इसके साथ ही साथ उन्होंने धातुपाठ, गणपाठ, अणादिसूत्र और लिङ्गानुशासन की भी रचना की है। ये चारों ग्रन्थ वस्तुतः 'अष्टाध्यायी' के परिशिष्ट हैं। उनके अन्य ग्रन्थों में शिक्षासूत्र और जाम्बवतीविजयकाव्य की गणना होती है।

पाणिनीय शब्दानुशासन सब प्रकार के पूर्ण और अद्वितीय है। पाणिनि ने संस्कृत को जीवित भाषा के रूप में ग्रहण कर उसका अत्यन्त ही वैज्ञानिक–विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

भाषा को नाम, आख्यात (धातु), उपसर्ग और निपात (अव्यय)–इन चार मूलभूत तत्त्वों में विभाजित करते हुए उन्होंने धातु पर सबसे अधिक बल दिया है। उनकी शैली बहुत ही परिमार्जित और सारगर्भित है। अधिक से अधिक अर्थ को कम से कम शब्दों में प्रकट करना उनकी विशेषता है। इसके लिए उनको प्रत्याहारों, अनुबन्धों, गणों, संज्ञाओं, अनुवृत्ति और कई जगह पर लागू होने वाले 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' (८.२.१) सदृश सूत्रों का सहारा लेना पड़ा है। कहीं भी किसी शब्द का दो बार या व्यर्थ प्रयोग नहीं हुआ है।

प्रसिद्ध भाषाविद् एल० ब्लूमफील्ड ने भी पाणिनीय व्याकरण की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उनका कथन है—'यह व्याकरण (= पाणिनीय व्याकरण) मानवीय बुद्धि के महानतम कीर्ति-स्तम्भों में से एक है। यह बड़ी ही सूक्ष्मतापूर्वक प्रत्येक विभक्ति (या प्रत्यय), व्युत्पत्ति और रचना तथा सूत्रकार की भाषा (= संस्कृत) के प्रत्येक प्रयोग का वर्णन करता है। आज तक किसी भी भाषा का इतना पूर्ण वर्णन नहीं हुआ है।

कात्यायन

पाणिनि के पश्चात् संस्कृत-व्याकरण में दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान कात्यायन का है। 'कात्यायन' शब्द वस्तुतः गोत्र-प्रत्ययान्त है। श्री युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार यहाँ कात्यायन का अभिप्राय वररुचि कात्यायन से है, जो कि शुक्लयजुर्वेद के आङ्गिरसायनशाखा के प्रवर्तत कात्यायन का पुत्र और याज्ञवल्क्य का पौत्र था।[२] उन्होंने इसका काल २७०० वि०पू० माना है, किन्तु अन्य विद्वान उसका समय ४०० ई० पूर्व और ३०० ई० पूर्व के बीच में मानते हैं। यह दाक्षिणत्य था।

---

१. नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहु व्याहरतानेन न किञ्चिदपभाषितम्॥ (किष्किन्धा० ३।२९)

२. ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भारद्वाजाय, भारद्वाज ऋषिभ्यः, ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः—ऋक्तन्त्र (१.४)।

पाणिनि के कुछ सूत्रों में आलोचनात्मक दृष्टि से कमी पाकर वररुचि (कात्यायन) ने अपने 'वार्त्तिक[1]-पाठ' की रचना की, जो कि पाणिनीय व्याकरण का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अङ्ग है।

पतञ्जलि

वररुचि के बाद पाणिनीय-व्याकरण-परम्परा में तीसरा महत्त्वपूर्ण नाम पतञ्जलि का है। 'महाभाष्य' के 'अरुणद् यवन: साकेतम्, अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्' (३.२.१११) और 'इद पुष्यमित्रं याजयाम:' (३.२.१२३) वचनों के आधार पर कुछ लोग उनका समय २०० ई०पू० मानते हैं।

पतञ्जलि की प्रमुख रचना 'महाभाष्य' है। इस ग्रन्थ में उन्होंने कात्यायन द्वारा पाणिनि पर किए गये आलोचनात्मक वार्तिकों का खण्डन और पाणिनीय सूत्रों का मण्डन बहुत-ही सजीव और सुबोध शैली में किया है। इसमें उन्हें अपूर्व सफलता मिली है, किन्तु कहीं-कहीं पर कात्यायन के प्रति उन्होंने अन्याय भी किया है। उन्होंने शङ्का-समाधान की शैली को अपनाते हुए अनेक दृष्टान्तों द्वारा अपने विषय का प्रतिपादन बड़ी ही सुगमता से किया है। उनकी भाषा लम्बे-लम्बे समासों से रहित, छोटे-छोटे वाक्यों से युक्त अत्यन्त सरल तथा अतीव प्राञ्जल और सरस है। व्याकरण जैसे क्लिष्ट और नीसर विषय को इतने सरल और सजीव रूप से प्रस्तुत करना पतञ्जलि की ही विशेषता है।

जयादित्य- वामन

पतञ्जलि के परवर्ती काल में 'अष्टाध्यायी' और 'महाभाष्य' पर अपरिमित वाङ्मय का निर्माण हुआ। पाणिनीय-परम्परा में अगला महत्त्वपूर्ण नाम जयादित्य और वामन का आता है। श्री अनन्तशास्त्री फड़के ने 'काशिका' की भूमिका में जयादित्य का समय ६६१ ई० और वामन का समय ६७० माना है।[2] इन दोनों ने मिलकर 'अष्टाध्यायी' पर 'काशिका' नामक एक सर्वाङ्गिण टीका की रचना की है। श्री युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार 'काशिका' के प्रथम पाँच अध्याय जयादित्य द्वारा और शेष तीन अध्याय वामन द्वारा लिखे गये हैं।[3] परवर्ती काल में इस पर अनेक टीकाओं की रचना हुई, जिनमें 'न्यास' या 'काशिका-विवरणपञ्जिका' (जिनेन्द्रबुद्धि) और 'मद-मञ्जरी' (हरदत्त मिश्र) विशेष उल्लेखनीय है।

भर्तृहरि

इसी समय के आस-पास भर्तृहरि का नाम आता है। सम्भव है कि यही भर्तृहरि शतक-त्रय (शृङ्गारशतक, नीतिशतक और वैराग्यशतक) के भी रचयिता रहे हों।[4] चीनी यात्री इत्सिङ्ग के आधार पर इनकी मृत्यु ६५० ई० में मानी जाती है।[5] इनका प्रमुख ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' है, जिस पर इन्होंने स्वयं 'स्वोपज्ञ' नाम्नी टीका लिखी है। यह ग्रन्थ आगम, वाक्य और प्रकीर्ण (या पद)—इन तीन काण्डों में विभक्त है। इसमें कारिकाओं द्वारा भर्तृहरि ने स्फोटवाद और विवर्तवाद नामक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ व्याकरण के दार्शनिक विवेचन के क्षेत्र में पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त भर्तृहरि ने 'महाभाष्यदीपिका' नाम्नी 'महाभाष्य' की एक टीका भी लिखी है। 'महाभाष्य' की अन्य महत्त्वपूर्ण टीका 'प्रदीप' है, जिसे कश्मीरी पण्डित कैयट ११०० ई० के लगभग लिखा था।

कैयट तक आते-आते लोक-भाषा से हटकर केवल अध्ययन-अध्यापन की भाषा बन गई थी। इसलिए व्याकरण में मौलिक ग्रन्थों को लिखने का अवसर ही नहीं रह गया। फलत: पाणिनीय व्याकरण के अध्ययन का ढङ्ग बदलने लगा। विषय-विभाग के आधार पर सूत्रों को विभिन्न अध्यायों में एकत्र किये जाने लगा और इस प्रकार प्रक्रिया-ग्रन्थों की परम्परा चल निकली। इस परम्परा का प्राचीनतम उपलब्ध

---

१. पाराशर उपपुराण में वार्तिक का लक्षण इस प्रकार दिया है—'उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते। तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वर्तिकज्ञा मनीषिण:'॥ (अर्थात् जिस ग्रन्थ में सूत्रकार द्वारा उक्त, अनुक्त और तदुक्त विषयों पर विचार किया गया हो, उसे 'वार्तिक' कहते हैं)।

२. काशिका (चौखम्बा, १९८७ वि०), पृ० ५

३. संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास; प्रथम भाग (प्रथम संस्करण), पृ० ३३३

४. श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने इनका काल वि०सं० १५१०-१५७५ माना है।
देखिये-'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' प्रथम भाग (प्र०सं०), पृ० ३५१

५. श्रीयुधिष्ठिर मीमांसक ने इस मत का खण्डन किया है। उन्होंने भर्तृहरि का काल वि०सं० ४५० से पूर्व माना है। वही, पृ० २५६, २५८-६४

ग्रन्थ 'रूपावतार' है, जिसके रचयिता धर्मकीर्ति (११वीं शताब्दी ई०) हैं। इस क्षेत्र में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान भट्टोजि दीक्षित का है।

भट्टोजि दीक्षित

इनका समय १६वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के मध्य माना जाता है।[१] ये महाराष्ट्रिय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम लक्ष्मीधर और गुरु का नाम शेषकृष्ण था। इनका प्रमुख ग्रन्थ 'सिद्धान्त-कौमुदी' है, जिस पर इन्होंने स्वयं ही 'प्रौढमनोरमा' नाम्नी टीका लिखी है। इस ग्रन्थ की महत्ता इस पर लिखी गई अनेक टीकाओं से अथवा पाणिनीय व्याकरण की सर्वाधिक प्रचलित पाठ्य-पुस्तक होने से ही नहीं है, वस्तुत: इसका महत्त्व इसलिए है कि इस ग्रन्थ में मुनित्रय के सिद्धान्तों के साङ्गोपाङ्ग समन्वय के साथ-साथ अन्य व्याकरणों और पद्धतियों से भी सारग्रहण किया गया है और नवोदित पद्धतियों की आलोचना इतनी सफलतापूर्वक की गई है कि इस ग्रन्थ ने अध्ययन के क्षेत्र से पाणिनीय 'अष्टाध्यायी' को तो निकाल ही दिया।

वरदराज

भट्टोजि दीक्षित के पश्चात् दूसरा महत्त्वपूर्ण नाम वरदराज का है। 'मध्यसिद्धान्त-कौमुदी' से पता चलता है कि यह भट्टोजि दीक्षित के शिष्य थे।[२] इस प्रकार इनका १७वीं शताब्दी का पूर्वार्ध रहा होगा। इनके पिता का नाम 'दुर्गातनय' था, जैसा कि 'सारा-सिद्धान्तकौमुदी' से प्रकट होता है।[३] इनके द्वारा रचित चार ग्रन्थ मिलते हैं—'लघुसिद्धान्त-कौमुदी' (जिसे 'लघुकौमुदी' भी कहते हैं), मध्यसिद्धान्तकौमुदी, गीर्वाणपदमञ्जरी और सारसिद्धान्तकौमुदी। इनमें लघुसिद्धान्तकौमुदी, मध्यसिद्धान्तकौमुदी और सारसिद्धान्त-कौमुदी भट्टोजि दीक्षित-रचित 'सिद्धान्तकौमुदी' के सङ्क्षिप्त संस्करण है। 'लघुसिद्धान्त-कौमुदी' का निर्माण संस्कृत-व्याकरण के प्रारम्भिक अध्येताओं के लिए हुआ है,[४] अत: इसमें जटिल और अनावश्यक सूत्रों को स्थान नहीं दिया गया है। इसमें केवल लौकिक-संस्कृत-सम्बन्धी नियमों को ही सङ्गृहीत किया गया है। 'मध्यसिद्धान्तकौमुदी' का क्षेत्र इससे अधिक व्यापक है और उसके अन्तर्गत वैदिक व्याकरण-सम्बन्धी नियमों का भी समावेश हुआ है। 'सारसिद्धान्तकौमुदी' सबसे सङ्क्षिप्त है। इनका चतुर्थ ग्रन्थ—'गीर्वाण-पदमञ्जरी' साहित्यिक, सामाजिक आदि विभिन्न विषयों पर प्रश्नोत्तर-शैली में लिखा गया है। इन चारों ग्रन्थों में से 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' का प्रचार सबसे अधिक हुआ और आज भी उसे पाणिनीय व्याकरण का सर्वोत्तम प्रवेश-ग्रन्थ माना जाता है।

नागेश भट्ट

वारदराज के पश्चात् पाणिनीय व्याकरण की परम्परा में अन्तिम उल्लेखनीय नाम नागेश भट्ट का है। श्रीयुधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार इनका काल १६७३-१७५३ ई० (वि०सं० १७३०-१८१०) के मध्य है।[५] यह महाराष्ट्रिय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम शिवभट्ट और माता का नाम सतीदेवी था। व्याकरणशास्त्र का अध्ययन इन्होंने भट्टोजि दीक्षित के पौत्र हरि दीक्षित से किया था। व्याकरणशास्त्र पर ही इन्होंने लगभग एक दर्जन स्वतन्त्र और टीका-ग्रन्थों का प्रणयन किया है। इनमें से लघुशब्देन्दुशेखर (सिद्धान्तकौमुदी की टीका), वैयाकरण-सिद्धान्त-मञ्जूषा और परिभाषेन्दुशेखर बहुत प्रसिद्ध है।

****

---

१. श्रीयुधिष्ठिर मीमांसक ने इस मत का खण्डन किया है। उन्होंने भर्तृहरि का काल वि०सं० ४५० से पूर्व माना है। वही, पृ० ३५१, ३५२-३

२. नत्वा वरदराज: श्रीगुरून् भट्टोजिदीक्षितान्।
करोति पाणिनीयानां मध्यसिद्धान्तकौमुदीम्॥

३. कृता वरदभट्टश्रीदुर्गातनयसूनुना।
वेदवेदप्रवेशाय सारसिद्धान्तकौमुदीम्॥

४. नत्वा सरस्वतीं देवीं शुद्धां गुण्यां करोम्यहम्।
पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीम्॥

५. सस्कृत व्याकरणाशास्त्र का इतिहास; प्रथम भाग (प्र०सं०), पृ० ३०८

१.२ अजन्तपुल्लिङ्गप्रकरणम् (राम, सर्व, हरि)

१.२.१ 'राम' शब्दान्तर्गत सूत्र व्याख्या

१. अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् ।१।२।४५।

वृत्ति—धातुं प्रत्ययं प्रत्ययान्तं च वर्जयित्वा अर्थवच्छब्दस्वरूपं प्रातिपदिकसंज्ञं स्यात्।

शब्दार्थ—(अधातु:) धातु-भिन्न और (प्रत्यय:) प्रत्यय-भिन्न (अर्थवत्) अर्थवान् (प्रातिपदिकम्) प्रातिपदिक-संज्ञक होता है। यहाँ पर सूत्रस्थ 'प्रत्यय' से प्रत्यय और प्रत्ययान्त—इन दोनों का ही ग्रहण होता है। 'शब्दानुशासन' का विषय होने के कारण 'शब्दस्वरूपम्'-इस विशेष्य का अध्याहार हो जाता है। सूत्रस्थ 'अर्थवत्' (अर्थवान्) का अर्थ है—जिसका कुछ अर्थ हो अर्थात् सार्थक।

भावार्थ—धातु, प्रत्यय और प्रत्ययान्त को छोड़कर अन्य अर्थवान् (सार्थक) शब्दस्वरूप की 'प्रतिपदिक' संज्ञा होती हैं। दूसरे शब्दों में प्रातिपदिक संज्ञा के लिए निम्न बातें आवश्यक हैं—जिस शब्द का कुछ न कुछ अर्थ हो, वही प्रातिपदिक हो सकता है, किन्तु वह अर्थवान् शब्द धातु नहीं होना चाहिये। यह सूत्र का निषेधात्मक पक्ष है। इसके कहने से 'अहन्' की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होती; क्योंकि वह 'हन्' धातु के लङ् लकार का रूप है और उस अर्थवान् शब्द को प्रत्यय भी नहीं होना चाहिये—इस कथन से 'रामेषु' तथा 'करोषि' आदि स्थलों पर सुप् तथ सिप् आदि प्रत्ययों की प्रातिपदिक संज्ञा न होती है तथा वह अर्थवान् शब्द प्रत्ययान्त भी नहीं होना चाहिये—इस व्यवस्था से 'रामेषु'-इस प्रत्ययान्त समुदाय की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होती।

उदाहरण—ये सभी विशेषताएँ 'राम' शब्द में मिलती हैं। 'राम' शब्द न तो धातु है, न प्रत्यय और न प्रत्ययान्त ही। साथ ही यह शब्द अर्थवान् भी है; क्योंकि 'राम' शब्द का अर्थ है—दशरथ का पुत्र आदि। इस प्रकार 'राम' प्रातिपदिक-संज्ञक होगा।

२. कृत्तद्धितसमासाश्च ।१।२।४६

वृत्ति—कृत्तद्धितान्तौ समासाश्च तथा स्युः।

शब्दार्थ—(च) और (कृत्तद्धितसमासा:) कृत्, तद्धित तथा समास... । सूत्रस्य 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र '११६-अर्थवत्-०' से 'प्रतिपदिकम्' और 'अर्थवत्' की अनुवृत्ति होती है। 'प्रातिपदिकम्' पुँल्लिङ्ग-बहुवचन में विपरिणत हो जाता है। 'अर्थवत्' का अन्वय सूत्रस्थ कृत्, तद्धित और समास से होता है। समास तो अर्थवान् होता ही है, किन्तु प्रत्यय होने से कृत् और तद्धित स्वत: अर्थवाले नहीं होते। वे जब प्रकृति से युक्त होते हैं, तभी अर्थवान् होते हैं। अत: यहाँ कृत् से कृदन्त और तद्धित से तद्धितान्त का ग्रहण होता है।

भावार्थ—कृदन्त (जिसके अन्त में कृत् प्रत्यय हो, तद्धितान्त (जिसके अन्त में तद्धित प्रत्यय हो) और समास भी 'प्रातिपदिक' संज्ञक होते हैं।

उदाहरण—'पाचक', 'कारक' आदि कृदन्तों, 'औपगव' आदि तद्धितान्तों और 'राजपुरुष' आदि समासों की प्रातिपदिक संज्ञा होती है।

३. प्रत्ययः ।३।१।१

वृत्ति—आपञ्चमपरिसमाप्तेरधिकारोऽयम्।

शब्दार्थ—यह संज्ञा तथा अधिकार सूत्र है—(प्रत्यय:) प्रत्यय संज्ञा होती है—यह अधिकार समझना चाहिये। यह 'अष्टाध्यायी' के तृतीयाध्याय के प्रथम पाद का प्रथम सूत्र है और इसका अधिकार पाँचवें अध्याय की समाप्ति तक जाता है।

भावार्थ—तीसरे, चौथे और पाँचवें अध्याय में आने वाले सूत्रों से जिनका विधान किया जाता है, उनको 'प्रत्यय' कहते हैं। जिससे प्रत्यय का विधान किया जाता है, उसे 'प्रकृति' कहते हैं। जहाँ-जहाँ प्रक्रति से प्रत्यय का विधान होता है, वहाँ-वहाँ प्रकृति पञ्चम्यन्त होती है।

उदाहरण—'स्वादिभ्यः श्नुः' में 'स्वादिभ्य:'। यहाँ पञ्चमी दिग्योग में होती है।

४. परश्च ।३।१।२

वृत्ति—अयमपि तथा।

शब्दार्थ—यह अधिकार व परिभाषा सूत्र है—(च) और (परः) पर होता है। यहाँ सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र '११८-प्रत्ययः' की अनुवृत्ति करनी होगी।

भावार्थ—प्रत्यय परे (पश्चात्) होता है। तात्पर्य यह कि जिससे प्रत्यय का विधान किया जाता है, प्रत्यय उससे परे आता है। दूसरे शब्दों में, प्रत्यय सदैव प्रकृति के पश्चात् आता है, न कि उसके पूर्व।

उदाहरणार्थ—'स्वादिभ्यः श्नुः' से जो 'श्नु' प्रत्यय होता है, वह 'सु' आदि धातुओं के पश्चात् आता है, न कि उसके पूर्व।

५. ङ्याप्प्रातिपदिकात् ।४।१।१ (११९)

वृत्ति—ङ्यन्तादाबन्तात्प्रातिपदिकाच्चेत्यापञ्चमपरिसमाप्तेरधिकारः।

शब्दार्थ—यह अधिकार सूत्र है—(ङ्याप्प्रातिपदिकात्) ङी, आप् और प्रातिपदिक से होते हैं—यह अधिकार समझना चाहिये। यह 'अष्टाध्यायी' के चतुर्थ पाद का प्रथम सूत्र है और इसका अधिकार पाँचवें अध्याय की समाप्ति तक जाता है। सूत्रस्थ 'ङी' से ङीप्, ङीष्, और ङीन् प्रत्ययों का तथा 'आप्'से टाप्, चाप् और डाप् प्रत्ययों का ग्रहण होता है। 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः' परिभाषा से यहाँ तदन्त-विधि हो जाती है। 'प्रातिपदिक' संज्ञा अर्थवान् शब्द, कृदन्त, तद्धित-युक्त और समास की होती है।

भावार्थ—चौथे और पाँचवें अध्याय में आने वाले सूत्रों से जिनका विधान किया जाता है, वे ङी प्रत्ययान्त, आप्-प्रत्ययान्त और प्रातिपदिक से होते हैं। ध्यान रहे कि चौथे और पाँचवें अध्यायों में '११८-प्रत्ययः' से प्रत्ययों का विधान किया गया है और ये प्रत्यय '१११-परश्च' से पर होते हैं। अतः सूत्र का स्पष्टार्थ यह है कि चौथे और पाँचवें अध्याय में जिन प्रत्ययों का विधान किया गया है, वे ङी-प्रत्ययान्त (जिसके अन्त में ङीप्, ङीप् या ङीन् हो), आप्-प्रत्ययान्त (जिसके अन्त में टाप्, चाष् या डाप् हो) और प्रातिपदिक (अर्थवान् शब्द, कृदन्त, तद्धित-युक्त या समास) से परे होते हैं।

६. स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्-ङेभ्याम्भ्यस्-ङसिभ्याम्भ्यस्-ङसोसाम्-ङ्योः-स्सुप् ।४।१।२

वृत्ति—ङ्यन्तादाबन्तात्प्रातिपदिकाच्च परे स्वादयः प्रत्ययाः स्युः।

शब्दार्थ—सूत्र का पदच्छेद है—सु + औ + जस्, अम् + औट् + शस्, टा + भ्याम् + भिस्, ङे + भ्याम् + भ्यस्, ङसि + भ्याम् + भ्यस्, ङस् + ओस् + आम्, ङि + ओस् + सुप्। (स्वौजस्—सुप्) सु, औ, जस्, अम्, औट्, शस्, टा, भ्याम्, भिस्, ङे, भ्याम्, भ्यस्, ङस्, ओस्, आम्, ङि, ओस् और सुप् होते हैं, किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए '११८-प्रत्ययः', '११९-परश्च' और '१२०-ङ्याप्-०'—इन तीन अधिकार-सूत्रों की अनुवृत्ति करनी होगी।

भावार्थ—ङी-प्रत्ययान्त, आप्-प्रत्ययान्त और प्रातिपदिक से परे सु, औ, जस्, अम्, औट्, शस्, टा, भ्याम्, भिस्, ङे, भ्याम्, भ्यस्, ङसि, भ्याम्, भ्यस्, ङस्, ओस्, आम्, ङि, ओस् और सुप्—ये इक्कीस प्रत्यय होते हैं। इन इक्कीस प्रत्ययों के सात त्रिक (तीन-तीन के समूह) बनते हैं—(१) सु, औ, जस् (इसे 'प्रथमा' कहते हैं)। (२) अम्, औट्, शस् (इसे 'द्वितीया' कहते हैं)। (३) टा, भ्याम्, भिस् (इसे 'तृतीया' कहते हैं)। (४) ङे, भ्याम्, भ्यस् (इसे 'चतुर्थी' कहते हैं)। (५) ङसि, भ्याम्, भ्यस् (इसे 'पञ्चमी' कहते हैं)। (६) ङस्, ओस्, आम् (इसे 'षष्ठी' कहते हैं)। (७) ङि, ओस्, सुप् (इसे 'सप्तमी' कहते हैं)।

७. सुपः ।१।४।१०३

वृत्ति—सुपस्त्रीणि त्रीणि वचनान्येकश एकवचन-द्विवचन-बहुवचनसञ्ज्ञानि स्युः।

शब्दार्थ—यह संज्ञा सूत्र है—(सुपः) सुप् के.....। किन्तु होता क्या है? इसका पता सूत्र से नहीं चलता। उसके स्पष्टीकरण के लिए 'तिङस्त्रीणि त्रीणि-०' १.४.१०१ से 'त्रीणि त्रीणि' तथा 'तान्येकवचन-

०' से 'एकवचनद्विवचनबहुवचनानि' और 'एकशः' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'सुप्' प्रत्याहार है और उसके अन्तर्गत '१२१-स्वौजस्-०' में आये हुए सु, औ, जस् आदि इक्कीस प्रत्यय आते हैं।

भावार्थ—सुप् (सु, औ, जस्-आदि इक्कीस प्रत्ययों) के (त्रीणि त्रीणि) त्रिकों के प्रत्येक त्रिक की (एकशः) क्रमशः (एकवचन-द्विवचन-बहुवचनानि) एकवचन, द्विवचन और बहुवचन-संज्ञा होती है। सुप्-प्रत्याहार के सात त्रिक होते हैं और प्रत्येक त्रिक में तीन वचन। प्रकृतसूत्र से इन त्रिकों के तीन वचनों की क्रमशः एकवचन, द्विवचन और बहुवचन संज्ञा होती है।

उदाहरणार्थ—प्रथम त्रिक में सु और जस्—ये तीन वचन हैं। प्रकृतसूत्र से यहाँ 'सु' की एकवचन, 'औ' की द्विवचन औ 'जस्' की बहुवचन संज्ञा होती है। अन्य त्रिकों के विषय में ऐसा ही समझना चाहिये।

सम्पूर्ण त्रिकों का वचनबोधक चक्र 'सु' का उकार, 'ङसि' का इकार, 'जस्' का जकार, 'शस्' का शकार, 'औट्' और 'टा' का टकार, 'ङे', 'ङसि', 'ङस्' और 'ङि' का ङकार तथा 'सुप्' का पकार इत्संज्ञक है। अतः 'तस्य लोपः' से इनका लोप हो जाता है। व्यवहार में इन इत्संज्ञक-अनुबन्धरहित प्रत्ययों का ही प्रयोग होता है।

८. द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने।१।४।२२

वृत्ति—द्वित्वैकत्वयोरेते स्तः।

शब्दार्थ—(द्व्येकयोः = द्वि + एकयोः) द्वित्व और एकत्व अर्थ में (द्विवचनैकवचने = द्विवचन + एकवचने) द्विवचन और एकवचन होते हैं। '२३-यथासंख्यम्-०' परिभाषा से द्वित्व (दो) की विवक्षा में द्विवचन और एकत्व (एक) की विवक्षा में एकवचन होगा।

उदाहरण—जब एक राम को कहना होगा, तब 'राम' शब्द से 'सु' आदि एकवचन के प्रत्यय आयेंगे और जब दो रामों का कथन इष्ट होगा तो 'राम' शब्द से द्विवचन के प्रत्यय 'औ' आदि आयेंगे।

९. विरामोऽवसानम्।१।४।११०

वृत्ति—वर्णानामभावोऽवसानसंज्ञः स्यात्।

शब्दार्थ—यह संज्ञा सूत्र है—(विरामः) विराम (अवसानम्) अवसान संज्ञक होता है। 'विराम' शब्द के दो अर्थ हैं—१. उच्चारण न होना अर्थात् किसी वर्ण से परे उच्चारण का न होना और २. वह, जिससे उच्चारण ठहरे अर्थात् वह वर्ण जिस पर आकर उच्चारण रुके।

भावार्थ—उपर्युक्त प्रथम अर्थ में उच्चार्यमाण अन्तिम वर्ण से आगे अभाव की अवसान संज्ञा होती है, किन्तु द्वितीय अर्थ में उच्चार्यमाण अन्तिम वर्ण की ही 'अवसान' संज्ञा होगी। उच्चार्यमाण अन्तिम वर्ण से आगे उच्चारणाभाव 'अवसान' संज्ञक होता है। उच्चार्यमाण अन्तिम वर्ण ही 'अवसान' संज्ञक होता है।

उदाहरण—'राम + सु' इस स्थिति में उकार-लोप और रुत्व होकर 'रामर्' रूप बनता है। यहाँ प्रथम अर्थ में रकार के पश्चात् उच्चारणाभाव की 'अवसान' संज्ञा होती है और दूसरे अर्थ में स्वतः रकार की। दोनों ही अर्थों में अवसान-संज्ञा होने पर '९३-खरवसानयोः-०' से इकार को विसर्ग हो 'रामः' रूप सिद्ध होता है। जिस पक्ष में उच्चारणाभाव की अवसान संज्ञा होगी, उस पक्ष में '९३-खरवसानयोः' में स्थित 'खरवसानयोः' का अर्थ होगा—'खर् और अवसान परे होने पर', किन्तु जिस पक्ष में अन्तिम वर्ण (यथा-रकार) की अवसार संज्ञा होगी, उस पक्ष में 'खरवसानयोः' का अर्थ होगा—'खर् परे होने पर और अवसान में वर्तमान'।

१०. सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ।१।२।६४

वृत्ति—एकविभक्तौ यानि सरूपाण्येव दृष्टानि, तेषामेक एव शिष्यते।

शब्दार्थ—(एकविभक्तौ) समान विभक्ति परे होने पर (सरूपाणाम्) समान रूप वाले शब्दों का (एकशेषः) एक रूप ही शेष रहता है।)

भावार्थ—तात्पर्य यह कि दो या दो से अधिक समान रूप वाले शब्दों के पश्चात् जब कोई समान विभक्ति आती है, तब उन समान रूप वाले शब्दों में से एक रूप ही शेष रहता है, अन्यों का लोप हो जाता है।

उदाहरण—'प्रत्यर्थं शब्द:' परिभाषा से प्रत्येक अर्थ के लिए शब्द के उच्चारण की आवश्यकता होती है। अत: यदि दो राम कहने हों तो 'राम' शब्द का उच्चारण भी दो बार होगा और इस प्रकार रूप बनेगा—'राम राम'। अब यदि यहाँ दोनों समान रूप वाले शब्दों के पश्चात् एक ही विभक्ति 'सु' आवे, तो प्रकृतसूत्र से एक ही 'राम' शेष रहता है, दूसरे का लोप हो जाता है। इसी प्रकार बहुवचन में 'राम राम राम + सु' रूप बनने पर भी एक ही 'राम' शेष रह जाता है, अन्य दो का लोप हो जाता है। 'य: शिष्यते न लुप्यमानार्थाभिधायी' प्रिभाषा से यह शेष एकरूप 'राम' प्रसङ्गानुसार दो या तीन रामों का बोधक होता है।

११. प्रथमयोः पूर्वसवर्णः ।६।१।१०२

वृत्ति—अक: प्रथमाद्वितीययोरचि पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश: स्यात्।

शब्दार्थ—(प्रथमयो:) प्रथमा विभक्तियों का.....(पूर्वसवर्ण:) पूर्वसवर्ण होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए '४२–अक:–०' से 'अक:' और 'दीर्घ:', '१५–इक:–०' से 'अचि' तथा अधिकार-सूत्र 'एक: पूर्वपरयो:' ६.१.८४ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अचि' का अन्वय सूत्रस्थ 'प्रथमयो:' से होता है। 'प्रथमयो:' से यहाँ प्रथमा और द्वितीया—इन दोनों ही विभक्तियों का ग्रहण होता है। प्रथमा विभक्ति के अन्तर्गत सु, औ, जस् और द्वितीया विभक्ति के अन्तर्गत अम्, औट्, शस् आते हैं।

भावार्थ—यदि अक् अर्थात् अ, इ, उ, ऋ, ऌ से प्रथमा या द्वितीया विभक्ति का अच् अर्थात् कोई स्वर परे हो, तो पूर्व पर के स्थान में पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश होता है। 'पूर्वसवर्णदीर्घ का अर्थ है—पूर्व वर्ण का सवर्ण दीर्घ। यहाँ पूर्ववर्ण अ, इ, उ, ऋ और ऌ हैं। इनके सवर्णदीर्घ क्रमश: आ, ई, ऊ, ॠ और ॡ ही होंगे।

उदाहरण—हरि + और–में इ + औ के स्थान में पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश

१२. नाऽऽदिचि ।६।१।१०४

वृत्ति—आदिचि न पूर्वसवर्णदीर्घ:।

शब्दार्थ—(आत्) अवर्ण से (इचि) इच् प्रत्याहार परे होने पर (न) नहीं। 'अक: सवर्णे दीर्घ:' ६.१.१०१ से 'दीर्घ:' तथा सम्पूर्ण 'एक: पूर्वपरयो:' सूत्र की अनुवृत्ति करनी पड़ेगी। इसके साथ ही साथ 'प्रथमयो: पूर्वसवर्ण:' ६.१.१०२ से 'पूर्वसवर्ण:' की अनुवृत्ति होगी।

भावार्थ—यदि अवर्ण से इच् अर्थात् इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ए, ओ, ऐ, औ में से कोई परे हो, तो पूर्व और पर के स्थान में दीर्घ एकादेश नहीं होता।

उदाहरण—'राम + औ' में 'प्रथमयो: पूर्वसवर्ण:' ६.१.१०२ से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश प्राप्त था, लेकिन अवर्ण से परे इच्– औकार होने के कारण यह सूत्र प्रवृत्त न हो सकेगा।

१३. बहुषु बहुवचनम् ।१।४।२१

वृत्ति—बहुत्वविवक्षायां बहुवचनं स्यात्।

शब्दार्थ—(बहुषु) बहुत्व में (बहुवचनम्) बहुवचन होता है।

भावार्थ—तात्पर्य यह है कि यदि दो से अधिक संख्या की विवक्षा होती है, तो बहुवचन के प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है।

उदाहरण—यदि हमें तीन रामों का कथन अभिप्रेत है, तो हमें 'राम' शब्द में बहुवचनवाची 'जस्' प्रत्यय को लगाना होगा।

१४. चुटू ।१।३।७

वृत्ति—प्रत्ययाद्यौ चुटू इतौ स्त:।

शब्दार्थ—(चुटू) चवर्ग और टवर्ग। स्पष्टत: ही यह सूत्र अपूर्ण है और इसकी व्याख्या के लिए 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' १.३.२ से 'इत्', 'आदिर्ञिटुडव:' १.३.५ से 'आदि:' तथा 'ष: प्रत्ययस्य' १.३.६ से 'प्रत्ययस्य' की अनुवृत्ति करनी पड़ेगी।

भावार्थ—प्रत्यय के आदि चवर्ग (च्, छ्, ज्, झ्, ञ्) और टवर्ग (ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्) इत्संज्ञक होते हैं। इत्संज्ञा का परिणाम लोप होता है—'तस्य लोपः' १.३.९ ।

उदाहरण—'राम + जस्' में प्रत्यय के आदि में चवर्गीय जकार है अतः उसकी इत्संज्ञा होगी। इत्संज्ञा होने पर उसका लोप होकर 'राम + अस्' रूप की प्राप्ति होगी।

१५. विभक्तिश्च ।१।४।१०४

वृत्ति—सुप्तिङौ विभक्तिसंज्ञौ स्तः ।

शब्दार्थ—यह संज्ञा सूत्र है—(च) और (विभक्तिः) विभक्ति । इसकी व्याख्या के लिए 'तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः १.४.१०१ से 'तिङ्' तथा 'सुपः' १.४.१०३ से 'सुप्' की अनुवृत्ति करनी पड़ेगी। सुप् प्रत्याहार में 'सु' से लेकर सप्तमी के बहुवचन 'सुप्' के पकार तक इक्कीस प्रत्ययों का समावेश होता है, जिनकी गणना '१२१–स्वौजस्–०' ४.१.२ सूत्र में की गई है। तिङ् प्रत्याहार में 'तिप्' से लेकर 'महिङ्' तक अठ्ठारह धातुप्रत्ययों का ग्रहण होता है।

भावार्थ—सुप् और तिङ् विभाक्ति-संज्ञक होते हैं। उदाहरणार्थ 'सु और जस्' आदि सुप् तथा 'तिप् तस् झि' आदि तिङ् विभक्तिसंज्ञक होंगे।

१६. नें विभक्तौ तस्माः ।१।३।४

वृत्ति—विभक्तिस्थास्तवर्ग-सकारमकारा नेतः । इति सत्य नेत्त्वम् । रामाः ।

शब्दार्थ—(विभक्तौ) विभक्ति में स्थित (तुस्माः) तवर्ग, सकार और मकार (न) नहीं। स्पष्टतः ही यह सूत्र अपूर्ण है और इसकी व्याख्या के लिए 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' १.३.२ से 'इत्' की अनुवृत्ति करनी होगी।

भावार्थ—विभक्ति में स्थित तवर्ग (त, थ, द, ध, न), सकार और मकार इत्संज्ञक नहीं होते हैं। उदाहरण के लिए 'राम + अस्' में 'हलन्त्यम्' १.३.३ सूत्र द्वारा अन्त्य हल्–सकार की इत्संज्ञा प्राप्त थी, किन्तु प्रकृतसूत्र से उसका निषेध हो जाता है और इस प्रकार सकार का लोप नहीं होगा।

१७. एकवचनं सम्बुद्धिः ।२।३।४९

वृत्ति—सम्बोधने प्रथमाया एकवचनं सम्बुद्धिसंज्ञं स्यात् ।

शब्दार्थ—(एकवचनं) एकवचन (सम्बुद्धिः) सम्बुद्धि-संज्ञक हो; परन्तु इससे सूत्र का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' २.३.४६ 'प्रथमा' तथा 'सम्बोधने च' २.३.४७ से 'सम्बोधने' की अनुवृत्ति करनी पड़ेगी।

भावार्थ—सम्बोधन में प्रथमा का एकवचन सम्बुद्धि-संज्ञक हो। इस सूत्र से सम्बोधन में प्रथमा के एकवचन 'सु' की सम्बुद्धि संज्ञा होगी। सम्बुद्धि संज्ञा का फल आगे ज्ञात होगा।

१८. यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् ।१।४।१३

वृत्ति—यः प्रत्ययो यस्मात् क्रियते तदादि शब्दस्वरूपं तस्मिन्नङ्गं स्यात् ।

शब्दार्थ—(यस्मात्) जिससे (प्रत्ययविधिः) प्रत्यय का विधान हो (तदादि) उसका आदि (प्रत्यये) प्रत्यय परे होने पर (अङ्गम्) अङ्ग-संज्ञक हो। यहाँ 'तदादि' संविज्ञान बहुव्रीहि समास है। इसका अर्थ है—'तत् प्रकृतिभूतं आदिर्यस्य शब्दस्वरूपस्य तत् तदादि' अर्थात् जिस शब्दस्वरूप के आदि में प्रकृति हो, उसे 'तदादि' कहते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकृति से प्रत्यय का विधान हो, वह प्रकृति जिस शब्दस्वरूप के आदि में है, ऐसा प्रकृतिसहित शब्दस्वरूप प्रत्यय के परे होने पर अङ्ग-संज्ञक होता है। उदाहरण के लिए 'भू' धातु से परे विहित लट् के स्थान पर 'मिप्' प्रत्यय करने पर 'भू + मिप्' बना। पुनः 'भू' धातु से परे 'शप्' प्रत्यय किया तो 'भू + शप् + मिप्' हुआ। शकार तथा दो पकारों का लोप करने से 'भू + अ + मि' बनेगा। इस अवस्था में 'भू + अ' की मिप् (मि) प्रत्यय परे होने पर 'अङ्ग' संज्ञा हुई। जहाँ पर केवलमात्र प्रकृति ही होगी, उसके आगे तथा प्रत्यय से पूर्व अन्य कोई न होगा, वहाँ व्यपदेशिवद्भाव से 'तदादि' केवल प्रकृति का ही बोधक होगा।

उदाहरण—'राम + सु' में प्रकृति 'राम' और प्रत्यय 'सु' के बीच में अन्य कोई प्रत्यय नहीं है, अत: 'राम' की ही 'अङ्ग' संज्ञा होगी।

१९. एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः ।६।१।६९

वृत्ति—एङन्ताद् ह्रस्वान्ताच्चाङ्गाद् हल् लुप्यते सम्बुद्धेश्चेत्। हे राम। हे रामौ। हे रामा:।

शब्दार्थ—(एङ्ह्रस्वात्) एङ् अर्थात् ए ओ तथा ह्रस्व से (सम्बुद्धे:) सम्बुद्धि का। किन्तु इससे सूत्र का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'लोपो व्योर्वलि' ६.१.६६ से 'लोप:' तथा 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' ६.१.६८ से 'हल्' की अनुवृत्ति करनी पड़ेगी और इस प्रकार अर्थ होगा—ए, ओ तथा ह्रस्व से परे सम्बुद्धि के हल् (व्यञ्जन) का लोप हो जाता है, किन्तु ऐसा कहने से 'कतरद्' की रूपसिद्धि में बाधा पड़ती हैं। अत: सूत्र को व्यापक बनाने के लिए 'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्' १.४.१३ से 'अङ्गम्' की अनुवृत्ति करनी होगी जो 'एङ्ह्रस्वात्' का विशेष्य बनेगा।

भावार्थ—एङन्त (जिसके अन्त में ए या ओ हो) और ह्रस्वान्त अङ्ग से परे हल सम्बुद्धि का लोप हो।

उदाहरण—'राम + स्' में ह्रस्वान्त अङ्ग 'राम' से परे सम्बुद्धि को हल् सकार है, अत: उसका लोप हो गया। इसी प्रकार एङन्त अङ्ग के उदाहरण 'हरे + स्' और 'विष्णो + स्' हैं जिनके सम्बुद्धि के हल्-सकार का लोप हो जाने पर क्रमश: 'हरे' और 'विष्णो' रूप बनते हैं॥

२०. अमि पूर्वः ।६।१।१०७

वृत्ति—(अमि) अम् अर्थात् द्वितीया विभक्ति के एकवचन का प्रत्यय परे होने पर (पूर्व:) पूर्व हो। स्पष्ट ही यह सूत्र अपूर्ण है और इसकी व्याख्या के लिए 'इको यणचि' ६.१.७७ से 'अचि', 'अक: सवर्णे दीर्घ:' ६.१.१०१ से 'अक:' तथा सम्पूर्ण 'एक: पूर्वपरयो:' ६.१.७४ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी।

भावार्थ—यदि अ, इ, उ, ऋ, ऌ (अक्) से परे अम् का अच् (कोई स्वर) हो, तो पूर्वपर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है।

उदाहरण—'राम + अम्' में अक्-अकार से परे अम् का अच् अकार है, अत: पूर्वरूप आदेश होकर 'रामम्' रूप बनेगा।

२१. लशक्वतद्धिते ।१।३।८

वृत्ति—तद्धितवर्जप्रत्ययाद्या ल-श-कवर्गा इत: स्यु:।

शब्दार्थ—(लशकु) लकार, शकार और गवर्ग (अतद्धिते) तद्धितभिन्न के, किन्तु इससे सूत्र का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। इसकी व्याख्या के लिए 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' १.३.२ से 'इत्', 'आदिर्ञिटुडव:' १.३.५ से 'आदि:' तथा 'प: प्रत्ययस्य' १.३.६ से 'प्रत्ययस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी।

भावार्थ—तद्धितभिन्न प्रत्यय के आदि लकार, शकार अथवा कवर्ग (क्, ख्, ग्, घ्, ङ्) की इत्संज्ञा होगी। तद्धित प्रत्यय के निषेध होने से कप्, लच् आदि में इत्संज्ञा नहीं होगी।

२२. तस्माच्छसो नः पुंसि ।६।१।१०३

वृत्ति—पूर्वसवर्णदीर्घात् परो य: शस: सस्तस्य न: स्यात् पुंसि।

शब्दार्थ—(तस्मात्) उससे पर (शस:) शस् के स्थान पर (न:) नकार हो, (पुंसि) पुँल्लिङ्ग में। यह सूत्र 'प्रथमयो: पूर्वसवर्ण:' ६.१.१०२ के प्रकारण में आया है और इसका 'तस्मात्' पद पूर्वसवर्ण की ओर सङ्केत करता है। अत: 'तस्मात्' का अर्थ होगा—'पूर्वसवर्णदीर्घात्'। 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से नकार आदेश शत् के अन्त्य अल्-सकार को ही होगा। इस प्रकार सम्पूर्ण सूत्र का अर्थ है—पूर्वसवर्णदीर्घ से परे शस् के सकार कों नकार आदेश होता है।

उदाहरण—'रामास्' में पूर्वसवर्णदीर्घ मकारोत्तरवर्ती आकार है, अत: इससे पर शस् के सकार को नकार होकर 'रामान्' रूप बनेगा।

२३. अट्-कु-प्वाङ्-नुम्-व्यवायेऽपि ।८।४।२

वृत्ति—अट् कवर्गः पवर्ग आङ् नुम् एतैर्व्यस्तैर्यथासम्भवं मिलितैश्च व्यवधानेऽपि रषाभ्यां परस्य नस्य णः समानपदे। इति प्राप्ते—

शब्दार्थ—(अट्-कु-प्वाङ्-नुम्-व्यवाये) अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ् और नुम् के व्यवधान होने पर (अपि) भी। स्पष्ट ही यह सूत्र अपूर्ण है। इसकी व्याख्या के लिए सम्पूर्ण 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' ८.४.१ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी। अट् प्रत्याहार में अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र् का समावेश होता है।

भावार्थ—अट् प्रत्याहार, कवर्ग, आङ् और नुम्—इनसे व्यवधान होने पर भी रकार या षकार से परे नकार को णकार हो, समान अर्थात् अखण्ड पर में। यह व्यवधान अट् आदि का पृथक्-पृथक् अथवा दो-तीन आदि का एक साथ भी हो सकता है। पूर्व सूत्र में व्यवधानरहित नकार को णत्व का विधान किया गया था, अतः व्यवधानसहित नकार के णत्व-विधान के लिए इस सूत्र की आवश्यकता हुई।

२४. पदान्तस्य।८।४।३७

वृत्ति—नस्य णो न। रामान्।

शब्दार्थ—(पदान्तस्य) पदान्त के। इसकी व्याख्या के लिए सम्पूर्ण 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' ८.४.१ तथा 'न भाभूपूकमिगमिप्यायीवेषाम्' ८.४.३४ में से 'न' अव्ययपद की अनुवृत्ति करनी होगी।

भावार्थ—रकार और षकार से परे पदान्त नकार को णकार न हो। उदाहरण के लिए 'रामान्' सुबन्त होने के कारण 'सुतिङन्तं पदम्' १.१.१४ परिभाषा से पदसंज्ञक होगा। नकार अन्त में होने के कारण पदान्त है। अतः प्रस्तुत सूत्र से नकार को णकार न होकर नकार ही रहेगा और रूप बनेगा—'रामान्'।

२५. टा-ङसि-ङसामिनात्स्याः ७।१।१२

वृत्ति—अदन्तात् टादीनामिनादयः स्युः। णत्वम्–रामेण।

शब्दार्थ—(टा-ङसि-ङसाम्) टा, ङसि, ङस् के स्थान पर (इनात्स्याः) इन, आत् और स्य आदेश हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अतो भिस् ऐस्' ७.१.९ से 'अत्' की अनुवृत्ति करनी होगी। यहाँ 'अङ्गस्य' अधिकृत है जिसका विभक्तिपरिणाम 'अङ्गात्' का विशेषण होने से 'अतः' में तदन्तविधि हो जाती है—'अदन्ताद् अङ्गात्'।

भावार्थ—अदन्त अङ्ग से परे टा, ङसि और ङस् के स्थान पर 'इन', 'आत्' और 'स्य' हों। 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' १.३.१० परिभाषा से टा के स्थान पर इन, ङसि के स्थान पर आत् और ङस् के स्थान पर 'स्य' होगा। जिस अङ्ग के अन्त में ह्रस्व अकार हो।

२६. सुपि च।७।३।१०२

वृत्ति—यञादौ सुपि अतोऽङ्गस्य दीर्घः। रामाभ्याम्।

शब्दार्थ—(च) और (सुपि) सुप् परे होने पर। स्पष्टतः ही यह सूत्र अपूर्ण है और इसकी व्याख्या के लिये सम्पूर्ण 'अतो दीर्घो यञि' ७.३.१०१ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होती। 'यञि' पद 'सुपि' का विशेषण है और अल् है, इसलिए इससे तदादि विधि होकर 'यञादौ सुपि' बन जावेगा। 'अङ्गस्य' यहाँ भी अधिकृत है।

भावार्थ—यञादि (यञ् आदि में हो जिसके) सुप् प्रत्यय परे रहते अदन्त अङ्ग को दीर्घ होता है। 'यञ्' प्रत्याहार में य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, न्, ङ्, ण्, झ् और भ् तथा 'सुप्' में सु, औ आदि २१ प्रत्ययों का ग्रहण होता है। वस्तुतः यञादि सुप् तीन ही हैं-भ्याम्, भ्यस् और भिस्। 'ङे' से स्थान पर आदेश हुआ 'य' भी यञादि सुप् होता है। इसमें से 'भिस्' के स्थान पर 'ऐस्' (सूत्र १४२) और 'भ्यस्' परे होने पर एकारादेश (सूत्र १४५) हो जाता है। अतः केवल 'भ्याम्' और 'ङे' के स्थान पर आदेशित 'य' परे होने पर ही अकारान्त अङ्ग को दीर्घ (आ) होता है।

२७. अतो भिस ऐस्।७।१।९

वृत्ति—अनेकाल् शित्सर्वस्य'। रामैः।

शब्दार्थ—यह सूत्र भी अङ्गाधिकार में आया है। इस प्रकार सूत्र का अर्थ है—(अतः) अत् अर्थात्

अदन्त अङ्ग से परे (भिस:) भिस् के स्थान पर (ऐस्) ऐस् आदेश हो। अनेकाल् होने के कारण यह आदेश '४५–अनेकाल् शित्सर्वस्य' १.१.५५ परिभाषा से सम्पूर्ण 'भिस्' के स्थान पर आदेशित होगा।

उदाहरण—तृतीया बहुवचन की विवक्षा में 'राम + भिस्' इस अवस्था में सम्पूर्ण भिस् के स्थान पर ऐस् आदेश होकर 'राम + ऐस्' रूप बनेगा।

२८. ङेर्यः ।७।१।१३

वृत्ति—अतोऽङ्गात् परस्य ङेर्यादेशः।

शब्दार्थ—(ङेः) ङे के स्थान पर (यः) य हो। 'अतो भिस ऐस्' ७.१.९ से 'अतः' की अनुवृत्ति करनी पड़ेगी। यह सूत्र भी अङ्गाधिकार में आया है, अतः 'अत्' से अदन्त अङ्ग का ही ग्रहण होगा।

भावार्थ—अदन्त अङ्ग से परे ङे (चतुर्थी एकवचन) के स्थान पर 'य' आदेश हो। ध्यान रहे कि 'य' आदेश सस्वर है।

उदाहरण—'राम + ङे' में अदन्त अङ्ग से परे ङे के स्थान पर 'य' होकर 'राम + य' रूप बनेगा।

२९. स्थानवदादेशोऽनल्विधौ ।१।१।५६

वृत्ति—आदेशः स्थानिवत् स्यात्, न तु स्थान्यलाश्रयविधौ। इति स्थानिवत्त्वात् '१४१–सुपि च' ७.३.१०२ इति दीर्घः। रामाय। रामाभ्याम्।

शब्दार्थ—(आदेशः) आदेश (स्थानिवत्) स्थानिवत् होता है, यदि वह (अनल्-विधौ) अल्विधि में न हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए हमें स्थानी, आदेश, स्थानिवत् और अनल्विधि का अर्थ जानना आवश्यक है—

स्थानी—जिसके स्थान पर कुछ विधान किया जाता है उसे 'स्थानी' कहते है। उदाहरण के लिए 'ङेर्यः' ७.१.१३ में ङे के स्थान पर 'य' का विधान किया गया है, अतः 'ङे' स्थानी है।

आदेश—जो स्थानी के स्थान पर किया जाता है, उसे 'आदेश' कहते हैं। उदाहरणार्थ 'ङेर्यः' सूत्र में 'ङे' स्थानी के स्थान पर 'य' का विधान किया गया है, अतः 'य' आदेश होगा।

स्थानिवत्—इसका तात्पर्य यह है कि जो धर्म स्थानी में हो, वह आदेश में भी रहे या समझा जावे। उदाहरण के लिए 'राम + ङे' के 'ङे' में सुप्त्व धर्म है, अतः उसके स्थान पर आदेशित 'य' में भी सुप्त्व धर्म होगा।

अनल्विधि—इसका अर्थ है कि अलाश्रय विधि में आदेश स्थानिधर्मक नहीं होता। अल् प्रत्याहार में सभी वर्ण आ जाते हैं। अतः एक वर्ण का जहाँ पर आश्रयण होगा, उस विधि के करने में आदेश स्थानिवत् नहीं होगा। समास-विग्रह के अनुसार इस विधि के चार रूप हो सकते हैं—

१. अला विधिः इति अल्विधिः, तृतीयातत्पुरुषः। तात्पर्य यह कि स्थानी अल् के द्वारा कोई विधि करनी हो तो आदेश स्थानिवत् नहीं होता। उदाहरण के लिए 'व्यूढोरस्केन' में विसर्ग के स्थान पर सकार हुआ है और विसर्ग को अट् माना गया है। अतः यदि आदेश को स्थानिवत् माना जावे, तो '१३८–अट्कु–०' ८.४.२ से अन्त्य नकार को णकार होकर 'व्यूढोरस्केण' रूप बनेगा जो कि अभीष्ट नहीं है।

२. अलः (परस्य) विधिः, इति पञ्चमीतत्पुरुषः। अर्थात् स्थानी अल् से परे कोई विधि हो, तो आदेश स्थानिवत् नहीं होता है। उदाहरण के लिए 'दिव्' शब्द से 'सु' विभक्ति परे होने पर 'दिव औत्' ७.१.८४ से वकार के स्थान पर औकार आदेश होकर 'दि और स्' रूप बनेगा। फि 'इको यणचि' ६.१.७७ से यणादेश होकर 'द्यौस्' की दशा में यदि स्थानिवद्भाव से औकार में स्थानी वकार का धर्म हल्वत मान लिया जावे, तो '१७९–हल्ङ्याब्भ्यो दिर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' ६.१.६८ से सकार का लोप प्राप्त होता है जो कि अभिप्रेत नहीं है।

३. अलि (परे) विधिः, इति सप्तमीतत्पुरुषः। स्थानी अल् के परे होने पर यदि उससे पूर्व कोई विधि करनी हो, तो आदेश स्थानिवत् नहीं होगा। उदाहरण के लिए 'कर् + इष्टः' में यदि 'इष्ट' के इकार आदेश को स्थानिवत् अर्थात् यकारवत् हश् प्रत्याहार के अन्तर्गत मानें तो 'हशि च' ६.१.११४ से रकार के स्थान पर उत्व प्राप्त होता है जो अनिष्ठ है। यहाँ स्थानी अल्–यकार है, उसके परे होने पर उससे परे रकार को उत्व प्राप्त होता है, अतः आदेश (इ) स्थानिवत् (यकारवत्) नहीं होगा।

४. अल: (स्थाने) विधि: इति षष्ठीत्पुरुष: । अर्थात् स्थानी अल् के स्थान पर यदि कोई विधि करनी हो, तो आदेश स्थानिवत् नहीं होगा । उदाहरण के लिए 'द्युकाम:' में 'दिव उत्' ६.१.१३१ से वकार के स्थान पर उकार हुआ है । यदि 'उ' को स्थान (वकार)वत् माना जावे, तो वकार के वल् प्रत्याहार में होने के कारण 'लोपो व्योर्वलि' ६.१.६६ से उसका लोप प्राप्त होता है कि अल्–विधि को छोड़कर अन्य स्थानों पर आदेश स्थानि-धर्मक होगा ।

३०. बहुवचने झल्येत् ।७।३।१०३

वृत्ति—झलादौ बहुवचने सुपि अतोऽङ्गस्यैकार: । रामेभ्य: । सुपि किं पचध्वम् ।

शब्दार्थ—(बहुवचने) बहुवचन में (झलि) झल् प्रत्याहार परे होने पर (एत्) या एकार आदेश हो । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अतो दीर्घो यञि' ७.३.१०१ से 'अत:', '१४१–सुपि च' से 'सुपि' और अधिकार-सूत्र 'अङ्गस्य' ६.४.१ की अनुवृत्ति करनी होगी । 'अत:' षष्ठ्यन्त में विपरिणत हो 'अङ्गस्य' का विशेषण बनता है । विशेषण होने से तदन्त-विधि होती है । 'सुपि' का विशेषण होने के कारण 'झलि' से 'यस्मिन्विधिस्तदा-दावल्ग्रहणे' परिभाषा द्वारा तदादि विधि का ग्रहण होगा–झलादि सुप् ।

भावार्थ—झलादि (जिसके आदि में झल् हो) बहुवचन सुप् परे होने पर अदन्त अङ्ग के स्थान पर एकार आदेश हो । 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से यह आदेश अदन्त अङ्ग के अन्त्य वर्ण को ही होगा । झल् प्रत्याहार में सभी वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्ण तथा श, ष, स, ह का समावेश होता है । अत: यदि इनमें से कोई भी वर्ण सुप् प्रत्याहार के बहुवचन के आदि में होगा, तो अदन्त अङ्ग के अन्त्य को एकार हो जावेगा ।

उदाहरण—'राम + भ्यस्' में झल्–भकारादि सुप् परे होने पर अन्त्य अकार को एकार होकर 'रामेभ्यस्' रूप बनेगा । फिर रुत्व और विसर्ग होकर 'रामेभ्य:' रूप सिद्ध होगा ।

३१. वाऽवसाने ।८।४।५६

वृत्ति—अवसाने झलां चरो वा । रामात्, रामाद् । रामाभ्याम् । रामेभ्य: । रामस्य ।

शब्दार्थ—(वा) विकल्पत: (अवसाने) अवसान में । स्पष्ट ही यह सूत्र अपूर्व है । इसकी व्याख्या के लिए 'झलां जश् झशि' ८.४.५३ से 'झलां' तथा 'अभ्यासे चर्च' ८.४.५४ से 'चर्' की अनुवृत्ति करनी पड़ेगी ।

भावार्थ—अवसान में झलों को विकल्प से चर् हों । झल् प्रत्याहार में सभी वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ वर्ण और श्, ष्, स्, ह् का समावेश होता है । चर् प्रत्याहार में सभी वर्गों के प्रथम वर्ण तथा श्, ष्, स् का समावेश होता है । अत: यदि अवसान में किसी वर्ग का प्रथम, द्वितीय, तृतीय या चतुर्थ वर्ण या श्, ष्, स्, ह् में से कोई वर्ण हो, तो उसके स्थान पर सवर्ण वर्ग का प्रथम वर्ण अथवा श्, ष्, स् विकल्प से आदेश होगा ।

उदाहरण—'रामाद्' में दकार को तकार होकर विकल्प से 'रामात्' रूप बनेगा । दूसरे पक्ष में 'रामाद्' ही रहेगा ।

३२. ओसि च ।७।३।१०४

वृत्ति—अतोऽङ्गस्यैकार: । रामयो: ।

शब्दार्थ—(च) और (ओसि) 'ओस्' परे रहने पर । इसकी व्याख्या के लिए 'अतो दीर्घो यञि' ७.३.१०१ से 'अत:' तथा 'बहुवचने झल्येत्' ७.३.१०३ से 'एत्' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'अङ्गत्य' का विशेषण होने से 'अत्' से तदन्तविधि हो जाती है ।

भावार्थ—ओस् परे होने पर अदन्त अङ्ग के स्थान पर एकार आदेश हो । 'अलोऽ-न्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से यह आदेश अङ्ग के अन्त्य वर्ण को ही होगा ।

उदाहरण—'रामे + ओस्' रूप बनेगा । तब अयादेश और रुत्व-विसर्ग होकर 'रामयो:' रूप सिद्ध होगा ।

३३. ह्रस्वनद्यापो नुट् ।७।१।५४

वृत्ति—ह्रस्वान्ताद् नद्यन्ताद् आबन्ताच्चाङ्गात् परस्यामो नुडागम: ।

शब्दार्थ—(ह्रस्वनद्यापः) ह्रत्व, नदी और आप् के बाद (नुट्) नुट् आगम हो, किन्तु इससे सूत्र का अर्थ स्पष्ट नहीं होता है। इसके लिए 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' ७.१.५२ से 'आमि' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अङ्गस्य' यहाँ भी अधिकृत है अतः ह्रस्व आदि से तदन्त अङ्ग का ग्रहण होगा। 'नदी' एक पारिभाषिक शब्द है। दीर्घ ईकारान्त और ऊकारान्त नित्य स्त्रीलिङ्ग शब्द नदीसंज्ञक होते हैं—'यू स्त्र्याख्यौ नदी' १.४.३।

भावार्थ—ह्रस्वान्त, नद्यन्त (जिसके अन्त में दीर्घ ईकारान्त और ऊकारान्त नित्य स्त्रीलिङ्ग शब्द हों) तथा आवन्त (जिसके अन्त में टाप्, चाप् और डाप्—ये तीन स्त्रीबोधक प्रत्यय हो) अङ्ग से परे आम् को नुट् का आगम होता है। नुट् में टकार इत्संज्ञक है, अतः टित् होने के करण '८४–आद्यन्तौ टकितौ' १.१.४६ परिभाषा से 'आम्' का आद्यवयव होगा। 'नुट्' में टकार तो इत्संज्ञक है ही, उकार भी उच्चारणार्थक है; अतः नकार ही शेष रहता है।

उदाहरण—'राम + आम्' में ह्रस्वान्त अङ्ग से 'आम्' परे होने के कारण नुडागम होकर 'राम + नाम्' रूप बनता है। अद्यन्त अङ्ग का उदाहरण 'बहुश्रेयसीनाम्' में मिलता है। 'बहुश्रेयसी' शब्द की 'यू स्त्राख्यौ नदी' १.४.३ से नदी संज्ञा होती है अतः यह नद्यन्त है। इसी प्रकार आबन्त का उदाहरण 'रमाणाम्' में मिलता है। यहाँ 'रमा' शब्द में 'अजाद्यतष्टाप्' ४.१.४ से टाप् प्रत्यय हुआ है, अतः आबन्त है। इसीलिए इनसे परे भी 'आम्' को 'नुट्' आगम हो गया है।

३४. नॉमि ।६।४।३

वृत्ति—(नामि परे) अजन्ताङ्गस्य दीर्घः। रामाणाम्। रामे। रामयोः। एत्त्वे कृते—

शब्दार्थ—(नामि) नाम् के परे होने पर। इसकी व्याख्या के लिए 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' ६.३.१११ से 'दीर्घः' तथा सम्पूर्ण अधिकारसूक्त अङ्गस्य' ६.४.१ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अचश्च' १.२.२८ परिभाषा द्वारा 'अचः' पद आकर 'अङ्गस्य' का विशेषण बनता है।

भावार्थ—अजन्त अङ्ग (जिसके अन्त में कोई स्वर हो) को 'नाम्' परे होने-पर दीर्घ होता है।

उदाहरण—'राम + नाम्' में 'नाम्' परे होने के कारण अजन्त अङ्ग 'राम' के अकार को दीर्घ होकर 'राम + नाम्' रूप बनेगा। फिर '१३८–अट्कु–०' ८.४.२ से नकार को णकार होकर 'रामाणाम्' रूप सिद्ध होगा।

३५. आदेशप्रत्ययोः ।८।३।५९

वृत्ति—इणकुभ्यां परस्यापदान्तस्य आदेशः प्रत्ययावयवश्च यः सस्तस्य मूर्धन्यादेशः। ईषद्विवृतस्य सस्य तादृश एव षः। रामेषु)।

शब्दार्थ—(आदेशप्रत्ययोः) आदेश और प्रत्यय के। स्पष्ट ही इससे सूत्र का भावार्थ ज्ञात नहीं होता। इसकी व्याख्या के लिए 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' ८.३.५५, 'सहेः साडः सः' ८.३.५६ से 'सः' की, तथा सम्पूर्ण 'इण्कोः' ८.३.५७ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी। 'आदेशप्रत्ययोः' में 'आदेश' के साथ अभेदात्मिका षष्ठी और 'प्रत्यय' के साथ अवयवषष्ठी है। इसी से 'प्रत्ययस्य' का अर्थ यहाँ 'प्रत्यय का अवयव' होगा।

भावार्थ—इण् प्रत्याहार और कवर्ग से पर अपदान्त आदेशरूप और प्रत्ययावयव सकार के स्थान पर मूर्धास्थानीय वर्ण आदेश होता है। मूर्धन्य वर्णों में केवल 'ष' ही इस प्रकार के यत्नवला है अतः सकार के स्थान पर षकार ही मूर्धन्य आदेश होगा।

उदाहरण—'रामे + सु' में मकारोत्तरवर्ती एकार-इण् के परे अपदान्त प्रत्ययावयव सकार है। अतः उसके स्थान पर षकार होकर 'रामेष' रूप सिद्ध होगा। आदेश रूप सकार के स्थान पर षकार-आदेश के उदाहरण 'सुष्वाप' (वह सोया) और 'सिषेवे' (उसने सेवा की) आदि में मिलते है। षत्व-विधान के लिए दो बातें आवश्यक हैं—१. सकार को इण् प्रत्याहार या कवर्ग या कवर्ग से परे होना चाहिये और २. सकार को अपदान्त होना चाहिंये।

१.२.२ 'राम' शब्दरूपसिद्धि

शब्द–राम

प्रथमा विभक्ति एकवचन

(रामः)

'राम' शब्द का प्रथमा विभक्ति एकवचन में रूप बनाने के लिए अर्थवदधातुरप्रत्ययः

अर्थवद् अधातुर् अप्रत्ययः प्रातिपदिकम्–सूत्रानुसार राम शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा हुई।

ङ्याप्प्रातिपदिकात्, परश्च, प्रत्ययः–इन तीनों सूत्राकें के अधिकार से

स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिस्ङेभ्यांभ्यस्ङसिभ्यांभ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्–सूत्र में वर्णित प्रथमा के तीनों प्रत्ययों की प्राप्ति होती है। ऐसी स्थिति में–

सुपः–सूत्र द्वारा एकवचन, द्विवचन, बहुवचन संज्ञा को प्राप्त सु, औ, जस् में से

द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने–सूत्रानुसार एक की विवक्षा में

एकवचन संज्ञक सुप् सु आया—**राम + सु**।

उपदेशेऽजनुनासिक इत्–सूत्रानुसार सु के उ् की उत् संज्ञा हुई

तस्य लोः–सूत्रानुसार इत् संज्ञक वर्ण उ् का लोप हुआ—

राम + स्

ससजुषरुः–सूत्रानुसार पदान्त सकार को रु आदेश होकर—**राम + रु**।

दपदेशेऽजनुनासिक इत्–सूत्रानुसार रु के उ् की इत् संज्ञा हुई

तस्य लोपः–सूत्रानुसार इत् संज्ञक वर्ण उ् का लोप होकर—**राम + र्**।

विरामोऽवसानम्–सूत्रानुसार अन्तिम वर्ण र् की अवसान संज्ञा हुई।

खरवसानयोर्विसर्जनीयः–सूत्रानुसार पदान्त रकार को विसर्ग होकर रूप बना—

'रामः'।

द्विवचन

(रामौ)

'राम' शब्द का प्रथमा विभक्ति द्विवचन में रूप बनाने के लिए दो बार 'राम' शब्द प्राप्त होता है—**राम राम**।

सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ–सूत्र के अनुसार एक 'राम' शब्द शेष रहता है।

अर्थवद् अधातुर अप्रत्ययः प्रातिपदिकम्–सूत्रानुसार राम शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा हुई

ङ्यापप्रातिपदिकात्, परश्च, प्रत्ययः–इन तीनों सूत्रों के अधिकार के साथ

स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिस्ङेभ्यांभ्यस्ङसिभ्यांभ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्–सूत्र से सु आदि सातों विभक्ति के प्रत्ययों की उत्पत्ति हुई।

सुपः–सूत्रानुसार सुप् प्रत्याहार के तीन-तीन वचन क्रम से एकवचन, द्विवचन और बहुवचन संज्ञा वाले हों।

द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने–सूत्रानुसार दो की विवक्षा में सुप् प्रत्याहार का औ आया—**राम + औ**।

वृद्धि रेचि–सूत्रानुसार वृद्धि एकादेश प्राप्त हुआ। पुनः

प्रथमयोः पूर्वसवर्णः–सूत्रानुसार अक् से परे प्रथमा का अच् होने पर पूर्व सवर्ण दीर्घ एकादेश की प्राप्ति हुई।

नॉऽऽदिचि–सूत्रानुसार अवर्ण से इच् परे रहने पर पूर्व सवर्ण दीर्घ एकादेश का निषेध होकर

वृद्धि रेचि से–सूत्रानुसार वृद्धि एकादेश होकर रूप बना—**'रामौ'** ।

बहुवचन

(रामाः)

अर्थवद् अधातुर अप्रत्ययः प्रातिपदिकम्–सूत्रानुसार अर्थवान सार्थक शब्द संज्ञा की प्रातिपदिक संज्ञा हुई

ङ्याप्प्रातिपदिकात्, परश्चँ, प्रत्ययः–इन तीनों सूत्रों के अधिकार के साथ

स्वौजसमौट्छ्टाभ्यांभिस्ङेभ्यांभ्यस्ङसिभ्यांभ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्–सूत्र से सु आदि सातों विभक्ति के प्रत्ययों की उत्पत्ति हुई

सुपः–सूत्रानुसार सुप् प्रत्याहार के तीन तीन वचन क्रम से एकवचन, द्विवचन, बहुवचन संज्ञा वाल हो

बहुषु बहुवचनम्–सूत्रानुसार बहुत की विवक्षा में बहुवचन सूप् प्रत्यय का जस् आया—**राम + जस्** ।

चुट्–सूत्रानुसार प्रत्यय के आदि वर्ण ज् की इत् संज्ञा हुई—

तस्य लोपः–सूत्रानुसार झ् संज्ञक वर्ण ज् का लोप होकर—**राम + अस्** ।

अकः सवर्णे दीर्घः–सूत्रानुसार अक् से सवर्ण अच् परे रहते दीर्घ एकादेश प्राप्त हुआ, उसे रोककर—

अतो गुणे–सूत्रानुसार पररूप आदेश प्राप्त हुआ उसे रोककर—

प्रथमयोः पूर्वसवर्णः–सूत्रानुसार अक् से परे प्रथमा विभक्ति का अच् होने से पूर्व सवर्ण दीर्घ एकादेश हुआ—**रामास्** ।

हलन्त्यम्–सूत्रानुसार स् की इत्–संज्ञा प्राप्त हुई; लेकिन उसका निषेध होकर—

विभक्तिश्च–सूत्रानुसार सुप् की विभक्ति संज्ञा हुई तथा

न विभक्तौ तुस्माः–सूत्रानुसार विभक्ति में स्थित सकार की इत् संज्ञा का निषेध होने पर (स् को रुत्व विसर्ग होकर)—**'रामाः'** ।

ससजुषोरुः–सूत्रानुसार सकार के स्थान पर रु आदेश होकर—**राम + रु** ।

उपदेशेऽजनुनासिक इत्–सूत्रानुसार रु के उ् की इत् संज्ञा हुई

तस्य लोपः–सूत्रानुसार इत् संज्ञक वर्ण उ् का लोप हुआ—**रामा + र्** ।

विरामोऽवसानम्–सूत्रानुसार अन्तिम वर्ण र् का अवसान संज्ञा हुई

खखसानयोर्विसर्जनीयः–सूत्रानुसार पदान्त इकार को विसर्ग होकर रूप बना—

द्वितीया विभक्ति एकवचन

(रामम्)

अथवद् अधातुर अप्रत्यय : प्रातिपदिकम्–सूत्रानुसार अर्थवान् राम की प्रातिपदि संज्ञा हुई

ङ्याप्प्रातिपदिकात्, परश्चँ, प्रत्ययः–इन तीनों सूत्रों के अधिकार के साथ

स्वौजसमौट्छ्टाभ्यांभिस्ङेभ्यांभ्यस्ङसिभ्यांभ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्–सूत्र से सु आदि द्वितीया के तीनों प्रत्ययों की प्राप्ति हुई

सुपः–सूत्रानुसार एकवचन, द्विवचन, बहुवचन संज्ञा को प्राप्त अम् और धार में हो

द्वयेकयोर्द्विवचनैकवचने–सूत्रानुसार एक की विवक्षा में एकवचन संज्ञक 'अम्' आया—**राम + अम्।**

अकः सवर्णे दीर्घः–सूत्रानुसान अक् से सवर्ण अच् परे है अतः दीर्घ एकादेश प्राप्त हुआ, उसे रोककर—

अतो गुणे–सूत्रानुसार पररूप का आदेश हुआ उसे रोककर—

प्रथमयोः पूर्वसवर्ण–सूत्रानुसार (अक् से परे द्वितीया विभाक्ति का अच् है अत:) पूर्व सवर्ण दीर्घ एकादेश प्राप्त हुआ उसे रोककर—

अमि पूर्वः–सूत्रानुसार अक् से अम् का अच् परे है अत: पूर्वरूप एकादेश होकर है रूप बना—**रामम्** ।

द्विवचन

(रामौ)

अर्थवद् अधातुर् अप्रत्ययः प्रातिपदिकम्–सूत्रानुसार अर्थवान् राम शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा हुई।

ङ्याप्प्रातिपदिकात्, परश्चँ, प्रत्ययः–इन तीनों सूत्रों के अधिकार के साथ

स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिस्ङेभ्यांभ्यस्ङसिभ्यांभ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्–सूत्र से सु आदि सातों विभक्ति के प्रत्ययों की उत्पत्ति हुई—

सुपः–सूत्रानुसार सुप् प्रत्याहार के तीनों वचन क्रम से एकवचन, द्विवचन, बहुवचन संज्ञा वाले हों।

द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने–सूत्रानुसार दो की विवक्षा में द्वितीया का द्विवचन औट् आया—**राम + औट्** ।

हलन्त्यम्–सूत्रानुसार ट् की इत् संज्ञा हुई

तस्य लोपः–सूत्रानुसार इत् संज्ञक वर्ण ट् का लोप होकर—**राम + औ** ।

वृद्धिरेचि–सूत्रानुसार अवर्ण से एच् औ परे है अत: वृद्धि एकादेश होगा उसे रोककर—

प्रथमयोः पूर्वसवर्णः–सूत्रानुसार अक् अ से परे द्वितीया विभक्ति का अच् परे होने पर पूर्व सवर्ण दीर्घ एकादेश प्राप्त हुआ उसे रोककर—

नॉऽऽदिचि–सूत्रानुसार अवर्ण से इच् और परे है अत: पूर्व सवर्ण दीर्घ एकादेश नहीं होगा।

वृद्धि रेचि–सूत्रानुसार अवर्ण से एच् और परे है अत: वृद्धि एकादेश होकर रूप बना—**रामौ** ।

बहुवचन

(रामान्)

अर्थवद् अधातुर् अप्रत्ययः प्रातिपदिकम्–सूत्रानुसार अर्थवान् राम शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा हुई।

ङ्याप्प्रातिपदिकात्, परश्चँ, प्रत्ययः–इन तीनों सूत्रों के अधिकार के साथ

स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिस्ङेभ्यांभ्यस्ङसिभ्यांभ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्–सूत्र से सु आदि सातों विभक्ति के प्रत्ययों की उत्पत्ति हुई—

सुपः–सूत्रानुसार सुप् प्रत्याहार के तीनों वचन क्रम से एकवचन, द्विवचन, बहुवचन संज्ञा वाले हों।

बहुषु बहुवचनम्–सूत्रानुसार बहुत की विवक्षा में सुप् प्रत्याहार का द्वितीया का बहुवचन शस् आया—**राम + शस्** ।

लशक्वतद्धिते–सूत्रानुसार तद्धित भिन्न प्रत्यय के आदि शकार की इत् संज्ञा हुई

तस्य लोपः–सूत्रानुसार इत् संज्ञक वर्ण श् का लोप होकर—**राम + अस्** ।

अकः सवर्णे दीर्घः–सूत्रानुसार अक् अवर्ण से सवर्ण अच् परे है अत: दीर्घ एकादेश हुआ उसे रोककर—

अतो गुणे–सूत्रानुसार पररूप आदेश हुआ

प्रथमयोः पूर्वसवर्णः–सूत्रानुसार अक् से परे द्वितीया विभक्ति का अच् है अत: पूर्व सवर्ण दीर्घ एकादेश होकर—**रामास्** ।

तस्माच्छसोनः पुंसि–सूत्रानुसार पूर्व सवर्ण दीर्घ से परे शस् का सकार है अत: सकार के स्थान

पर नकार आदेश होकर—**रामान्** ।

अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवाये ऽपि–सूत्रानुसार न् को ण् आदेश की प्राप्ति होती है उसे रोककर—

पदान्तस्य–सूत्रानुसार पदान्त नकार को णकार नहीं होकर रूप बना—**रामान्** ।

तृतीया विभक्ति एकवचन

(रामेण)

अर्थवद् अधातुर् अप्रत्ययः प्रातिपदिकम्–सूत्रानुसार अर्थवान् राम शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा हुई ।

ङ्याप्प्रातिपदिकात्, परश्चे, प्रत्ययः–इन तीनों सूत्रों के अधिकारों के साथ

स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिस्ङेभ्यांभ्यस्ङसिभ्यांभ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्–सूत्र से सु आदि सातों विभक्ति के प्रत्ययों की उत्पत्ति हुई—

सुपः–सूत्रानुसार सुप् प्रत्याहार के तीनों वचन क्रम से एकवचन, द्विवचन, बहुवचन संज्ञा वाले हों ।

द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने–सूत्रानुसार एक की विवक्षा में तृतीया का एकवचन सुप् प्रत्यय का टा आया—**राम + टा** ।

यस्मात्प्रत्यय विधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्–सूत्रानुसार (टा) प्रत्यय के परे राम की अङ्ग संज्ञा हुई

टाङसिङसा मिनात्स्याः–सूत्रानुसार अदन्त अङ्ग से परे टा को इन आदेश होकर—**राम + इन** ।

आद्गुणः–सूत्रानुसार अवर्ण से अच् इ परे है अत: गुण एकादेश होकर—**रामेन** ।

अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि–सूत्रानुसार न् को णकार आदेश होकर रूप बना—**रामेण** ।

द्विवचन

(रामाभ्याम्)

अर्थवद् अधातुर् अप्रत्ययः प्रातिपदिकम्–सूत्रानुसार अर्थवान् राम शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा हुई ।

ङ्याप्प्रातिपदिकात्, परश्चे, प्रत्ययः–इन तीनों सूत्रों के अधिकारों के साथ

स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिस्ङेभ्यांभ्यस्ङसिभ्यांभ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्–सूत्र से सु आदि सातों विभक्ति के प्रत्ययों की उत्पत्ति हुई—

सुपः–सुप् प्रत्याहार के तीन वचन क्रम से एकवचन, द्विवचन, बहुवचन संज्ञा वाले हों ।

द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने–सूत्रानुसार दो की विवक्षा में तृतीया का द्विवचन सुप् प्रत्यय भ्याम् आया—**राम + भ्याम्** ।

यस्मात्प्रत्यय विधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्–सूत्रानुसार भ्याम् प्रत्यय से परे राम की अङ्ग संज्ञा हुई

सुपि च–सूत्रानुसार यञ आदि सुप् भ्याम् परे है अत: अदन्त अङ्ग को दीर्घ एकादेश प्राप्त हुआ

अलोऽन्त्यस्य–सूत्रानुसार राम के अन्त्य अकार को दीर्घ एकादेश होकर रूप बना—**रामाभ्याम्** ।

बहुवचन

(रामैः)

अर्थवद् अधातुर् अप्रत्ययः प्रातिपदिकम्–सूत्रानुसार अर्थवान् राम शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा हुई ।

ङ्याप्प्रातिपदिकात्, परश्चे, प्रत्ययः–इन तीनों सूत्रों के अधिकारों के साथ

स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिस्ङेभ्यांभ्यस्ङसिभ्यांभ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्–सूत्र से सु आदि सातों विभक्ति के प्रत्ययों की उत्पत्ति हुई—

सुपः–सूत्रानुसार सुप् प्रत्याहार के तीन वचन क्रम से एकवचन, द्विवचन, बहुवचन संज्ञा वाले हैं ।

बहुषु बहुवचनम्–सूत्रानुसार बहुत की विवक्षा में तृतीया का बहुवचन सुप् प्रत्यय का भिस

आया—राम + भिस्।

अतो भिस ऐस्–सूत्रानुसार अङ्ग से पर भिस् को ऐस् आदेश

अलोऽन्त्यस्य–सूत्रानुसार भिस् के अन्तिम वर्ण को ऐसा आदेश हो, उसे रोककर–

अनेकाल् शित् सर्वस्य–सूत्रानुसार अनेक अल् होने के कारण ऐस् आदेश सम्पूर्ण भिस् के स्थान पर होकर—**राम + ऐस्।**

वृद्धिरेचि–सूत्रानुसार अवर्ण से एच् ऐ परे है अतः वृद्धि एकादेश होकर—**रामैस्।**

ससजुषोरुः–सूत्रानुसार स् को रु आदेश हुआ—**रामै + रु।**

उपदेशेऽजनुनासिक इत्–सूत्रानुसार रु के उ् की इत् संज्ञा हुई

तस्य लोपः–सूत्रानुसार इत् संज्ञक वर्ण उ् का लोप होकर—**रामै + र्।**

विरामोऽवसानम्–सूत्रानुसार अन्तिम वर्ण र् की अवसान संज्ञा हुई—

खरवसानयोर्विसर्जनीयः–सूत्रानुसार पदान्त रकार को विसर्ग होकर रूप बना—**रामैः।**

चतुर्थी विभक्ति एकवचन

(रामाय)

अर्थवद् अधातुर् अप्रत्ययः प्रातिपदिकम्–सूत्रानुसार अर्थवान् राम शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा हुई।

ङ्याप्प्रातिपदिकात्, परश्च, प्रत्ययः–इन तीनों सूत्रों के अधिकारों के साथ

स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिस्ङेभ्यांभ्यस्ङसिभ्यांभ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्–सूत्र से सु आदि सातों विभक्ति के प्रत्ययों की उत्पत्ति हुई—

सुपः–सूत्रानुसार सुप् प्रत्याहार के तीन वचन क्रम से एकवचन, द्विवचन, बहुवचन संज्ञा वाले हों।

द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने–सूत्रानुसार एक ही की विवक्षा में चतुर्थी का एकवचन सुप् प्रत्याहार का ङे आया—**राम + ङे।**

यस्मात्प्रत्यय विधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्–सूत्रानुसार ङे प्रत्यय से परे राम की अङ्गी संज्ञा हुई—**रामाय।**

बहुवचन

(रामेभ्यः)

अर्थवद् अधातुर् अप्रत्ययः प्रातिपदिकम्–सूत्रानुसार अर्थवान् राम शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा हुई।

ङ्याप्प्रातिपदिकात्, परश्च, प्रत्ययः–इन तीनों सूत्रों के अधिकारों के साथ

स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिस्ङेभ्यांभ्यस्ङसिभ्यांभ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्–सूत्र से सु आदि सातों विभक्ति के प्रत्ययों की उत्पत्ति हुई—

सुपः–सुप् प्रत्याहार के तीन वचन क्रम से एकवचन, द्विवचन, बहुवचन संज्ञा वाले हों।

बहुषु बहुवचनम्–सूत्रानुसार बहुत की विवक्षा में चतुर्थी बहुवचन सुप् प्रत्यय का भ्यस् आया—**राम + भ्यस्।**

बहुवचने झल्येत्–सूत्रानुसार झल् बहुवचन सुप् भ्यस् परे है अतः अदन्त अङ्ग को एककार आदेश हुआ—

अलोऽन्त्यस्य–सूत्रानुसार अदन्त अङ्ग के अन्तिम वर्ण को एकार आदेश होकर—**रामे + भ्यस्।**

ससजुषोरुः–सूत्रानुसार पदान्त स् को रु आदेश होकर—**रामे + भ्य रु।**

उपदेशेऽजनुनासिक इत्–सूत्रानुसार रु के उ् की इत् संज्ञा हुई

तस्य लोपः–सूत्रानुसार इत् संज्ञक वर्ण उ् का लोप हुआ—**रामे + भ्यर्।**

विरामोऽवसानम्–सूत्रानुसार अन्तिम वर्ण र् को अवसान हुआ—

खरवसानयोर्विसर्जनीयः–सूत्रानुसार पदान्त रकार को विसर्ग होकर रूप बना—**रामेभ्यः**।

पञ्चमी विभक्ति एकवचन

(रामात्)

अर्थवद् अधातुर् अप्रत्ययः प्रातिपदिकम्–सूत्रानुसार अर्थवान् राम शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा हुई।

ङ्याप्प्रातिपदिकात्, परश्चं, प्रत्ययः–इन तीनों सूत्रों के अधिकार के साथ

स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिस्ङेभ्यांभ्यस्ङसिभ्यांभ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्–सूत्र से सु आदि सातों विभक्ति के प्रत्यय की उत्पत्ति हुई।

सुपः–सुप् प्रत्याहार के तीन वचन क्रम से एकवचन, द्विवचन, बहुवचन संज्ञा वाले हो—

द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने–सूत्रानुसार एक की विवक्षा में पञ्चमी एकवचन का सुप् प्रत्यय ङसि प्राप्त हुआ—**राम + ङसि**।

टाङसिङस् मिनात्स्याः–सूत्रानुसार ङसि को आत् आदेश होकर—**राम + आत्**।

अकः सवर्णे दीर्घः–सूत्रानुसार अक् अवर्ण से सवर्ण अच् परे है अतः दीर्घ एकादेश होकर—**रामात्**।

झलांजशोऽन्ते–सूत्रानुसार पदान्त झल् त् को जश् आदेश हो—

स्थानेऽन्तरतमः–सूत्रानुसार स्थानी झल् त् का सदृशतम् जश् आदेश द् है—

वाऽवसाने–सूत्रानुसार अवसान में झलो को चर् आदेश हो विकल्प से—**रामात्, रामाद्** दो स्वर बनते हैं।

(रामाभ्याम्)

पूर्ववत्

(रामेभ्यः)

पूर्ववत्

षष्ठी विभक्ति एकवचन

(रामस्य)

अर्थवद् अधातुर् अप्रत्ययः प्रातिपदिकम्–सूत्रानुसार अर्थवान् राम शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा हुई।

ङ्याप्प्रातिपदिकात्, परश्चं, प्रत्ययः–इन तीनों सूत्रों के अधिकार के साथ

स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिस्ङेभ्यांभ्यस्ङसिभ्यांभ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्–सूत्र से सु आदि सातों विभक्ति के प्रत्यय की उत्पत्ति हुई।

सुपः–सूत्रानुसार सुप् प्रत्याहार के तीन वचन क्रम से एकवचन, द्विवचन, बहुवचन संज्ञा वाले हो—

द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने–सूत्रानुसार एक की विवक्षा में षष्ठी का एकवचन सुप् प्रत्यय ङस् आया—**राम + ङस्**।

टाङसिङस् मिनात्स्याः–सूत्रानुसार ङस् को स्य आदेश होकर रूप बना—**रामस्य**।

षष्ठी विभक्ति द्विवचन

(रामयोः)

अर्थवद् अधातुर् अप्रत्ययः प्रातिपदिकम्–सूत्रानुसार अर्थवान् राम शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा हुई।

ङ्याप्प्रातिपदिकात्, परश्चं, प्रत्ययः–इन तीनों सूत्रों के अधिकार के साथ

स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिस्ङेभ्यांभ्यस्ङसिभ्यांभ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्–सूत्र से सु आदि सातों विभक्ति के प्रत्ययों की उत्पत्ति हुई।

सुपः–सूत्रानुसार सुप् प्रत्याहार के तीन वचन क्रम से एकवचन, द्विवचन, बहुवचन संज्ञा वाले हो—

द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने–सूत्रानुसार दो की विवक्षा में षष्ठी का द्विवचन सुप् प्रत्यय ओस् आया— **राम + ओस्**।

ओसि चं–सूत्रानुसार ओस् परे रहने पर अदन्त अङ्ग को एकार आदेश प्राप्त हुआ।

अलोऽन्त्यस्य–सूत्रानुसार एकार आदेश अदन्त अङ्ग के अन्तिम वर्ण को हो—**रामे + ओस्**।

एचोऽयवायावः–सूत्रानुसार ए को अय् आदेश होकर—

रामय् + ओस् = रामयोस्।

ससजुषोरुः–सूत्रानुसार पदान्त सकार को रु आदेश होकर—**रामय् + ओ रु = रामयो रु**।

उपदेशेऽजनुनासिक इत्–सूत्रानुसार रु के उ् की इत् संज्ञा हुई।

तस्य लोपः–सूत्रानुसार इत् संज्ञक वर्ण उ् का लोप होकर—**रामय् + ओर्**।

विरामोऽवसानम्–सूत्रानुसार अन्तिम वर्ण र् को अवसान हुआ—

खरवसानयोर्विसर्जनीयः–सूत्रानुसार पदान्त रकार को विसर्ग होकर षष्ठी द्विवचन में रूप बना— **रामयोः**।

षष्ठी विभक्ति बहुवचन

(रामाणाम्)

अर्थवद् अधातुर् अप्रत्ययः प्रातिपदिकम्–सूत्रानुसार अर्थवान् राम शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा हुई।

ङ्याप्प्रातिपदिकात्, परश्चं, प्रत्ययः–इन तीनों सूत्रों के अधिकार के साथ

स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिस्ङेभ्यांभ्यस्ङसिभ्यांभ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्–सूत्र से सु आदि सातों विभक्ति के प्रत्ययों की उत्पत्ति हुई।

सुपः–सूत्रानुसार सुप् प्रत्याहार के तीन वचन क्रम से एकवचन, द्विवचन, बहुवचन संज्ञा वाले हो—

बहुषु बहुवचनम्–सूत्रानुसार बहुत ही विवक्षा में षष्ठी बहुवचन का सुप् प्रत्याहार आम् आया— **राम + आम्**।

ह्रस्वनद्यापो नुट्–सूत्रानुसार ह्रस्वान्त अङ्ग से पर आम् को नुट् आगम होता है— **राम + नुट् + आम्**, उ औह् का अनुबन्ध लोप होकर—**राम + नाम**।

हलन्त्यम्–सूत्रानुसार ट् का इत् संज्ञा हुई।

तस्य लोपः सूत्रानुसार इत् संज्ञक वर्ण ट् को लोप हुआ—**राम + नु + आम्**।

उपदेशेऽजनुनासिक इत्–सूत्रानुसार नु के उ् की इत् संज्ञा हुई—

तस्य लोपः–सूत्रानुसार इत् संज्ञक वर्ण उ् का लोप होकर—**राम + न् + आम = राम + नाम्**।

नाऽऽमि–सूत्रानुसार अजन्त अङ्ग को दीर्घ होगा; क्योंकि नाम शब्द परे है।

अलोऽन्त्यस्य–सूत्रानुसार अजन्त अङ्ग के अन्तिम वर्ण को दीर्घ होगा—**रामानाम्**।

अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवाये ऽपि–सूत्रानुसार नकार को णकार आदेश होकर रूप बना—**रामाणाम्**।

सप्तमी विभक्ति एकवचन

(रामे)

अर्थवद् अधातुर् अप्रत्ययः प्रातिपदिकम्–सूत्रानुसार अर्थवान् राम शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा

हुई।

ङ्याप्प्रातिपदिकात्, परश्चं, प्रत्ययः–इन तीनों सूत्रों के अधिकारों के साथ

स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिस्ङेभ्यांभ्यस्ङसिभ्यांभ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्–सूत्र से सु आदि सातों विभक्ति के प्रत्यय की उत्पत्ति हुई।

सुपः–सूत्रानुसार सुप् प्रत्याहार के तीन वचन क्रम से एकवचन, द्विवचन, बहुवचन संज्ञा वाले हो—

द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने–सूत्रानुसार एक की विवक्षा में सप्ती के एकवचन का सुप् प्रत्यय ङि आया—**राम + ङि**।

लशक्वतद्धिते–सूत्रानुसार कवर्ग के ङ् की इत् संज्ञा हुई—

तस्य लोपः–सूत्रानुसार इत् संज्ञक वर्ण ङ् का लोप हुआ—**राम + इ**।

आद्गुणः–सूत्रानुसार अवर्ण से अच् इ परे है अतः गुण एकादेश हुआ।

स्थानेऽन्तरतमः–सूत्रानुसार स्थानी अ + इ का सदृशतम गुण आदेश ए है—**रामे**। सप्तमी एकवचन में रूप बना।

सप्तमी विभक्ति द्विवचन

(रामयोः)

पूर्ववत्।

सप्तमी विभक्ति बहुवचन

(रामेषु)

अर्थवद् अधातुर् अप्रत्ययः प्रातिपदिकम्–सूत्रानुसार अर्थवान साधर्क शब्द राम की प्रातिपदिक संज्ञा हुई।

ङ्याप्प्रातिपदिकात्, परश्चं, प्रत्ययः–इन तीनों सूत्रों के अधिकार के साथ

स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिस्ङेभ्यांभ्यस्ङसिभ्यांभ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्–सूत्र से सु आदि सातों विभक्ति के प्रत्ययों की उत्पत्ति हुई।

सुपः–सूत्रानुसार सुप् प्रत्याहार के तीन वचन क्रम से एकवचन, द्विवचन, बहुवचन संज्ञा वाले हो—

बहुषु बहुवचनम्–सूत्रानुसार बहुत की विवक्षा में सप्तमी बहुवचन का सुप् प्रत्यय का सुप् आया—**राम + सुप्**।

हलन्त्यम्–सूत्रानुसार प् की इत् संज्ञा हुई—

तस्य लोपः–सुत्रानुसार इत् संज्ञक वर्ण प् का लोप हुआ—**राम + सु**।

बहुवचने झल्येत्–सूत्रानुसार झल् प्रत्यय का बहुवचन सुप् परे है अतः अदन्त अङ्ग को एकार आदेश हो—

अलोऽन्त्यस्य–सूत्रानुसार अदन्त अङ्ग के अन्तिम वर्ण को एकार आदेश होकर—**रामे + सु**।

आदेश प्रत्यययोः–सूत्रानुसार इण् ए से परे अपदान्त सकार के स्थान पर मूर्धन्य होकर रूप बना—**रामे + षु = रामेषु**।

****

१.३ 'सर्व'शब्दान्तर्गत सूत्र व्याख्या

३६. सर्वादीनि सर्वनामानि ।१।१।२७

वृत्ति—सर्व, विश्व, उभ, उभय, डतर, डतम, अन्य, अन्यतर, इतर, त्वत्, त्व, नेम, सम, सिम ।

शब्दार्थ—(सर्वादीनि) सर्व आदि (सर्वनामानि) सर्वनाम-संज्ञक है । सर्वादिगण में पढ़े हुए शब्दों की सर्वनाम संज्ञा होती है ।

भावार्थ—सर्वनाम संज्ञा अन्वर्थक अर्थात् अर्थानुसार है । 'सर्वस्य नामेति सर्वनाम' तात्पर्य यह है कि इस गण में पढ़े हुए शब्द यदि 'सभी' के अर्थ में प्रयुक्त हों, तो सर्वनामसंज्ञक होंगे, अन्यथा नहीं ।

उदाहरण—यदि 'सर्व' शब्द किसी व्यक्ति-विशेष का वाचक होगा, तो उसकी सर्वनाम संज्ञा नहीं होगी । इसी प्रकार 'सर्वमतिक्रान्तः' इस विग्रह से बने हुए 'अतिसर्व' आदि शब्द भी सर्वनाम-संज्ञक नहीं हैं; क्योंकि 'सर्व' शब्द यहाँ गौण है । इसीसे कहा गया है—'संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः' अर्थात् संज्ञार्थक या गौणार्थक सर्वादि शब्द सर्वनाम-संज्ञक नहीं होते हैं । सर्वादियों का परिगणन इस प्रकार है—सर्व (सब), विश्व (सब), उभ (दो), उभय (दो का समुदाय), अन्य (दूसरा), अन्यतर (दो में से एक), इतर (अन्य), त्व (अन्य), नेम (आधा), सम (सब), सिम (सब) आदि ।

३७. जसः शी ।७।१।१७

वृत्ति—अदन्तात् सर्वनाम्नो जसः शी स्यात् । अनेकालत्वात् सर्वादेशः । सर्वे ।

शब्दार्थ—(जसः) जस् के स्थान पर (शी) 'शी' हो । इसकी व्याख्या के लिए 'अतो भिस ऐस्' ७.१.९ से 'अतः' तथा 'सर्वनाम्नः स्मै' ७.१.१४ से 'सर्वनाम्नः' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'सर्वनाम्नः' का विशेषण होने के कारण 'अतः' से तदन्तविधि का ग्रहण होगा ।

भावार्थ—अदन्त सर्वनाम से परे जस् के स्थान पर 'शी' आदेश होता है । 'शी' में श् और ई–दो वर्ण हैं, अतः 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' १.१.५५ परिभाषा अनेकाल् होने के कारण सम्पूर्ण 'जस्' के स्थान पर आदेश होगा । उदाहरण के लिए 'सर्व + जस्' में अदन्त सर्वनाम 'सर्व' से परे होने के कारण 'जस्' के स्थान पर 'शी' आदेश होकर 'सर्व + शी' रूप बनेगा ।

३८. सर्वनाम्नः स्मै ।७।१।१४

वृत्ति—अतः सर्वनाम्नो ङेः स्मै । सर्वस्मै ।

शब्दार्थ—(सर्वनाम्नः) सर्वनाम से परे (स्मै) 'स्मै' आदेश हो । इसकी व्याख्या के लिए 'अतो भिस ऐस्' ७.१.९ से 'अतः' तथा 'ङेर्यः' ७.१.१३ की अनुवृत्ति करनी होगी । 'अतः' 'सर्वनाम्नः' का विशेषण है, अतः उससे तदन्तविधि का ग्रहण होगा ।

भावार्थ—अदन्त सर्वनाम से परे ङे के स्थान पर 'स्मै' आदेश होता है । अनेकाल् होने के कारण यह आदेश भी 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' १.१.५५ परिभाषा से सम्पूर्ण 'ङे' के स्थान पर होगा ।

उदाहरण—'सर्व + ङे' में अदन्त सर्वनाम से परे होने के कारण 'ङे' को 'स्मै' आदेश होकर 'सर्वस्मै' रूप बनेगा ।

३९. ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ ।७।१।१५

वृत्ति—अतः सर्वनाम्न एतयोरेतौ स्तः । सर्वस्मात् ।

शब्दार्थ—(ङसिङ्योः) ङसि और ङि के स्थान पर (स्मात्सिमनौ) 'स्मात् और 'स्मन्' आदेश हो । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अतो भिस ऐस्' ७.१.९ से 'अतः' तथा 'सर्वनाम्नः स्मै' ७.१.१४ से 'सर्वनाम्नः' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'अतः' 'सर्वनाम्नः' का विशेषण है, अतः उससे तदन्तविधि का ग्रहण होगा ।

भावार्थ—अदन्त सर्वनाम से परे 'ङसि' और 'ङि' के स्थान पर 'स्मात्' और 'स्मन्' आदेश होते हैं । '२३–यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' १.३.१० परिभाषा से 'ङसि' के स्थान पर 'स्मात्' और 'ङि' के स्थान पर 'स्मन्' आदेश होगा । अनेकाल् होने से ये आदेश 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' १.१.५५ परिभाषा

द्वारा सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होंगे।

उदाहरण—'सर्व + ङसि' में अदन्त सर्वनाम से परे ङसि के स्थान पर 'स्मात्' होकर 'सर्वस्मात्' रूप बनेगा। इसी प्रकार सप्तमी एकवचन की विवक्षा पर 'ङि' को 'स्मिन्' होकर 'सर्वस्मिन्' रूप बनेगा।

४०. आमि सर्वनाम्नः सुट् ।७।१।५२

वृत्ति—अवर्णान्तात्परस्य सर्वनाम्नो विहितस्यामः सुडागमः। एकत्वषत्वे-सर्वेषाम्। सर्वस्मिन्।

शब्दार्थ—(सर्वनाम्नः) सर्वनाम से परे (आमि) 'आम्' का अवयव (सुट्) 'सुट्' होता है, किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए 'आज्जसेरसुक्' ७.१.५० से 'आत्' की अनुवृत्ति करनी होगी। यह 'आत्' सूत्रस्थ 'सर्वनाम्नः' का विशेषण बनता है। विशेषण होने से उसमें तदन्त-विधि हो जाती है।

भावार्थ—अवर्णान्त सर्वनाम के पश्चात् 'आम्' (षष्ठी बहुवचन) का अवयव 'सुट्' (स्) होता है। टित् होने के कारण '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह 'सुट्' 'आम्' का आद्यवयव होता है।

उदाहरण—'सर्व + आम्' में अवर्णान्त सर्वनाम 'सर्व' के पश्चात् षष्ठी-बहुवचन 'आम्' आया है। प्रकृतसूत्र से इन 'आम्' को 'सुट्' हो 'सर्व + स् आम्' = 'सर्व + साम्' रूप बनता है।

१.३.१ 'सर्व' शब्दान्तर्गत रूपसिद्धि

प्रथमा विभक्ति कवचन

(सर्वः)

अर्थवद् अधातुर् अप्रत्ययः प्रातिपदिकम्–सूत्रानुसार अर्थवान् सर्व शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा हुई।

ङ्याप्प्रातिपदिकात्, परश्चं, प्रत्ययः–इन तीनों सूत्रों के अधिकारों के साथ

स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिस्ङेभ्यांभ्यस्ङसिभ्यांभ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्–सूत्र से सु आदि सातों विभक्ति के प्रत्ययों की उत्पत्ति हुई—

सुपः–सूत्रानुसार एकवचन, द्विवचन, बहुवचन संज्ञा को प्राप्त सु औ जस् से

द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने–सूत्रानुसार एक की विवक्षा में प्रथमा एकवचन संज्ञक सु आया—**सर्व + सु**।

उपदेशेऽजनुनासिक इत्–सूत्रानुसार सु के उ् की इत् संज्ञा हुआ—**सर्व + स्**।

स् को रुत्व विसर्ग होकर रूप बना—**सर्वः**।

प्रथमा विभक्ति द्विवचन

(सर्वौ)

द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने–सूत्रानुसार दो की विवक्षा में प्रथमा का द्विवचन और प्राप्त हुआ—**सर्व + औ**।

वृद्धि रेचि–सूत्रानुसार अवर्ण से परे एच् और आया अतः वृद्धि एकादेश हुआ उसे रोककर—

प्रथमयोः पूर्वसवर्णः–सूत्रानुसार अक् से परे प्रथमा विभक्ति का अच् परे होने पर पूर्व सवर्ण दीर्घ एकादेश हुआ उसे रोककर—

नाऽऽदिचि–सूत्रानुसार अवर्ण से इच् और परे है अतः पूर्व दीर्घ एकादेश नहीं होता है ऐसी स्थिति में पुनः—

वृद्धिरेचि–सूत्रानुसार अवर्ण से परे एच् और आया है अतः वृद्धि एकादेश होकर रूप बना—**सर्वौ**।

प्रथमा विभक्ति बहुवचन

(सर्वे)

बहुषु बहुवचनम्–सूत्रानुसार बहुत की विवक्षा में प्रथमा का बहुवचन जस् आया है—**सर्व + जस्**।

सर्वादीनि सर्वनामानि–सूत्रानुसार सर्व की सर्वनाम संज्ञा हुई—

जशः शी–सूत्रानुसार सर्वनाम से पर जश् के स्थान में 'शी' आदेश हुआ—

अनेकाल् शित् सर्वस्य–सूत्रानुसार अनेक अल् होने पर सम्पूर्ण स्थानी जस् को शी आदेश हुआ—**सर्व + शी**।

लशक्वतद्धिते–सूत्रानुसार शकार का इत् संज्ञा हुआ—

तस्य लोपः–सूत्रानुसार इत् संज्ञक वर्ण श् का लोप हुआ—**सर्व + इ**।

आद्गुणः–सूत्रानुसार अवर्ण से अच् इ परे है अतः गुण एकादेश होकर रूप बना—**सर्वे**।

द्वितीया विभक्ति एकवचन

(सर्वम्)

द्वयेकयोर्द्विवचनैकवचने–सूत्रानुसार एक की विवक्षा में द्वितीया का एकवचन अम् आया—**सर्व + अम्**।

अकः सवर्णे दीर्घः–सूत्रानुसार दीर्घ एकादेश हुआ उसे रोककर—

अतो गुणे–सूत्रानुसार पररूप आदेश प्राप्त हुआ उसे रोककर—

प्रथमयोः पूर्वसवर्णः–सूत्रानुसार पूर्व सवर्ण दीर्घ एकादेश की प्राप्ति हुई उसे रोककर—

अमि पूर्वः–सूत्रानुसार पूर्वरूप आदेश होकर रूप बना—**सर्वम्**।

द्वितीया विभक्ति द्विवचन

(सर्वौ)

सर्व + औट्

हलन्त्यम्–सूत्रानुसार ट् की इत् संज्ञा हुई—

तस्य लोपः–सूत्रानुसार इत् संज्ञक वर्ण ट् का लोप हुआ—**सर्व + औ**।

वृद्धि रेचि–सूत्रानुसार वृद्धि एकादेश की प्राप्ति उसे रोककर—

प्रथमयोः पूर्वसवर्णः–सूत्रानुसार पूर्व सवर्ण दीर्घ एकादेश की प्राप्ति उसे रोककर

नाऽऽदिचि–सूत्रानुसार पूर्व सवर्ण दीर्घ एकादेश नहीं होता ऐसी स्थिति में पुनः—

वृद्धि रेचि–सूत्रानुसार वृद्धि एकादेश होकर रूप बना—**सर्वौ**।

द्वितीया विभक्ति बहुवचन

(सर्वान्)

सर्व + शस्

लशक्वतद्धिते–सूत्रानुसार श् की इत् संज्ञा हुई—

तस्य लोपः–सूत्रानुसार श् को लोप होकर—**सर्व + अस्**।

अकः सवर्णे दीर्घः–सूत्रानुसार दीर्घ एकादेश प्राप्त हुआ उसे रोककर

अतो गुणे–सूत्रानुसार पररूप एकादेश प्राप्त हुआ उसे रोककर—

प्रथमयोः पूर्वसवर्णः–सूत्रानुसार पूर्व सवर्ण दीर्घ एकादेश हुआ—**सर्वास्**।

तस्माच्छसोनः पुंसि–सूत्रानुसार सकार को नकार आदेश होकर—**सर्वान्**।

अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवाये ऽपि–सूत्रानुसार नकार को णकार आदेश हो उसे रोककर—

पदान्तस्य–सूत्रानुसार पदान्त न् को ण् नहीं होगा अतः रूप बनेगा—**सर्वान्**।

तृतीया विभक्ति एकवचन

(सर्वेण)

सर्व + टा

यस्मात्मप्रत्यय विधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्–सूत्रानुसार सर्व की अङ्गी संज्ञा हुई।

टाङसिङस् मिनात्स्याः–सूत्रानुसार टा को इन आदेश हुआ—**सर्व + इन**।

आद् गुणः–सूत्रानुसार गुण एकादेश होकर—**सर्वेन**।

अटकुप्वाङनुम्व्यवाये ऽपि–सूत्रानुसार न को ण् आदेश होकर रूप बना—**सर्वेण**।

तृतीया विभक्ति द्विवचन

(सर्वाभ्याम्)

सर्व + भ्याम्।

यस्मात्यप्रत्यय विधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्–सूत्रानुसार सर्व की अङ्गी संज्ञा हुई—

सुपि च–सूत्रानुसा यञादि सुप् प्रत्यय परे रहे हैं—अदन्त अङ्ग को दीर्घ आदेश की प्राप्ति होने पर—

अलोऽन्यस्य–सूत्रानुसार अदन्त अङ्ग के अन्तिम वर्ण को दीर्घ होकर रूप बना—**सवाभ्याम्**।

तृतीया विभक्ति बहुवचन

(सर्वैः)

सर्व + भिस्।

अतो भिस् ऐस्–सूत्रानुसार भिस् को ऐस् आदेश हुआ—

अलोऽन्यस्य–सूत्रानुसार भिस् के अन्तिम वर्ण को ऐस् आदेश हो उसे रोककर—

अनेकाल् शित् सर्वस्य–सूत्रानुसार अनेक अल् होने के कारण भिस् के सम्पूर्ण स्थान पर ऐस् आदेश होकर—**सर्व + ऐस्**।

वृद्धि रेचि–सूत्रानुसार वृद्धि एकादेश होकर—**सर्वैस्**।

रुत्व विसर्ग होकर रूप बना—**सर्वैः**।

चतुर्थी विभक्ति एकवचन

(सर्वस्मै)

सर्व + ङे।

सर्वादीनि सर्वनामानि–सूत्रानुसार सर्व की सर्वनाम संज्ञा हुई—

सर्वनाम्नः स्मै–सूत्रानुसार ङे के स्थान पर स्मै आदेश हुआ—

अलोनाम्नः स्मै–सूत्रानुसार स्मै आदेश ङे के अन्तिम वर्ण को हो उसे रोककर—

अनेकाल् शित् सर्वस्य–सूत्रानुसार अनेक अल् होने के कारण ङे के सम्पूर्ण स्थान को स्मै आदेश होकर रूप बना—**सर्वस्मै**।

चतुर्थी विभक्ति द्विवचन

(सर्वाभ्याम्)

पूर्ववत्।

चतुर्थी विभक्ति बहुवचन

(सर्वेभ्यः)

सर्व + भ्यस्।

बहुवचने झल्येत्–सूत्रानुसार अदन्त अङ्ग को ए आदेश हुआ—

अलोऽन्यस्य–सूत्रानुसार अदन्त अङ्ग के अन्तिम वर्ण को ए आदेश होकर—**सर्वे + भ्यस्**।

रुत्व विसर्ग होकर रूप बना—**सर्वेभ्यः** ।**चतुर्थी विभक्ति एकवचन**

पञ्चमी विभक्ति एकवचन

(सर्वस्मात्)

सर्व + ङसि् ।

सर्वादीनि सर्वनामानि–सूत्रानुसार सर्व की सर्वनाम संज्ञा हुई—

ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ–सूत्रानुसार अदन्त सर्वनाम् से पर ङसि को स्मात् आदेश हुआ—

अलोऽन्त्यस्य–सूत्रानुसार स्मात् आदेश स्थानी ङसि के अन्तिमवर्ण को हो उसे रोककर—

अनेकाल् शित् सर्वस्य–सूत्रानुसार अनेक अल् होने के कारण स्मात् आदेश सम्पूर्ण स्थानी ङसि के स्थान पर होकर रूप बना—**सर्वस्मात्** ।

पञ्चमी विभक्ति द्विवचन

(सर्वाभ्याम्)

पञ्चमी विभक्ति बहुवचन

(सर्वेभ्यः)

षष्ठी विभक्ति एकवचन

(सर्वस्य)

सर्व + ङस् ।

टाङसिङस् मिनात्स्या–सूत्रानुसार ङस् को स्य आदेश हुआ—

अलोऽन्त्यस्य–सूत्रानुसार ङस् के अन्तिम वर्ण को स्य आदेश हो उसे रोककर—

अनेकाल् शित् सर्वस्य–सूत्रानुसार अनेक अल् होने के कारण स्य आदेश सम्पूर्ण स्थानी ङस् के स्थान पर होकर रूप बना—**सर्वस्य** ।

षष्ठी विभक्ति द्विवचन

(सर्वयोः)

सर्व + ओस् ।

ओसि चें–सूत्रानुसार अदन्त अङ्ग को एकार आदेश होगा; क्योंकि औस् शब्द परे है—

अलोऽन्त्यस्य–सूत्रानुसार अदन्त अङ्ग के अन्तिम वर्ण को एकार आदेश हुआ—**सर्वे + ओस्** ।

एचोऽयवायावः–सूत्रानुसार अय् आदेश होकर—**सर्वय् + ओस्** ।

रुत्व विसर्ग होकर रूप बना—**सर्वयोः** ।

षष्ठी विभक्ति बहुवचन

(सर्वेषाम्)

सर्व + आम् ।

सर्वादीनि सर्वनामानि–सूत्रानुसार सर्व की सर्वनाम संज्ञा हुई—

आमि सर्वनाम्नः सुट्–सूत्रानुसार अवर्ण से पर और सर्वनाम से विहित आम् को सुट् आगम हो—**सर्व + सुट् + आम्** ।

हलन्त्यम्–सूत्रानुसार ट् की इत् संज्ञा हुई—

तस्य लोपः–सूत्रानुसार इत् संज्ञक वर्ण ट् का लोप हो गया—**सर्व + सु + आम्** ।

उपदेशेऽजनुनासिक इत्–सूत्रानुसार उ की इत् संज्ञा हुई—

तस्य लोपः–सूत्रानुसार इत् संज्ञक वण उ् का लोप—**सर्व + साम्**।

बहुवचने झल्येत्–सूत्रानुसार अदन्त अङ्ग को एकार आदेश—

अलोऽन्त्यस्य–सूत्रानुसार अदन्त अङ्ग के अन्तिम वर्ण को एकार आदेश हुआ—**सर्वे + साम्**।

आदेशप्रत्यययोः–सूत्रानुसार इण् ए से परे सकार को षकार आदेश होकर रूप बना—**सर्वेषाम्**।

सप्तमी विभक्ति एकवचन

(सर्वस्मिन्)

सर्व + ङि।

सर्वादीनि सर्वनामानि–सूत्रानुसार सर्व की सर्वनाम संज्ञा हुई—

ङसिङ्योः स्मात् स्मिनौ–सूत्रानुसार अदन्त सर्वनाम से पर ङि को स्मिन् आदेश हुआ—

अलोऽन्त्यस्य–सूत्रानुसार स्मिन् आदेश स्थानी के ङि के अन्तिमवर्ण को ही उसे रोककर—

अनेकाल् शित् सर्वस्य–सूत्रानुसार अनेक अल् होने के कारण स्मिन् आदेश सम्पूर्ण स्थानी ङि के स्थान पर होकर रूप बनता—**सर्वस्मिन्**।

सप्तमी विभक्ति द्विवचन

सर्वयोः।

सप्तमी विभक्ति बहुवचन

(सर्वेषु)

सर्व + सुप्।

अनुबन्ध लोपः–से प् की इत् संज्ञा व लोप हुआ—**सर्व + सु**।

बहुवचने झल्येत्–सूत्रानुसार अदन्त अङ्ग को एकार आदेश हुआ—

अलोऽन्त्यस्य–सूत्रानुसार अदन्त अङ्ग के अन्तिम वर्ण को एकार आदेश—**सर्वे + सु**।

आदेशोप्रत्यययोः–सूत्रानुसार इण् ए से परे सकार को षकार आदेश होकर रूप बना—**सर्वेषु**।

****

१.४ 'हरि' शब्दान्तर्गत सूत्र-व्याख्या

'हरि'

४१. जसि चं ।७।३।१०९

वृत्ति—ह्रस्वान्तस्याऽङ्गस्य गुणः । हरयः ।

शब्दार्थ—(च) और (जसि) जस् परे होने पर, किन्तु के स्पष्टीकरण के लिए सम्पूर्ण 'ह्रस्वस्य गुणः' ७.३.१०८ सूत्र की अनुवृत्ति करनी पड़ेगी। साथ ही 'अङ्गस्य' ६.४.१ से अङ्गाधिकार प्राप्त होता है।

भावार्थ—जस् परे होने पर ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण आदेश होता है। यह गुण-विधान 'अलोऽन्तत्य' १.१.५२ परिभाषा से अन्त्य वर्ण को ही होगा।

उदाहरण—'हरि + अस् (जस्)' में ह्रस्वान्त अङ्ग 'हरि' से परे 'जस्' है। अतः अन्त्य वर्ण को गुणादेश होकर 'हरे + अस्' रूप बनेगा।

४२. ह्रस्वस्य गुणः ।७।३।१०८

वृत्ति—सम्बुद्धौ।

शब्दार्थ—(ह्रस्वस्य) ह्रस्व के स्थान पर (गुणः) गुण आदेश हो। 'सम्बुद्धौ च' ७.३.१०६ से 'सम्बुद्धौ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अङ्गस्य' ६.४.१ का अधिकार यहाँ भी प्राप्त होता है।

भावार्थ—सम्बुद्धि (सम्बोधन का एकवचन) परे होने पर ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण हो जाता है।

उदाहरण—'हे हरि + स्' में सम्बुद्धि परे होने पर ह्रस्वान्त अङ्ग 'हरि' के अन्त्य इकार को एकार होकर 'हे हरे + स्' रूप बनेगा।

४३. शेषो घ्यसखि।१।४।७

वृत्ति—शेष इति स्पष्टार्थम्। अनदीसञ्ज्ञौ ह्रस्वौ याविदुतौ तदन्तं सखिवर्जं घिसंज्ञम्।

शब्दार्थ—(असखि) 'सखि' शब्द को छोड़कर (शेषः) शेष (घि) 'घि' संज्ञक हों। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' १.४.३ से 'यू' तथा 'ङिति ह्रस्वश्च' १.४.६ से 'ह्रस्वः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'यू' में इकार और उकार का समावेश होता है। 'ह्रस्व' विशेषण होने के कारण इससे ह्रस्व इकार और ह्रस्व उकार का ग्रहण होगा। 'शेष' का अभिप्राय है—नदी संज्ञा से भिन्न ह्रस्व। इस सूत्र से पूर्व विशेष-विशेष अवस्थाओं में ह्रस्व की नदी संज्ञा की गई है, अतः जिस ह्रस्व की नदी संज्ञा नहीं की गई है, उस ह्रस्व का ग्रण 'शेष' पद से होता है।

भावार्थ—'सखि' शब्द को छोड़कर नदी-संज्ञक-भिन्न ह्रस्व इकारान्त और उकारान्त शब्द घिसंज्ञक होते हैं। नदी संज्ञा दो अवस्थाओं में नहीं है—(१) पुँल्लिङ्ग में ह्रस्व इकारान्त और ह्रस्व उकारान्त शब्द नदीसंज्ञक नहीं होते, जैसे–हरि, भानु, गुरु आदि। (२) स्त्रीलिङ्ग में ङित् विभक्तियों के परे होने पर जिस पक्ष में 'ङिति ह्रस्वश्च' १.४.६ द्वारा नदी संज्ञा नहीं होती है। अतः इन दो स्थलों पर ही 'घि' संज्ञा प्राप्त होती है।

उदाहरण—'हरि' शब्द की नदी संज्ञा नहीं हुई, अतः इसकी 'घि' संज्ञा होगी।

४५. आङो नाऽस्त्रियाम्।७।३।१२०

वृत्ति—घेः परस्याङो।

शब्दार्थ—(अस्त्रियाम्) स्त्रीलिङ्ग से भिन्न अन्य लिङ्ग में (आङः) आङ् के स्थान पर (ना) 'ना' आदेश हो। इसकी व्याख्या के लिए 'अच्च घेः' ७.३.११९ से 'घेः' की अनुवृत्ति करनी पड़ेगी।

भावार्थ—स्त्रीलिङ्ग से भिन्न अन्य लिङ्ग में घिसंज्ञक से परे होने पर आङ् के स्थान पर 'ना' आदेश हो। 'आङ्' 'टा' की ही प्राचीन संज्ञा है। अतः 'टा' के स्थान पर 'ना' आदेश होगा।

उदाहरण—'हरि + टा' से घिसंज्ञक 'हरि' शब्द से पर 'टा' को 'ना' आदेश होकर 'हरि + ना' रूप बनेगा।

४६. घेर्ङिति।७।३।१११

वृत्ति—घिसंज्ञकस्य ङिति गुणः। हरये।

शब्दार्थ—(घेः) घसंज्ञक के स्थान पर (ङिति) ङित् प्रत्यय परे होने पर। 'सुपि च' ७.३.१०२ से 'सुपि' तथा 'ह्रस्वस्य गुणः' ७.३.१०८ से 'गुणः' की अनुवृत्ति करनी होगी। ङित् में चार प्रत्यय आते हैं—ङे, ङसि, ङस् और ङि।

भावार्थ—घिसंज्ञक अङ्ग को ङित् अर्थात् ङे, ङसि, ङस् और ङि प्रत्यय परे रहते गुण आदेश हो। 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से गुणादेश अन्त्य वर्ण को ही होगा।

उदाहरण—'हरि + ए (ङे)' में घिसंज्ञक 'हरि' है और उससे परे ङिस् सुप् का 'ए' है। अतः इकार को गुण-एकार आदेश होकर 'हरे + ए' रूप बनेगा। इस अवस्था में अयादेश होकर 'हरये' रूप सिद्ध होगा।

४७. ङसिङसोश्च।६।१।११०

वृत्ति—एङो ङसिङसोरति पूर्वरूपमेकादेशः।

शब्दार्थ—(च) और (ङसिङसोः) ङसि तथा ङस् का....। किन्तु इससे सूत्र का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। उसके लिए 'अमि पूर्वः' ६.१.१०७ से 'पूर्वः' तथा 'एङः पदान्तादति' ६.१.११९ से 'एङः' और 'अति' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'एकः पूर्वपरयोः' ६.१.८४ सूत्र यहाँ अधिकृत है।

भावार्थ—एङ् (ए ओ) से ङसि और ङस् का अकार परे होने पर पूर्वपर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश हो। उदाहरण के लिए पञ्चमी एकवचन 'हरि + अस्' '(ङसि)' में पहले 'घेर्ङिति' ७.३.१११ से इकार को गुण होकर 'हरे + अस्' रूप बनता है। फिर ङसि का अकार परे होने पर पूर्वपर के स्थान पर एकार होकर 'हर् ए स्' = 'हरेस्' रूप बनने पर रुत्व-विसर्ग हो 'हरेः' रूप सिद्ध होगा। ओकार का उदाहरण 'भानोः' में मिलता है।

४८. अच्च घेः ।७।३।११९

वृत्ति—इदुद्भ्यामुत्तरस्य ङेरौत्, घेरत्। हरौ। हर्योः। हरिषु।

शब्दार्थ—(च) और (घेः) घि-संज्ञक के स्थान पर (अत्) ह्रस्व अकार हो। 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' ७.३.११६ से 'ङेः', सम्पूर्ण 'इदुद्भ्याम्' ७.३.११७ और 'औत्' ७.३.११८ की अनुवृत्ति करनी होगी।

भावार्थ—ह्रस्व इकार (उत्) और उकार (उत्) से पर 'ङि' को 'औत्' तथा घिसंज्ञक को अकार आदेश हो। उदाहरण के लिए 'हरि + ङि' में घिसंज्ञक 'हरि' के इकार के स्थान पर ('अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से) ह्रस्व अकार और 'ङि' के स्थान पर 'औत्' (औ) होकर 'हर + औ' रूप बनेगा। इस अवस्था में वृद्धि एकादेश होकर 'हरौ' रूप सिद्ध होगा।

१.४.१ 'हरि' शब्दान्तर्गत रूपसिद्धि

प्रथमा विभक्ति एकवचन

(हरिः)

हरि + सु।

उपदेशेऽजनुनासिक इत्-सूत्रानुसार सु के उ् की इत् संज्ञा हुई—

तस्य लोपः-सूत्रानुसार इत् संज्ञक वर्ण उ् का लोप—**हरि + स्।**

रुत्व विसर्ग होकर—**हरिः।**

(हरी)

हरि + औ।

इको यणचि-सूत्रानुसार इक् इ के स्थान पर यण् आदेश हो अच् और परे है उसे रोककर—

प्रथमयोः पूर्व सवर्णः-सूत्रानुसार पूर्व सवर्ण दीर्घ एकादेश होकर रूप बना—**हरी।**

(हरयः)

हरि + जस्।

जसि च-सूत्रानुसार ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण हो जस् परे है—

अलोऽन्त्यस्य-सूत्रानुसार अन्तिम वर्ण इ को गुण एकादेश होकर—**हरे + जस्।**

चुटू-सूत्रानुसार ज् की इत् संज्ञा हुई—

तस्य लोपः-सूत्रानुसार ज् का लोप होकर—**हरे + अस्।**

एचोऽयवायावः-सूत्रानुसार ए को अय् आदेश हुआ—**हरय् + अस्।**

रुत्व विसर्ग होकर रूप बना—**हरयः।**

(हे हरे)

हरि + सु।

एकवचनं सम्बुद्धिः-सूत्रानुसार हरि सम्बुद्धि संज्ञा हुई—**हे हरि + सु।**

ह्रस्वस्य गुणः–सूत्रानुसार ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण होगा; क्योंकि सम्बुद्धि परे है—**हे हरे + सु**।

तस्य लोपः–सूत्रानुसार उ् का लोप होकर—**हे हरे + स्**।

एङ् ह्रस्वात् सम्बुद्धेः–सूत्रानुसार स् का लोप होकर रूप बना—**हे हरे**।

१.४.२ द्वितीया विभक्ति एकवचन

(हरिम्)

हरि + अम्।

इको यणचि–सूत्रानुसार यण् आदेश प्राप्त हुआ। पुनः—

प्रथमयोः पूर्वसवर्णः–सूत्रानुसार अक् से परे द्वितीया का अच् होने पर पूर्व सवर्ण दीर्घ एकादेश की प्राप्ति हुई उसे रोककर—

आमि पूर्वः–सूत्रानुसार अक् से अम् का अच् परे है अतः पूर्वरूप एकादेश होकर रूप बना है—**हरिम्**।

(हरी)

पूर्ववत्।

(हरीन्)

हरि + शम्।

लशक्वतद्धिते–सूत्रानुसार श् की इत् संज्ञा हुई—

तस्य लोपः–सूत्रानुसार इत् संज्ञक वर्ण श् का लोप होकर—**हरि + अस्**।

प्रथमयोः पूर्वसवर्णः–सूत्रानुसार अक् से परे द्वितीया का अच् होने परर पूर्व सवर्ण दीर्घ एकादेश की प्राप्ति हुई—**हरीस्**।

तस्माच्छसोनः पुंसि–सूत्रानुसार सकार को नकार होकर रूप बना—**हरीन्**।

तृतीया विभक्ति एकवचन

(हरिणा)

हरि + टा।

घो ध्यसरिन–सूत्रानुसार हरि की घि संज्ञा हुई—

ङो नाऽस्त्रियाम्–सूत्रानुसार 'टा' को 'ना' आदेश की प्राप्ति हुई—**हरि ना**।

ट्कुप्वाङ्नुम्व्यवाये ऽपि–सूत्रानुसार न् को ण् आदेश होकर रूप बना—**हरिणा**।

(हरिभ्याम्)

(अरिभिः)

रि + भिस्।

व विसर्ग होकर रूप बना—**हरिभिः**।

चतुर्थी विभक्ति एकवचन

(हरये)

रि + ङे

शक्वतद्धिते–सूत्रानुसार ङ् की इत् संज्ञा हुई—

स्य लोपः–सूत्रानुसार इत् संज्ञक वर्ण ङ् के लोप की प्राप्ति हुई—**हरि + ए**।

घो ध्यसरिव–सूत्रानुसार हरि की घि संज्ञा हुई—

ङिति–सूत्रानुसार घि संज्ञक अङ्ग को गुण आदेश की प्राप्ति—

अलोऽन्त्यस्य–सूत्रानुसार घि संज्ञक अङ्ग के अन्तिम वर्ण को गुण आदेश की प्राप्ति—**हरे + ए।**

एचोऽयवायावः–सूत्रानुसार ए को अय् आदेश की प्राप्ति होकर रूप बना—**हरये।**

(हरिभ्याम्)

(हरिभ्यः)

हरि + भ्यस्।

रुत्व विसर्ग होकर रूप बना—**हरिभ्यः।**

पञ्चमी विभक्ति एकवचन

(हरेः)

हरि + ङसि।

लशक्वतद्धिते–सूत्रानुसार ङ् की इत् संज्ञा हुई—

तस्य लोपः–सूत्रानुसार इत् संज्ञक वर्ण ङ् के लोप की प्राप्ति—**हरि + असि।**

उपदेशेऽजनुनासिक इत्–सूत्रानुसार इ् की इत् संज्ञा हुई—

तस्य लोपः–सूत्रानुसार इत् संज्ञक वर्ण इ् को लोप की प्राप्ति—**हरि + अस्।**

शेषो घ्यसखि–सूत्रानुसार हरि की घि संज्ञा हुई—

घेर्ङिति–सूत्रानुसार घि संज्ञक अङ्ग (हरि) को गुण आदेश की प्राप्ति—

अलोऽन्त्यस्य–सूत्रानुसार घि संज्ञक अङ्ग के अन्तिम वर्ण को गुण की प्राप्ति—**हरे + अस्।**

ङसिङसोश्च–सूत्रानुसार ङसि का अकार परे रहने पर पूर्वरूप एकादेश की—**हरे स्।**

रुत्व विसर्ग होकर रूप बना—**हरेः।**

(हरिभ्याम्)

पूर्ववत्।

(हरिभ्यः)

पूर्ववत्।

षष्ठी विभक्ति कवचन

(हरेः)

हरि + ङस्।

षष्ठी द्विवचन

(हर्योः)

हरि + ओस्।

इको यणचि–सूत्रानुसार यण् आदेश की प्राप्ति—हर्यो स्।

रुत्व विसर्ग होकर रूप बना—**हर्योः।**

(हरीणाम्)

हरि + आम्।

ह्रस्वनद्यापो नुट्–सूत्रानुसार ह्रस्वान्त अङ्ग से पर आम् को नुट् आगम् की प्राप्ति—**हरि + नुट् + आम्।**

अनुबन्ध लोप होकर—**हरि + नाम्।**

नाऽऽमि–सूत्रानुसार अजन्त अङ्ग को दीर्घ होगा; क्योंकि नाम् शब्द परे है—

अलोऽन्त्यस्य–सूत्रानुसार अजन्त अङ्ग के अन्तिम वर्ण को दीर्घ की प्राप्ति—**हरीनाम्।**

अटकुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि–सूत्रानुसार नकार को णकार आदेश होकर रूप बना—**हरीणाम्।**

सप्तमी विभक्ति एकवचन

(हरौ)

हरि + ङि ।

शेषो घ्यसखि–सूत्रानुसार हरि की घि संज्ञा हुई—

घेर्ङिति–सूत्रानुसार घि संज्ञक अङ्ग को गुण आदेश की प्राप्ति उसे रोककर—

अच्च घेः–सूत्रानुसार ह्रस्व इकार से पर ङि को औत् और घि संज्ञक अङ्ग को अकार आदेश की प्राप्ति—**हरि + औत्** ।

हलन्त्यम्–सूत्रानुसार त् की इत् संज्ञा हुई—

तस्य लोपः–सूत्रानुसार इत् संज्ञक वर्ण त् के लोप की प्राप्ति—**हर + औ** ।

वृद्धि रेचि–सूत्रानुसार वृद्धि आदेश हुआ—**हरौ** ।

सप्तमी विभक्ति बहुवचन

(हरिषु)

हरि + सुप् ।

अनुबन्ध लोप होकर—**हरि + सु** ।

आदेश प्रत्यययोः–सूत्रानुसार सकार को षकार आदेश की प्राप्ति—**हरिषु** ।

****

१.५ अजन्तस्त्रिलिङ्गप्रकरणम्

(रमा, नदी)

१.५.१ 'रमा' शब्दान्तर्गत सूत्र-व्याख्या

औङ आपः ।७।१।१८

वृत्ति—आबन्तादङ्गात् परस्य औङः शी स्यात् । 'औङ्' इति औकारविभक्तेः संज्ञा ।

शब्दार्थ—(आपः) 'आप्' प्रत्यय से परे (औङः) 'औङ्' के स्थान पर । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'जसः शी' ७.१.१७ से 'शी' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'अङ्गस्य' ६.४.१ का यहाँ अधिकार है । यह 'अङ्गस्य' पञ्चम्यन्त में विपरिणत हो जाता है और सूत्रस्थ 'आपः' इसका विशेषण बनता है । विशेषण होने से 'आपः' में तदन्त-विधि हो जाती है । टाप्, डाप् और चाप्–इन तीन स्त्रीलिङ्गी प्रत्ययों को 'आप्' कहते हैं । सूत्रस्थ 'औङ्' में ङकार सामान्यग्रहणार्थ है, अतः 'औङ्' से 'औ' और 'औट्'–इन दो विभक्तियों का ग्रहण होता है ।

भावार्थ—आबन्त अङ्ग (जिसके अन्त में 'आप्' प्रत्यय हो) से परे 'औ' तथा 'औट्' को 'शी' आदेश होता है ।

उदाहरण—'रमा + औ' में आबन्त अङ्ग 'रमा' से परे होने के कारण 'औ' को 'शी' आदेश हुआ । तब 'लशक्वतद्धिते' १.३.८ से शकार की इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' १.६.९ से लोप हो 'रमा + ई' रूप बनेगा । फिर 'आद् गुणः' ६.१.८७ से गुण होकर 'रमे' रूप सिद्ध होगा ।

सम्बुद्धौ चँ ।७।३।१०६

वृत्ति—आप एकारः स्यात् सम्बुद्धौ । 'एङ्ह्रस्वात्—' इति सम्बुद्धिलोपः । हे रमे, हे रमे, हे रमाः । रमाम्, रमाः ।

शब्दार्थ—(च) और (सम्बुद्धौ) सम्बुद्धि परे होने पर। 'बहुवचने झल्येत्' ७.३.१०३ से 'एत्' तथा 'आङि चापः' ७.३.१०५ से 'आपः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अङ्गस्य' ६.४.१ यहाँ अधिकृत है।

भावार्थ—सम्बुद्धि परे होने पर आबन्त अङ्ग (जिसके अन्त में 'आप्' प्रत्यय हो) के स्थान पर एकार आदेश हो। 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से एकार आदेश अङ्ग के अन्त्य वर्ण के स्थान पर ही होगा।

उदाहरण—'हे रमा + स् (सु)' में सम्बुद्धि 'सु' परे होने के कारण 'रमा' के अन्त्य आकार के स्थान पर एकार आदेश होकर 'हे रमे + स्' रूप बनेगा।

आङि चापः ।७।३।१०५

वृत्ति—आङि ओसि चाप एकारः। रमया, रमाभ्याम्, रमाभिः।

शब्दार्थ—(च) और (आङि) आङ् परे होने पर (आपः) 'आप्' प्रत्यय के स्थान पर। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'बहुवचने झल्येत्' ७.३.१०३ से 'एत्' तथा 'ओसि च' ७.३.१०४ से 'ओसि' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अङ्गस्य' ६.४.१ का यहाँ अधिकार प्राप्त है। 'टा' विभक्ति को ही पूर्वाचार्यों ने 'आङ्' कहा है।

भावार्थ—'टा' तथा 'ओस्' परे होने पर आबन्त अङ्ग (जिसके अन्त में 'चाप्', 'डाप्' या 'आप्' प्रत्यय हो) के स्थान पर एकार आदेश हो। 'अलोऽन्त्यस्य' १.१५२ परिभाषा से अङ्ग के अन्त्य आकार के स्थान पर हो एकार आदेश होगा।

उदाहरण—'रमा + आ (टा)' में आङ्–'टा' परे रहते आबन्त अङ्ग 'रमा' के अन्त्य आकार को एकार होकर 'रमे + आ' रूप बनेगा। तब अयादेश होकर 'रमया' रूप सिद्ध होगा।

याडापः ।७।३।११३

वृत्ति—आपो ङितो याट्। वृद्धिः। रमायै, रमाभ्याम्, रमाभ्यः। रमायाः २। रमयोः २। रमाणाम्। रमायाम्, रमासु।

शब्दार्थ—(आपः) 'आप्' से परे.... (याट्) 'याट्' हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'घेर्ङिति' ७.३.१११ से 'ङिति' तथा अधिकार-सूत्र 'अङ्गस्य' ६.४.१ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'ङिति' षष्ठ्यन्त में और 'अङ्गस्य' पञ्चम्यन्त में विपरिणत हो जाता है। 'ङित्' का अभिप्राय ङे, ङसि, ङस् और ङि– इन चार विभक्तियों से है।

भावार्थ—आबन्त अङ्ग से परे ङे, ङसि, ङस् और ङि का अवयव 'याट्' होता है। 'याट्' में टकार इत्संज्ञक है, अतः केवल 'या' ही शेष रहता है। टित् होने के कारण 'आद्यन्तौ टकितौ' १.१.४६ परिभाषा से 'या' ङित् वचनों का आद्यावयव होगा।

उदाहरण—'रमा + ए (ङे)' में आबन्त अङ्ग 'रमा' से परे 'ङे' ङित् है, अतः उसको 'याट्' आगम होकर 'रमा + या ए' रूप बनेगा।

१.५.२ 'रमा' शब्दान्तर्गत रूपसिद्धि

प्रथमा विभक्ति एकवचन

(रमा)

रमा + स् (सु)।

अपृक्तं एकाल् प्रत्ययः–सूत्रानुसार स् की अपृक्त संज्ञा हुई—

हल् ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्य पृक्तं हल्–सूत्रानुसार स् के लोप को आदेश की प्राप्ति—**रमा।**

द्विवचन

(रमे)

रमा + औ।

वृद्धि रेचि–सूत्रानुसार वृद्धि आदेश हुआ उसे रोककर—

प्रथमयोः पूर्वसवर्णः–सूत्रानुसार पूर्व सवर्ण एकादेश हुआ उसे रोककर—

औङ आपः–सूत्रानुसार शी आदेश हुआ—**रमा + शी** ।

लशक्वतद्धिते–सूत्रानुसार श् की इत् संज्ञा हुई

तस्य लोपः–सूत्रानुसार श् का लोप हुआ—

आद् गुणः–सूत्रानुसार गुण आदेश हुआ—**रमे** ।

बहुवचन

(रमाः)

रमा + अस् (जस्)

अकः सवर्णे दीर्घः–सूत्रानुसार सवर्ण दीर्घ आदेश उसे रोककर—

प्रथमयोः पूर्वसवर्णः–सूत्रानुसार पूर्व सवर्ण दीर्घ आदेश उसे रोककर—

दीर्घाद् जॅसि च–सूत्रानुसार पूर्व सवर्ण दीर्घ एकादेश नहीं होगा ऐसी स्थिति में पुनः

अकः सवर्णे दीर्घः–सूत्रानुसार सवर्ण दीर्घ आदेश हुआ—**रमास्** ।

स् को रुत्व विसर्ग होकर—**रमाः** ।

द्वितीया विभक्ति एकवचन

(रमाम्)

रमा + अम् ।

अकः सवर्णे दीर्घ–सूत्रानुसार सवर्ण दीर्घ आदेश उसे रोककर

प्रथमयोः पूर्वसवर्णः–सूत्रानुसार पूर्व सवर्ण दीर्घ एकादेश उसे रोककर

अमि पूर्वः–सूत्रानुसार पूर्व रूप होकर रूप बना—**रमाम्** ।

बहुवचन

(रमाः)

रमा + अस् (शस्) ।

अकः सवर्णे दीर्घः–सूत्रानुसार सवर्ण दीर्घ आदेश उसे रोककर

प्रथमयोः पूर्वसवर्णः–सूत्रानुसार पूर्व सवर्ण दीर्घ एकादेश होकर—**रमास्** ।

स् को रुत्व विसर्ग होकर—**रमाः** ।

तृतीया विभक्ति एकवचन

(रमया)

रमा + आ (टा) ।

आङि चाऽऽपः–सूत्रानुसार आबन्त अङ्ग को एकार आदेश की प्राप्ति

अलोऽन्त्यस्य–सूत्रानुसार आबन्त अङ्ग के अन्तिम अल् को एकार आदेश—**रमे + आ** ।

एचोऽयवायावः–सूत्रानुसार एकार को अय् आदेश होकर रूप बना—**रमया** ।

द्विवचन

(रामाभ्याम्)

रमा + भ्याम्

रमाभ्याम् ।

चतुर्थी एकवचन

(रमायै)

रमा + ए (ङे) ।

आड् आपः–सूत्रानुसार याट् का आगम हुआ—**रमा याट् ए** ।

हलन्त्यम्–सूत्रानुसार ट् की इत् संज्ञा हुई—

तस्य लोपः–सूत्रानुसार लोप हुआ—**रमा या ए** ।

वृद्धि रेचि–सूत्रानुसार वृद्धि एकादेश होकर रूप बना—**रमायै** ।

बहवचन

(रमाभ्यः)

रमा + भ्यस् ।

स् को रुत्व विसर्ग—**रमाभ्यः** ।

पञ्चमी, षष्ठी एकवचन

(रमायाः)

रमा + अस् (ङसि, ङस्) ।

याङ् आपः–सूत्रानुसार याट् आगम हुआ—

अनुबन्ध लोपः–सूत्र से ट् का लोप—**रमा या अस्** ।

अकः सवर्णे दीर्घः–सूत्रानुसार सवर्ण दीर्घ एकादेश होकर रूप बनां—**रमाया स्** ।

रुत्व विसर्ग—**रमायाः** ।

षष्ठी द्विवचन

(रमयोः)

रमा + ओस ।

आङि चाऽऽपः–सूत्रानुसार एकार आदेश हुआ रमे + ओस् ।

एचाऽयवायावः–सूत्रानुसार अय् आदेश होकर रूप बना—**रमयो स्** ।

स् को रुत्व विसर्ग—**रमयोः** ।

षष्ठी बहुवचन

(रमाणाम्)

ह्रस्वनद्यापो नुट्–सूत्रानुसार नुट् का आगम

उ् और ट् की इत् संज्ञा तथा लोप—**रमा नाम्** ।

अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि–सूत्रानुसार न् कोण् आदेश हुआ—**रमाणाम्** ।

सप्तमी एकवचन

(रमायाम्)

रमा + ङि ।

ङेराम् नद्याम्नीभ्यः–सूत्रानुसार ङि को आम् आदेश—**रमा + आम्** ।

स्थानिवदादेशोऽनल् विधौ–सूत्रानुसार आम् को ङि के समान ही समझा जाये

याङ् आपः–सूत्रानुसार याट् आगम—**ट् की इत् सतां लोप** ।

रमा या आम् ।

अकः सवर्णे दीर्घः–सूत्रानुसार सवर्ण दीर्घ आदेश होकर रूप बना—**रमायाम्** ।

बहुवचन

(रमासु)

रमा + सु (सुप्) ।

रमासु ।

****

१.६ 'नदी' शब्दान्तर्गत सूत्र-व्याख्या

नदी

यू स्त्र्याख्यौ नदी ।१।४।३

वृत्ति—ईदूरन्तौ नित्यस्त्रीलिङ्गौ नदीसञ्ज्ञौ स्तः ।

शब्दार्थ—(यू = ई च ऊ च) दीर्घ ईकारान्त और ऊकारान्त (स्त्र्याख्यौ) नित्यस्त्रीलिङ्गी शब्द (नदी) नदीसंज्ञक हो ।

भावार्थ—नित्यस्त्रीलिङ्ग उन शब्दों को कहते हैं जिनका प्रयोग केवल स्त्रीलिग में ही होता है, अन्य लिङ्ग में नहीं ।

उदाहरण—'गौरी' 'नदी' और 'वधू' आदि शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग हैं; क्योंकि इनका स्त्रीलिङ्ग के अतिरिक्त अन्य किसी लिङ्ग में प्रयोग नहीं होता । ईकारान्त और ऊकारान्त होने के कारण ये शब्द 'नदी'संज्ञक भी हैं ।

अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः ।७।३।१०७

वृत्ति—सम्बुद्धौ ।

शब्दार्थ—(अम्बार्थनद्योः) अम्बा के अर्थवाले और नदीसंज्ञक के स्थान पर (ह्रस्वः) ह्रस्व हो । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'सम्बुद्धौ च' ७.३.१०६ से 'सम्बुद्धौ' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'अङ्गस्य' ६.४.१ यह यहाँ अधिकृत है ।

भावार्थ—अम्बा (माता) अर्थवाले तथा नद्यन्त अङ्गों के स्थान पर सम्बुद्धि परे होने पर ह्रस्व आदेश होता है । 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से यह ह्रस्वादेश अङ्ग के अन्त्य वर्ण के स्थान पर होगा ।

उदाहरण—'हे बहुश्रेयसी + स्' में 'श्रेयसी' की नदी संज्ञा है और नद्यन्त शब्द 'बहुश्रेयसी' है ।

आण् नद्याः ।७।३।११२

वृत्ति—नद्यन्तात् परेषां ङिन्तामाडागमः ।

शब्दार्थ—(नद्याः) 'नदी' संज्ञक से पर (आण् = आट्) आट् होता है । 'घेर्ङिति' ७.३.१११ से 'ङिति' तथा अधिकार-सूत्र 'अङ्गस्य' ६.४.१ की अनुवृत्ति करनी होगी । 'अङ्गस्य' पञ्चम्यन्त में और 'ङिति' षष्ठ्यन्त में विपरिणत हो जाता है । विशेषण होने से 'नद्याः' में तदन्त-विधि से हो जाती है ।

भावार्थ—नद्यन्त अङ्ग (जिस अङ्ग के अन्त में कोई नदीसंज्ञक शब्द हो) से परे ङित् (ङे, ङसि, ङस् और ङि) का अवयव आट् (आ) होता है । '६५–आद्यन्तौ टकितौ' १.१.४६ परिभाषा द्वारा टित् होने के कारण 'आट्' आगम ङितों का आद्यवयव होगा ।

उदाहरण—चतुर्थी एकवचन में 'बहुश्रेयसी + ए (ङे)' इस स्थिति में नद्यन्त शब्द 'बहुश्रेयसी' से परे होने के कारण ङित्–एकार को 'आट्' आगम होगा ।

आटश्च ।६।१।९०

वृत्ति—आटोऽचि परे वृद्धिरेकादेशः ।

शब्दार्थ—(च) और (आटः) आट् से । किन्तु इससे सूत्र का आशय स्पष्ट नहीं होता । इसके लिए 'इको यणचि' ६.१.७७ से 'अचि' तथा 'वृद्धिरेचि' ६.१.८८ से 'वृद्धिः' की अनुवृत्ति करनी होगी । साथ ही 'एकः पूर्वपरयोः' ६.१.८४ का अधिकार भी प्राप्त होता है ।

भावार्थ—आट् से अच् (कोई स्वर) परे होने पर पूर्व पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश होता है ।

उदाहरण—'बहुश्रेयसी + आ ए' में 'आट्' से अच्–एकार परे होने पर वृद्धि–ऐकार एकादेश होकर 'बहुश्रेयसी + ऐ' रूप बना ।

ङेराम्नद्याम्नीभ्यः ।७।३।११६

वृत्ति—नद्यान्ताद, आबन्ताद, 'नी'शब्दाश्च परस्य ङेराम् ।

शब्दार्थ—(नद्याग्नीभ्यः) 'नदी'संज्ञक शब्द, 'आप्' प्रत्यय तथा 'नी' से पर (ङेः) ङि के स्थान पर (आम्) आम् आदेश होता है। नित्यस्त्रीलिङ्ग ईकारान्त और ऊकारान्त शब्दों की नदीसंज्ञा होती है। 'आप्' में 'चाप्', 'डाप्' और 'टाप्'—इन तीन प्रत्ययों का समावेश होता है। 'प्रत्यय ग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा से यहाँ आबन्त शब्दों का ग्रहण होगा। 'अङ्गस्य' ६.४.१ सूत्र से यहाँ अङ्गधिकार प्राप्त है।

भावार्थ—नद्यनत (जिनके अन्त में नदीसंज्ञक शब्द हो), आबन्त (जिनके अन्त में 'आप्' प्रत्यय हों) और 'नी'—इन अङ्गों से परे ङि के स्थान पर 'आम्' आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'बहुश्रेयसी + ङि' में नद्यन्त अङ्ग से परे होने के कारण 'ङि' के स्थान पर 'आम्' आदेश होकर 'बहुश्रेयसी + आम्' रूप बनेगा। इस अवस्था में 'आम्' को आट् आगम, 'आटश्च' ६.१.९० से वृद्धि तथा यण् होकर 'बहुश्रेयस्याम्' रूप सिद्ध होगा।

१.६.१ 'नदी' शब्दान्तर्गत रूपसिद्धि

प्रथमा एकवचन

(शब्द–नदी)

नदी + सू (सु)–

अपृक्तं एकाल् प्रत्ययः–सूत्र से स् की अपृक्तं सतां हुई—

हल् ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्य पृक्तं हल्–सूत्र से स् का लोप होकर रूप बना।

प्रथमा द्विवचन नद्यौ

नदी + औ

इको यणचि–सूत्रानुसार यण् आदेश होकर रूप बना—**नद्यौ**

प्रथमा बहुवचन - नद्यः

नदी + अस् (जस्)

इकोयणचि–सूत्रानुसार यण् आदेश होकर रूप बना—

नद्यस्–रुत्व विसर्ग होकर—**नद्यः**।

द्वितीया एकवचन - नदीम्

नदी + अम्

इकोयणचि–सूत्रानुसार यण् आदेश हुआ उसे रोककर—

प्रथमयोः पूर्वसवर्णः–सूत्रानुसार पूर्ण सवर्ण दीर्घ एकादेश की प्राप्ति, किन्तु पुनः उसे रोककर—

अभि पूर्वः–सूत्रानुसार पूर्वरूप आदेश होकर रूप बना—**नदीम्**

द्वितीया द्विवचन - नद्यौ

पूर्ववत्। रूपसिद्धि।

द्वितीया बहुवचन - नदीः

नदी + अस् (शस्)

इकोयणचि–उसे रोककर

तृतीया एकवचन- नद्या

नदी + आ (टा)

इको यणचि–यप् आदेश होकर रूप बना—**नद्या**।

तृतीया द्विवचन - नदीभ्याम्

नदी + भ्याम् ।

तृतीया बहुवचन - नदीभिः

नदी + भिस् ।

स् को रुत्व विसर्ग—बहुश्रेयसीभिः ।

चतुर्थी विभक्ति एकवचन

(नद्यै)

नदी + ए (ङे) ।

यू स्त्र्याख्यौ नदी–सूत्र से नदी संज्ञा हुई—

आण् नद्याः–सूत्रानुसार ङे को आट् आगम होकर—**नदी + आट् + ए** ।

अनुबन्ध लोपः से ट् का लोप होकर—**नदी + आ + ए** ।

आटश्च–सूत्रानुसार वृद्धि एकादेश होकर—**नदी + ऐ** ।

इको यणचि–सूत्रानुसार यण् आदेश होकर रूप बना—**नद्यै** ।

(नदीभ्याम्)

पूर्ववत् ।

बहुवचन -नदीभ्यः

नदी + भ्यस् ।

रुत्व विसर्ग होकर—**बहुश्रेयसीभ्यः** ।

पञ्चमी विभक्ति एकवचन

(नद्याः)

नदी + अस् (ङसि) ।

यू स्त्र्याख्यौ नदी–सूत्रानुसार बहुश्रेयसी की नदी सत्तां हुई

आण् नद्याः–सूत्रानुसार ङसि को आट् आगम होकर नदी + आट् + अस्

अनुबन्ध लोप होकर ट् का लोप होकर—

आट्श्च–नदी आ अस् = नदी आस् ।

इको यणचि–सूत्रानुसार यण् आदेश होकर रूप बना—**नद्यास** ।

रुत्व विसर्ग स्–**नद्याः**

षष्ठीविभक्ति द्विवचन

(नद्योः)

नदी + ओस् ।

इको यणचि–सूत्रानुसार यण् आदेश होकर रूप बना—नद्योस्

रुत्व विसर्ग–**नद्योः**

बहुवचन

(नदीनाम्)

नदी + आम् ।

यू स्त्र्याख्यौ नदी–सूत्रानुसार नदी की नदी संज्ञा हुई—

ह्रस्वनद्यापो नुट्–सूत्रानुसार नुट् का आगम— नदी नुट् आम्

ट् की इत् संज्ञा तथा लोप— नदी न् आम्

इ की इत् संज्ञा लोप—**नदीनाम्** ।

सप्तमी विभक्ति एकवचन

(नद्याम्)

नदी + ङि ।

यू स्त्र्याख्यौ नदी–सूत्रानुसार बहुश्रेयसी की नदी संज्ञा हुई—

ङेराम् नद्याम्नीभ्यः–सूत्रानुसार ङि को आम् आदेश होकर—**नदी + आम्** ।

स्थानिवदादेशोऽनल् विधौ–सूत्रानुसार ङि का आट् आगम—**नदी + आट् आम्** ।

ट् की इत् संज्ञा हुई

नदी आ आम्

इको यणचि–सूत्रानुसार यण् आदेश होकर रूप बना—**नद्याम्** ।

बहुवचन

(नदीषु)

नदी + सुप् । (प् की इत्संज्ञा, लोप)

आदेश प्रत्यययोः–सूत्रानुसार स् को ष आदेश होकर—**नदीषु** ।

१.७ अजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरण्

(ज्ञान)

१.७.१ 'ज्ञान' शब्दान्तर्गत सूत्र-व्याख्या

अतोऽम् ।७।१।२४

वृत्ति—अतोऽङ्गात् क्लीबाद् स्वमोरम् । अमि पूर्वः—ज्ञानम् । 'एङ्ह्रस्वात्–०' इति हल्लोपः—हे ज्ञान ।

शब्दार्थ—(अतः) ह्रस्व अकार से पर (अम्) अम् हो । इसके स्पष्टीकरण के लिए सम्पूर्ण 'स्वमोर्नपुंसकात्' ७.१.२३ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी । साथ ही अधिकार-सूत्र 'अङ्गस्य' ६.४.१ का भी पञ्चम्यन्त में अनुवर्तन होगा ।

भावार्थ—ह्रस्व अकारान्त नपुंसक अङ्ग से परे 'सु' और 'अम्' के स्थान पर 'अम्' आदेश होता है । अनेकाल् होने के कारण 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' १.१.५५ परिभाषा से यह आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होगा ।

उदाहरण—'ज्ञान + सु' में ह्रस्व अकारान्त नपुंसक अङ्ग 'ज्ञान' से परे होने के कारण 'सु' को 'अम्' आदेश होता है ।

नपुंसकाच्च ।७।१।१९

वृत्ति—क्लीबाद् औङः शी स्यात् । भसञ्ज्ञायाम्—

शब्दार्थ—(च) और (नपुंसकात्) नपुंसक से पर । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'जसः शी' ७.१.१७ से 'शी' तथा 'औङ आपः' ७.१.१८ से 'ओङः' की अनुवृत्ति करनी होगी । पूर्ववत् 'अङ्गस्य' ६.४.१ का अधिकार यहाँ भी है ।

भावार्थ—नपुंसक अङ्ग से परे औङ् के स्थान पर 'शी' आदेश हो । 'औङ्' प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन—'औ' और 'औट्'–की संज्ञा है । अतः नपुंसक अङ्ग से परे होने पर 'औ' और 'औट्' के

स्थान पर 'शी' आदेश होगा।

उदाहरण—'ज्ञान + औ' में नपुंसक अङ्ग 'ज्ञान' से परे होने के कारण 'औ' को 'शी' आदेश होगा और अनुबन्ध-लोप करने पर 'ज्ञान + ई' रूप बनेगा।

यस्येति चँ।६।४।१४८

वृत्ति—ईकारे तद्धिते च परे भस्येवर्णावर्णयोर्लोपः। इत्यलोपे प्राप्ते—

(वा०) औङः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः। ज्ञाने।

शब्दार्थ—(च) और (ईति) ईकार परे होने पर (यस्य = इश्च अश्च इति यम्, तस्य) इवर्ण और अवर्ण के स्थान पर। इसके स्पष्टीकरण के लिए सम्पूर्ण 'भत्य' ६.४.१२९ सूत्र, 'अल्लोपोऽनः' ६.४.१३४ से 'लोपः' तथा 'नस्तद्धिते' ६.४.१४४ से 'तद्धिते' की अनुवृत्ति करनी होगी।

भावार्थ—ईकार अथवा तद्धित प्रत्यय परे होने पर भसांक इवर्ण और अवर्ण का लोप हो जाता है। उदाहरण के लिए 'ज्ञान + ई' में 'ई' 'औ' के स्थान पर आदेश होने के कारण स्थानिवद्भाव से स्वादि है, किञ्च यह सर्वनामस्थानभिन्न अजादि भी है। अतः इसके परे होने पर '१.६५–यचि भम्' से 'ज्ञान' शब्द की भसंज्ञा होती है। अब प्रकृत सूत्र से भसंज्ञक अङ्ग 'ज्ञान' के अन्त्य अकार रूप अवर्ण का ईकार परे होने से लोप प्राप्त होता है।

(वा०) औङ इति—औङ् ('औ' और 'औट्') के स्थान पर आदेश हुए 'शी' के परे होने पर 'यस्येति च' ६.४.१४८ सूत्र प्रवृत्त नहीं होता है।

उदाहरण—'ज्ञान + ई' में वार्तिक के द्वारा 'यस्येति च' से प्राप्त अकार-लोप का निषेध हो जाता है। तब गुण–एकार होकर 'ज्ञाने' रूप सिद्ध होता है।

जश्शसोः शिः।७।१।२०

वृत्ति—क्लीबादनयोः शिः स्यात्।

शब्दार्थ—(जश्शसोः) जस् और शस् के स्थान पर (शिः) 'शि' हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'नपुंसकाच्च' ७.१.१९ से 'नपुंसकात्' की अनुवृत्ति करनी होगी।

भावार्थ—नपुंसकलिङ्ग अङ्ग से परे 'जस्' और 'शस्' को 'शि' आदेश होता है। उदाहरण के लिए नपुंसकलिङ्गी 'ज्ञान' के परे 'जस्' और 'शस्' को 'शि' आदेश हुआ।

शि सर्वनामस्थानम्।१।४।४२

वृत्ति—शि इत्येतद् उक्तसञ्ज्ञं स्यात्।

शब्दार्थ—(शि) शि (सर्वनामस्थानम्) सर्वनामस्थानसंज्ञक हो। इस सूत्र के द्वारा 'ज्ञान + ई' में 'शि' के शेष इकार की सर्वनामस्थान संज्ञा होगी।

नपुंसकस्य झलचः।७।१।७२

वृत्ति—झलन्तस्याजन्तस्य च क्लीबस्य नुम् स्यात् सर्वनामस्थाने।

शब्दार्थ—(नपुंसकस्य) नपुंसकलिङ्गी (झलचः) झलन्त और अजन्त के। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'इदितो नुम् धातोः' ७.१.५८ से 'नुम्' तथा 'उगिदचां सर्वनाम-स्थानेऽधातोः' ७.१.७० से 'सर्वनामस्थाने' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अङ्गस्य' ६.४.१ यह यहाँ अधिकृत है। झल् प्रत्याहार में सभी वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्ण तथा श्, ष्, स्, ह् का समावेश होता है। अच् प्रत्याहार में सभी स्वर सम्मिलित हैं। सु, औ, अस्, अम् और औट्—इन पाँच प्रत्ययों की सर्वनामस्थान संज्ञा है।

भावार्थ—सर्वनामस्थान (सु, और आदि) परे होने पर झलन्त (जिसके अन्त में कोई झल् वर्ण हो) और अजन्त (जिसके अन्त में कोई स्वर हो) नपुंसकलिङ्ग अङ्ग का अवयव 'नुम्' (न्) हो। 'नुम्' का 'उम्' इत्संज्ञक है, अतः नकार ही शेष रहता है।

उदाहरण—'ज्ञान + इ' में सर्वनामस्थान 'शि' पर है और 'ज्ञान' अङ्ग अजन्त है। अतः प्रकृत सूत्र से नुम् का आगम प्राप्त होता है।

मिदचो ऽन्त्यात् परः ।१।१।४७

वृत्ति—अचां मध्ये योऽन्त्यः तस्मात् परस्तस्यैवान्तावयवो मित् स्यात् । उपधा-दीर्घः—ज्ञानानि । पुनस्तद्वत् । शेषं पुंवत् । एवं धनवनफलादयः ।

शब्दार्थ—(अचः) अचों में से (अन्त्यात्) अन्त्य से (परः) पर (मित्) मित् होता है ।

शब्दार्थ—तात्पर्य यह कि अचों में से अन्त्य अच् के पश्चात् ही मित् होता है । अच् स्वर को कहते हैं और 'अन्त्य' का अर्थ है—अन्त में आने वाला । 'मित्' उसको कहते हैं जिसका मकार इत्संज्ञक हो । इस प्रकार प्रकृतसूत्र के अनुसार मित् यदि किसी समुदाय का अवयव होगा, तो उस समुदाय के अन्तिम स्वर के पश्चात् ही आवेगा ।

उदाहरण—'ज्ञान + इ' में '२३९-नपुंसकस्य-०' से 'नुम्' (न्) 'ज्ञान'—इस समुदाय का अवयव होता है । 'नुम्' में मकार इत्संज्ञक है, अतः मित् होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'नुम्' अन्त्य अच्-नकारोत्तरवर्ती अकार से परे रखा जायेगा और 'ज्ञान' शब्द का अन्तावयव होगा—'ज्ञानन् + ई' ।

१.७.२ 'ज्ञान'शब्दान्तर्गत रूपसिद्धि

द्वितीया और प्रथमा विभक्ति एकवचन

(ज्ञानम्)

ज्ञान + सु । **ज्ञान + अम्** ।

स्वमोर्नपुंसकात्–सूत्रानुसार नपुंसकलिङ्ग शब्द ज्ञान से परे सु का लोप हो उसे रोककर—

अतोऽम्–सूत्रानुसार अदन्त नपुंसलिङ्ग से अङ्ग ज्ञान से पर सु को अम् आदेश हो—**ज्ञान + अम्** ।

अकः सवर्णे दीर्घः–सूत्रानुसार दीर्घ एकादेश उसे रोककर—

अमि पूर्वः–सूत्रानुसार पूर्वरूप एकादेश होकर रूप बना—**ज्ञानम्** ।

प्रथमा और द्वितीया विभक्ति का द्विवचन

(ज्ञाने)

ज्ञान + औ ।

नपुंसका च्चे–सूत्रानुसार नपुंसक अङ्ग ज्ञान से पर औ ङ् है अतः शी आदेश हुआ—**ज्ञान + शी** ।

लशक्वतद्धिते–सूत्रानुसार शकार की इत् संज्ञा हुई—

तस्य लोपः–सूत्रानुसार शकार का लोप हो गया—**ज्ञान + इ** ।

आद् गुणः–सूत्रानुसार गुण आदेश उसे रोककर—

यचि भम्–सूत्रानुसार ज्ञान की भ संज्ञा हुई—

यास्येति–सूत्रानुसार भ संज्ञक अङ्ग ज्ञान के अवर्ण का लोप हो उसे रोककर—

वा० औङः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः–सूत्रानुसार अकार का लोप नहीं ऐसी स्थिति में—

आद् गुणः–सूत्रानुसार गुण आदेश होकर रूप बना—**ज्ञाने** ।

प्रथमा व द्वितीया का बहुवचन

(ज्ञानानि)

ज्ञान + जस् ।

जश्शसोः शिः–सूत्रानुसार नपुंसकलिङ्ग अङ्ग से पर जस् को शि आदेश हुआ—**ज्ञान + शि** ।

लशक्वतद्धिते–सूत्रानुसार शकार की इत् संज्ञा हुई—

तस्य लोपः–सूत्रानुसार उसका लोप हो गया—**ज्ञान + इ** ।

शि सर्वनामस्थानम्–सूत्रानुसार शि की सर्वनामस्थान संज्ञा हुई—

नपुसंकस्य झलचः–सूत्रानुसार नपुसंकलिङ्ग अङ्ग को **नुम्** आगम हो; क्योंकि सर्वनामस्थान संज्ञक शि पर मे है—नुम् के उम् की इत् संज्ञा तथा लोप।

मिदचोऽन्त्यात् परः–सूत्रानुसार ज्ञान को अन्तिम अवयव नुम् है—**ज्ञानन् + इ**।

अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा–सूत्रानुसार नकार के अकार की उपधा संज्ञा हुई—

सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ–सूत्रानुसार उपधा को दीर्घ हुआ—**ज्ञानानि**।

****

—o*o—

इकाई –२ हलन्तपुल्लिङ्गप्रकरणम्

(राजन्, इदम्)

२.१.१ 'राजन्' शब्दान्तर्गत सूत्र-व्याख्या

न ङि–सम्बुद्ध्योः ।८।२।८

नस्य लोपो न ङौ सम्बुद्धौ च । हे राजन् ।

(वा०) ङावुत्तरपदे प्रतिषेधो वक्तव्यः । ब्रह्मनिष्ठः । राजानौ, राजानौ, राजानः । राज्ञः ।

शब्दार्थ—(ङि-सम्बुद्ध्योः) ङि और सम्बुद्धि परे होने पर (न) नहीं होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' ८.२.७ से 'नः' और 'लोपः' की अनुवृत्ति करनी होगी ।

भावार्थ—यदि ङि अथवा सम्बुद्धि परे हो तो नकार का लोप नहीं होता । यह '१८०–न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' सूत्र का अपवाद है ।

उदाहरण—'हे राजन् + स् (सु)' सम्बुद्धि परे होने से प्रकृत सूत्र से नकार का लोप नहीं हुआ । '१७९–हल्ङ्याब्भ्यः–०' से अन्त्य सकार का लोप होकर 'हे राजन्' रूप सिद्ध होता है ।

(वा०) ङावुत्तरपदेति—उत्तरपदपरक 'ङि' के परे होने पर '१८१–न ङिसम्बुद्ध्योः' सूत्र का निषेध कहना चाहिये अर्थात् इस अवस्था में नकार का लोप हो जाता है। उत्तरपद समास के अन्त अवयव को कहते हैं—'उत्तरपदं समासचरमावयवे रूढम्' ।

उदाहरण—'ब्रह्मनिष्ठः' (ब्रह्मणि निष्ठा यस्य स ब्रह्मनिष्ठः) में 'निष्ठा' उत्तरपद है । अतः 'ब्रह्मन् ङि निष्ठा सु' में उत्तरपदपरक 'ङि' परे होने पर '१८०–न लोपः प्रातिपदि-कान्तस्य' से नकार लोप होकर 'ब्रह्मनिष्ठा' रूप बनता है । फिर ह्रस्व होकर विभक्ति-कार्य करने पर 'ब्रह्मनिष्ठः' रूप सिद्ध होता है ।

नलोपः सुप्-स्वर-संज्ञा-तुग्विधिषु कृति ।८।२।२

सुब्विधौ स्वरविधौ सञ्ज्ञाविधौ कृति तुग्विधौ च नलोपोऽसिद्धो नान्यत्र 'राजाश्वः' इत्यादौ । इत्यसिद्धत्वाद्–आत्वम्, एत्वम्, ऐस्त्वं च न । राजभ्याम्, राजभिः, राजभ्यः२ । राजनि, राज्ञि । राजसु ।

शब्दार्थ—(सुप्-स्वर-संज्ञा-तुग्विधिषु कृति) सुप् सम्बन्धी विधान, स्वरविधान, संज्ञाविधान तथा कृत् प्रत्यय परे होने पर तुग्विधान करने में (नलोपः) नकार का लोप । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'पूर्वत्राऽसिद्धम्'८.२.१ से 'असिद्धः' (विभक्ति-विपरिणाम करके) की अनुवृत्ति करनी होगी । सुप्सम्बन्धी विधि दो प्रकार की हो सकती है—१. सुप्निमित्तक और २. सुप्स्थानिक । **'सुपि च'** ७.३.१०२ से दीर्घ सुप् परे होने पर होता है, अतः यह सुप्निमित्तक है । **'अतो भिस ऐस्'** ७.२.१ **से सुप् 'भिस्' के स्थान** पर 'ऐस्' आदेश होता है, अतः यह सुप्स्थानिक विधि है । 'बहुवचने झल्येत्' ७.३.१०३ भी सुप्निमित्तक विधि होने से सुप् सम्बन्धी विधि है ।

भावार्थ—सुप् सम्बन्धी विधान, स्वर-विधान, संज्ञा-विधान तथा कृत् प्रत्यय परे रहते तुग्विधान के विषय में नकार-लोप असिद्ध होता है अर्थात् वह न होने के समान समझा जाता है । यद्यपि '३६–पूर्वत्राऽसिद्धम्' सूत्र से भी नकारलोप असिद्ध हो जाता है तथापि पुनः नकारलोप की असिद्धि का कथन नियमार्थ है—'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः' । तात्पर्य यह कि यदि नकार का लोप असिद्ध हो, तो सुप्, संज्ञा, स्वर और तुग्विधि में ही हो, अन्यत्र नहीं । इसीलिए 'राज्ञः अश्वो = राजाश्वः' इत्यादि स्थलों में 'राजन् + अश्वः' इस अवस्था में नकारलोप करने पर '४२–अकः सवर्णे दीर्घः' सूत्र के प्रति नलोप असिद्ध नहीं होता; क्योंकि यह सूत्र सुप् आदि विधियों में नहीं आया है ।

सुप् विधि का उदाहरण—'राज + भ्याम्' 'सुपि च' से आत्व प्राप्त है, किन्तु इसके प्रति नकार का लोप असिद्ध होने के कारण आत्व कार्य न होकर 'राजभ्याम्' रूप ही बनेगा ।

२.१.२ 'राजन्' शब्दान्तर्गत रूपसिद्धि

प्रथमा विभक्ति एकवचन

(राजन्)

राजन् + स् (सु) ।

अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा–सूत्रानुसार जकार के अकार की उपधा संज्ञा हुई–

सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ–सूत्रानुसार उपधा को दीर्घ हुआ–**राजान् + स् ।**

अपृक्तं एकाल् प्रत्ययः–सूत्रानुसार स् की अपृक्त संज्ञा हुई–

हल् ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्य पृक्तं हल्–सूत्रानुसार अपृक्त संज्ञक स् का लोप हुआ–**राजान् ।**

न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य–सूत्रानुसार नकार का लोप होकर रूप बना–**राजा ।**

प्रथमा विभक्ति द्विवचन

(राजानौ)

राजन् + औ ।

अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा–सूत्रानुसार जकार के अकार की उपधा संज्ञा हुई–

सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ–सूत्रानुसार उपधा को दीर्घ हुआ–**राजानौ ।**

प्रथमा विभक्ति बहुवचन

(राजानः)

राजन् + अस् (जस्) ।

अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा–सूत्रानुसार जकार के अकार की उपधा संज्ञा हुई–

सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ–सूत्रानुसार उपधा को दीर्घ हुआ–**राजान् + स् ।**

स् को रुत्व विसर्ग–**राजानः ।**

द्वितीया विभक्ति एकवचन

(राजनम्)

राजन् + अम् ।

अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा–सूत्रानुसार जकार के अकार को उपधा संज्ञा हुआ–

सर्वनामस्थानेचाऽसम्बुद्धौ–सूत्रानुसार उपधा को दीर्घ हुआ–**राजान् + अम् ।**

अभि पूर्वः–सूत्रानुसार पूर्वरूप आदेश होकर रूप बना–**राजानम् ।**

द्वितीया विभक्ति बहुवचन

(राज्ञः)

राजन् + अस् (**शस्**) ।

अल्लोपोऽनः–सूत्रानुसार अन् के अकार का लोप हुआ–**राज् न् अस् ।**

स्तोः श्चुना श्चुः–सूत्रानुसार न् को ञ् आदेश–**राज् ञ् अस् ।**

ज्ञञोर्ज्ञः–सूत्रानुसार ज् और ञ् के संयोग में ज्ञ बनकर रूप बना–**राज्ञः ।**

तृतीया विभक्ति एकवचन

(राज्ञा)

राजन् + आ (टा) ।

अल्लोपोऽनः–सूत्रानुसार अन् के अकार का लोप हुआ—**राज् न् आ।**

स्तोः श्चुना श्चुः–सूत्रानुसार न् को ञ् आदेश—**राज् ञ् आ।**

जञोर्ज्ञः–सूत्रानुसार ज् और ञ् के संयोग में ज्ञ बनकर रूप बना—**राज्ञा।**

तृतीया विभक्ति द्विवचन

(राजभ्याम्)

राजन् + भ्याम्।

न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य–सूत्रानुसार न् का लोप हुआ—**राज + भ्याम्।**

सुपि च–सूत्रानुसार अदन्त अङ्ग को दीर्घ आदेश उसे रोककर—

न लोपः सुप्-स्वर-संज्ञा-तुग्वि धिषु कृति–सूत्रानुसार नकार का लोप असिद्ध है अतः सुपि च से दीर्घ न होकर रूप बना—**राजभ्याम्।**

तृतीया विभक्ति बहुवचन

(राजभिः)

राजन् + भिस्।

न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य–सूत्रानुसार नकार का लोप होकर—**राज + भिस्।**

अतो भिस ऐस्–सूत्रानुसार भिस् को ऐस् आदेश उसे रोककर—

न लोपः सुप्-स्वर-संज्ञा-तुग्वि धिषु कृति–सू[illegible]र नकार का लोप असिद्ध है अतः भिस को ऐस् आदेश नहीं होकर रूप बना—**राजभि स्।**

स् को रुत्व विसर्ग होकर—**राजभिः।**

चतुर्थी विभक्ति एकवचन

(राज्ञे)

राजन् + ए (ङे)।

अल्लोपोऽनः–सूत्रानुसार अन् के अकार के लोप का आदेश—**राजन् न् ए।**

स्तोः श्चुना श्चुः–सूत्रानुसार न् को ञ् की प्राप्ति—**राज् ञ् ए।**

जञोर्ज्ञः–सूत्रानुसार ज् व ञ् के संयोग से ज्ञ बनकर रूप बना—**राज्ञे।**

चतुर्थी विभक्ति बहुवचन

(राजभ्यः)

राजन् + भ्यस्।

न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य–सूत्रानुसार न् का लोप हुआ—**राज + भ्यस्।**

बहुवचने झल्येत्–सूत्रानुसार अदन्त अङ्ग को एकार आदेश, उसे रोककर—

न लोपः सुप्-स्वर-संज्ञा-तुग्वि धिषु कृति–सूत्रानुसार न् का लोप असिद्ध है अतः एकार आदेश नहीं होगा तब रूप बना—**राजभ्य स्।**

स् को रुत्व विसर्ग—**राजभ्यः।**

पञ्चमी और षष्ठी एकवचन

(राज्ञः)

राजन् + अस् (ङसि, ङस्)।

अल्लोपोऽनः–सूत्रानुसार अन् के अकार के लोप का आदेश—**राज् न् + अस्।**

स्तोः श्चुना श्चुः–सूत्रानुसार न् के स्थान पर ञ् आदेश—**राज् ञ् अस्।**

जञोर्ज्ञः–सूत्रानुसार ज् और ञ् के योग से ज्ञ होकर रूप बना—**राज्ञः** ।

षष्ठी विभक्ति द्विवचन

(राज्ञोः)

राजन् + ओस् ।

अल्लोपोऽनः–सूत्रानुसार अन् के अकार के लोप का आदेश—**राज् न् + ओस्** ।

स्तोः श्चुना श्चु–सूत्रानुसार न् को ञ् आदेश—**राज् ञ् ओस्** ।

जञोर्ज्ञः–सूत्रानुसार ज् और ञ् के संयोग से ज्ञ होकर रूप बना—**राज्ञोः** ।

षष्ठी विभक्ति बहुवचन

(राज्ञाम्)

राजन् + आम् ।

अल्लोपोऽनः–सूत्रानुसार अन् के अकार के लोप का आदेश—**राज् न् + आम्** ।

स्तोः श्चुना श्चु–सूत्रानुसार न् के स्थान पर ञ् आदेश—**राज् ञ् ओस्** ।

जञोर्ज्ञः–सूत्रानुसार ज् और ञ् के योग से ज्ञ होकर रूप बना—**राज्ञोः** ।

सप्तमी विभक्ति एकवचन

(राज्ञि)

राजन् + इ (ङि) ।

विभाषा ङिश्योः–सूत्रानुसार अन् के अकार का लोप हो विकल्प से—**राज् न् इ** ।

स्तोः श्चुना श्चु–सूत्रानुसार न् को ञ् आदेश—**राज् ञ् इ** ।

जञोर्ज्ञः–सूत्रानुसार ज् व ञ् के संयोग से ज्ञ बना—**राज्ञि** ।

सप्तमी विभक्ति बहुवचन

(राजसु)

राजन् + सु (प्) ।

न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य–सूत्रानुसार न् का लोप हुआ—**राज + सु** ।

बहुवचने झल्येत्–सूत्रानुसार अदन्त अङ्ग को एकार आदेश, उसे रोककर—

न लोपः सुप्-स्वर-संज्ञा-तुग्विधिषु कृति–सूत्रानुसार न् का लोप असिद्ध है अतः एकार आदेश होकर रूप बना—**राजसु** ।

****

२.२ हलन्त पुल्लिंग प्रकरण 'इदम्' शब्द

२.२.१ 'इदम्' शब्दान्तर्गत सूत्र व्याख्या

इदमो मः ।७।२।१०८

सौ । त्यदाद्यत्वापवादः ।

शब्दार्थ—(इदम:) 'इदम्' के स्थान पर (म:) मकार आदेश हो । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'तदो: स: सावनन्त्ययो:' ७.२.१०६ से 'सौ' की अनुवृत्ति करनी होगी ।

भावार्थ—'इदम्' शब्द के स्थान पर 'सु' परे होने पर मकार आदेश होता है। 'अलोऽ-न्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से 'इदम्' के अन्त्य वर्ण मकार के स्थान पर ही मकार आदेश होगा । मकार को पुन: मकार आदेश करने का तात्पर्य '१९३–त्यदादीनाम:' सूत्र द्वारा प्राप्त अकारादेश का निषेध करना है । अभिप्राय यह कि 'इदम्' का मकार 'सु' परे होने पर मकाररूपेण ही स्थित रहता है, उसके स्थान पर अन्य कुछ आदेश नहीं होता ।

उदाहरण—'इदम् + स् (सु)' में मकार को मकार ही रहेगा, अकार नहीं होगा ।

इदोऽय् पुंसि ।७।२।१११

इदम इदोऽय् सौ पुंसि । अयम् ।

शब्दार्थ—(पुंसि) पुँल्लिङ्ग में (इद:) इद् के स्थान पर (अय्) 'अय्' होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'इदमो म:' ७.२.१०८ से 'इदम:' और 'य: सौ' ७.२.११० से 'सौ' की अनुवृत्ति करनी होगी ।

भावार्थ—यदि 'सु' परे हो, तो पुँल्लिङ्ग में 'इदम्' शब्द के 'इद्' भाग के स्थान पर 'अय्' आदेश होता है । 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' १.१.५५ परिभाषा से अय् आदेश सम्पूर्ण 'इद्' के स्थान पर होगा । 'अय्' में ग्रहणसामर्थ्य से यकार का लोप न होगा और प्रयोजनाभाव से इत्संज्ञा भी न होगी ।

उदाहरण—'इदम् + स् (सु)' में पुँल्लिङ्ग होने पर 'इद्' भाग को अय् आदेश होकर 'अय् अम् स्' रूप बनेगा ।

अतो गुणे ।६।१।९७

अपदान्तादतो गुणे पररूपमेकादेशः ।

शब्दार्थ—(अत:) ह्रस्व अकार से (गुणे) गुण परे होने पर । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'एङि पररूपम्' ६.१.९४ से 'पररूपम्' तथा 'उस्य पदान्तात्' ६.१.९६ से 'अपदा-न्तात्' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'एक: पूर्वपरयो:' ६.१.८३ यहाँ अधिकृत है ।

भावार्थ—अपदान्त ह्रस्व अकार से अ, ए, ओ (गुण) परे होने पर पूर्व-पर के स्थान पर पररूप एकादेश होता है।

उदाहरण—'इद अ + औ' में दकारोत्तरवर्त्ती अपदान्त ह्रस्व अकार से गुण अकार परे होने से पूर्व-पर के स्थान पर पररूप 'अ' होकर 'इद औ' रूप बनता है।

दश्च।७।२।१०९

इदमो दस्य मः स्याद् विभक्तौ । इमौ, इमे ।

शब्दार्थ—(च) और (द:) दकार के स्थान पर, किन्तु इससे सूत्र का आशय स्पष्ट नहीं होता है । इसके लिए 'अष्टन आ विभक्तौ' ७.२.८४ से 'विभक्तौ' तथा सम्पूर्ण 'इदमो म:' ७.२.१०८ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी ।

भावार्थ—यदि विभक्ति परे हो तो 'इदम्' शब्द के दकार के स्थान पर मकार आदेश होता है ।

उदाहरण—'इद + औ' में विभक्ति 'औ' परे होने पर दकार को मकार होकर 'इम + औ' रूप बनेगा ।

अनाऽऽप्यकः ।७।२।११२

अककारस्येदम इदोऽन् आपि विभक्तौ । आब् इति प्रत्याहारः । अनेन ।

शब्दार्थ—(आपि) आप् परे होने पर (अकः) ककाररहित के स्थान पर (अन्) आदेश होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अष्टन आ विभक्तौ' ७.२.८४ से 'विभक्तौ', 'इदमो मः' ७.२.१०८ से 'इदमः' तथा 'इदोऽय् पुंसि' ७.२.१११ से 'इदः' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'आप्' प्रत्याहार है जिसमें 'टा' से लेकर 'सुप्' तक के प्रत्ययों का समाहार होता है । तात्पर्य यह कि तृतीयाविभक्ति से लेकर सप्तमी विभक्ति तक 'आप्' का विस्तार है ।

भावार्थ—ककाररहित 'इदम्' शब्द के 'इद्' भाग के स्थान पर तृतीयादि विभक्तियों के परे होने पर 'अन्' आदेश होता है । अनेकाल् होने के कारण 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' १.१.५५ परिभाषा से सम्पूर्ण 'इद्' के स्थान पर 'अन्' आदेश होगा ।

उदाहरण—'इद + आ (टा)' में ककाररहित 'इदम्' के 'इद्' के स्थान पर 'अन्' होकर 'अन् अ + आ' रूप बनता है । पुनः 'आ' को '१४०–टाङसि–०' सूत्र से 'इन' आदेश होकर तथा गुण करने पर 'अनेन' रूप सिद्ध होता है ।

हलि लोपः ।७।२।११३

अककारस्येदम इदो लोप आपि हलादौ ।

(प०) नाऽनर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविकारे ।

शब्दार्थ—(हलि) हल् परे होने पर (लोपः) लोप होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अष्टन आ विभक्तौ' ७.२.८४ से 'विभक्तौ', 'इदमो मः' ७.२.१०८ से 'इदमः', 'इदोऽय् पुंसि' ७.२.१११ से 'इदः' तथा 'अनाप्यकः' ७.२.११२ से 'आपि' और 'अकः' की अनुवृत्ति करनी होगी ।

भावार्थ—हलादि (जिसके आदि में हल् या व्यञ्जन हो) तृतीयादि विभक्ति परे होने पर ककाररहित 'इदम्' शब्द के 'इद्' भाग का लोप होता है । हलादि तृतीयादि विभक्तियाँ ये हैं—भ्याम्, भिस्, भ्याम्, भ्यस्, भ्याम्, भ्यस् और सुप् । अतः इनमें से किसी के परे होने पर ही प्रस्तुत सूत्र प्रवृत्त होगा । यह सूत्र पूर्व 'अनाप्यकः' (२७६) का अपवाद है ।

उदाहरण—'इद + भ्याम्' में तृतीयादि हलादि विभक्ति परे है, अतः यहाँ '२७६–अनाप्यकः' सूत्र को बाधकर प्रकृतसूत्र से 'इद्' का लोप प्राप्त होता है । 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से 'इद्' के अन्त्य दकार का लोप होना चाहिये, किन्तु अग्रिम परिभाषा से इसका निराकरण हो जाता है—

(प०) नाऽनर्थके इति—अभ्यास के विकार (यथा–'विपर्ति' में अभ्यास के अन्त्य ऋकार को इकार आदेश) को छोड़कर अन्यत्र अनर्थक में 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ सूत्र प्रवृत्त नहीं होता ।

उदाहरण—'इद + भ्याम्' में 'इद्' अर्थवान् नहीं है; क्योंकि समुदाय सार्थक और उसका एक भाग निरर्थक हुआ करता है—'समुदायो ह्यर्थवान्, तस्यैकदेशोऽनर्थकः' । 'इद्' भी 'इदम्' का एक भाग होने के कारण निरर्थक है । अतः यहाँ 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी और सम्पूर्ण 'इद्' का लोप होकर 'अ + भ्याम्' रूप बनेगा ।

आद्यन्तवदेकस्मिन् ।१।१।२१

एकस्मिन् क्रियमाणं कार्यमादाविवान्त इव स्यात् । 'सुपि च' इति दीर्घः–आभ्याम् ।

शब्दार्थ—(आद्यन्तवत्) आदि और अन्त को विधीयमान कार्य (एकस्मिन्) एक में भी हो अर्थात् उसे ही आदि-अन्त दोनों मानकर कार्य हो जाता है।

भावार्थ—यह सिद्धान्त लोकन्याय पर आधारित है और इसे ही व्यपदेशिवद्भाव कहते हैं। 'देवदत्तस्यैकः पुत्रः, स एव ज्येष्ठः, स एव कनिष्ठः' अर्थात् देवदत्त के एक ही पुत्र है, उसे ही ज्येष्ठ और उसे ही कनिष्ठ भी कहा जाता है । इसी प्रकार एक में ही आदि और अन्त–दोनों का विधान किया गया है ।

उदाहणरण—'अ + भ्याम्' में केवल अकार है । पूर्व में अन्य वर्ण रहने पर ही इसे अन्त्य कहा जा सकता है, किन्तु प्रस्तत सूत्र से असहाय होने पर भी इसे आदि और अन्त–दोनों मानकर अदन्त अङ्ग

कहा जायेगा। अत: '१४१-सुपि च' से दीर्घ होकर 'आभ्याम्' रूप सिद्ध होगा।

नेदमदसोरकोः ।७।१।११

अककारयोरिदमदसोर्भिस ऐस् न । एभिः, अस्मै । एभ्यः २ । अस्मात् । अस्य । अनयोः २ । एषाम् । अस्मिन् । एषु ।

शब्दार्थ—(अक:) ककाररहित (इदमदसो:) इदम् और अदस् शब्द के स्थान पर (न) नहीं होता है। इसके अस्पष्टीकरण के लिए 'अतो भिस ऐस्' ७.१.९ से 'भिस:' तथा 'ऐस्' की अनुवृत्ति करनी होगी।

भावार्थ—ककाररहित 'इदम्' और 'अदस्' शब्द के 'भिस्' के स्थान पर 'ऐस्' नहीं होता है।

उदाहरण—'अ + भिस्' में '१४२-अतो भिस ऐस्' से भिस् को ऐस् प्राप्त था, किन्तु प्रकृत सूत्र से उसका निषेध हो जाता है। तब '१४५-बहुवचने झल्येत्' से एत्त्व होकर तथा सकार को रुत्व-विसर्ग होकर 'एभि:' रूप सिद्ध होता है।

२.२.२ 'इदम्' शब्दान्तर्गत रूपसिद्धि

प्रथमा विभक्ति एकवचन

(इदम्)

इदम् + सु ।

त्यदादीनाम् अः (अलोऽन्त्यस्य)–सूत्रानुसार त्यदादि अङ्ग इदम् के म् को अकार आदेश; क्योंकि विभक्ति सु परे है उसे रोककर—

इदमो मः–सूत्रानुसार इदम् के म् को म ही रहेगा; क्योंकि सु परे है—**इदम् + सु** ।

इदोऽय् पुंसि–सूत्रानुसार इदम् के इद् को अय् आदेश हुआ; क्योंकि सु परे है—अय् अम् स् ।

अयम् + स् ।

अपुक्तं एकाल् प्रत्ययः–सूत्रानुसार स् की अपृक्त संज्ञा हुई

हल् ङयाब्भ्योः दीर्घात् सुतिस्य पृक्तं हल्–सूत्रानुसार स् को लोप होकर रूप बना—**अयम्** ।

प्रथमा व द्वितीया का द्विवचन

(इमौ)

इदम् + औ ।

त्यदादीनाम् अः–सूत्रानुसार इदम् को अकार आदेश—

अलोङन्त्यस्य–सूत्रानुसार म् को अकार आदेश होकर—**इद अ औ** ।

अतो गुणे–सूत्रानुसार पररूप आदेश—**इद औ** ।

दश्चॅ–सूत्रानुसार दकार को मकार आदेश—**इम + औ** ।

वृद्धि रेचि–सूत्रानुसार वृद्धि आदेश उसे रोककर—

प्रथमयो पूर्वसवर्णः–सूत्रानुसार पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश–उसे

नॉऽऽदिचि–सूत्रानुसार पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश का निशेष—

वृद्धि रेचि–सूत्रानुसार वृद्धि आदेश हुआ—**इमौ** ।

प्रथमा विभक्ति बहुवचन

(इमे)

इदम् + जस् ।

त्यदादीनाम् अः–सूत्रानुसार म् के स्थान पर अकार आदेश—**इदम् अस्** ।

अतोगुणे–सूत्रानुसार पररूप एकादेश—**इद अस्** ।

दँश्च–सूत्रानुसार दकार का मकार आदेश—**इम जस्**।

सर्वादीनि सर्वानामानि–सूत्रानुसार

जशः शी–सूत्रानुसार जस् को शी आदेश—**इम + शी।**

इम + ई।

आद् गुणः–सूत्रानुसार गुण एकादेश होकर—**इमे**।

द्वितीया विभक्ति एकवचन

(इमम्)

इदम् + अम्।

त्यदादीनाम् अः–सूत्रानुसार द् को म् आदेश—**इदअ + अम्**।

अतो गुणे–सूत्रानुसार पररूप एकादेश—**इद अम्**।

दर्श्चे–सूत्रानुसार द् को म् आदेश—**इम अम्**।

अभि पूर्वः–सूत्रानुसार पूर्वरूप एकादेश—**इमम्**।

द्वितीया बहुवचन

(इमान्)

इदम् + अस् (शस्)।

त्यदादीनाम् अः–सूत्रानुसार म् को अ आदेश—**इद म अस्**।

अतो गुणेः–सूत्रानुसार पररूप आदेश—**इद अस्**।

दर्श्चे–सूत्रानुसार दकार को मकार आदेश—**इम् + अस्**।

प्रथममयो पूर्वसवर्णः–सूत्रानुसार पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश—**इमास्**।

तस्माच्छसोनः पुंसि–सूत्रानुसार स् को न् आदेश—**इमान्**।

तृतीया विभक्ति ककवचन

(अनेन)

इदम् + टा।

त्यदादीनाम् अः–सूत्रानुसार म् को अकार आदेश—**इद अ टा**।

अतो गुणे–सूत्रानुसार पररूप एकादेश—**इद टा**।

दर्श्चे–सूत्रानुसार द् को मकार आदेश उसे रोककर—

अनाऽऽप्यकः–सूत्रानुसार इद् को अन् आदेश—**अन + टा**।

टाङसिऽसा मिनात्स्याः–सूत्रानुसार टा को इन् आदेश—**अन इन**।

आद् गुणः–सूत्रानुसार गुण आदेश—**अनने**।

द्विवचन

(आभ्याम्)

इदम् + भ्याम्।

त्यदादीनाम् अः–सूत्रानुसार म् को अकार आदेश—**इद अ भ्याम्**।

अतो गुणे–सूत्रानुसार पररूप एकादेश—**इद भ्याम्**।

दर्श्चे–सूत्रानुसार द् को म् आदेश उसे रोककर—

अनाऽऽप्यकः–सूत्रानुसार इन् आदेश उसे रोककर—

हलि लोपः–सूत्रानुसार इद् के लोप की प्राप्ति—**अ + भ्याम्**।

आद्यन्तॅवद् एकस्मिन्–

सुपि च–सूत्रानुसार दीर्घ एकादेश—**आभ्याम्**।

तृतीया बहुवचन

(एभिः)

इदम् + भिस्।

त्यदादीनाम् अः–सूत्रानुसार म् को अ आदेश हुआ—**इद अ भिस्**।

अतो गुणे–सूत्रानुसार पररूप एकादेश—**इद भिस्**।

दश्च–सूत्रानुसार द को म आदेश उसे रोककर—

अनाऽऽप्यकः–सूत्रानुसार अन् आदेश उसे रोककर—

हलि लोपः–सूत्रानुसार इद् का लोप होकर—**अ भिस्**।

अतो भिस ऐस्–सूत्रानुसार भिस को ऐस् आदेश न हो—

बहुवचने झल्येत्–सूत्रानुसार ए कार आदेश—**एभि (स्) = एभिः**।

चतुर्थी विभक्ति कवचन

(अस्मै)

इदम् + ङे।

त्यदादीनाम् अः–सूत्रानुसार म् को अ आदेश—**इद अ ङे**।

अतो गुणे–सूत्रानुसार पररूप एकादेश हुआ—**इद ङे**।

सर्वादीनि सर्वनामानि–

सर्वनाम्नः स्मै–सूत्रानुसार ङे को स्मै आदेश—**इद स्मै**।

अनाऽऽप्यकः–सूत्रानुसार अन् आदेश उसे रोककर—

हलि लोपः–सूत्रानुसार इदम् के इद् भाग के लोप का आदेश—**अस्मै**।

चतुर्थी विभक्ति बहुवचन

(एभ्यः)

इदम् + भ्यस्।

त्यदादीनाम् अः–सूत्रानुसार म् के स्थान पर अ आदेश—**इद अ भ्यस्**।

अतो गुणे–सूत्रानुसार पररूप एकादेश—**इद भ्यस्**।

दश्च–सूत्रानुसार द् के स्थान पर मकार आदेश उसे रोककर—

अनाऽऽप्यकः–सूत्रानुसार अन् आदेश उसे रोककर—

हलि लोपः–सूत्रानुसार इदम् के इद् भाग के लोप की प्राप्ति—**अ भ्यस्**।

आद्यन्तवंद् एकस्मिन्–

बहुवचने झल्येत्–सूत्रानुसार एकार आदेश—**एभ्य स्**।

स् को रुत्व विसर्ग—**एभ्यः**।

पञ्चमी एकवचन

(अस्मात्)

इदम् + ङसि।

त्यदादीनाम् अः–सूत्रानुसार अकार आदेश—**इद अ ङसि**।

अतो गुणे–सूत्रानुसार पररूप एकादेश—**इद + ङसि**।

दश्च–सूत्रानुसार द् को म् आदेश उसे रोककर—

अनाऽऽप्यकः–सूत्रानुसार इद को अन् आदेश की प्राप्ति उसे रोककर—

हलि लोपः–सूत्रानुसार इद के लोप का आदेश—**अ + ङसि**।
आद्यन्तवद् एकस्मिन्–
ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ–सूत्रानुसार ङसि को स्मात् आदेश होकर रूप बना—**अस्मात्**।

षष्ठी एकवचन

(अस्य)

इदम् + ङस्।
त्यदादीनाम् अः–सूत्रानुसार अकार आदेश—**इद अ ओस्**।
अतो गुणे–सूत्रानुसार पररूप एकादेश—**इद ओस्**।
अनाऽऽप्यकः–सूत्रानुसार इद् को अन् आदेश—**अन् ओस्**।
ओसि च–सूत्रानुसार एकार आदेश—**अने + ओस्**।
एचोऽयवायावः–सूत्रानुसार अण् आदेश—**अन् अय् ओस् = अनयो स्**।
स् को रुत्व विसर्ग—**अनयोः**।

षष्ठी बहुवचन

(एषाम्)

इदम् + आम्।
त्यदादीनाम् अः–सूत्रानुसार म् को अ आदेश—**इद अ आम्**।
अतो गुणे–सूत्रानुसार पररूप एकादेश—**इद आम्**।
आमि सर्वनाम्नः सुट्–सूत्रानुसार आम् को सुट् आगम—**उद् इत् संज्ञा लोप–इद + साम्**।
अनाऽऽप्यकः–सूत्रानुसार अन् आदेश उसे रोककर—
हलि लोपः–सूत्रानुसार इद् के लोप की प्राप्ति—**अ साम्**।
आद्यन्तवद् एकस्मिन्–
बहुवचने झल्येत्–सूत्रानुसार अ को एकार आदेश—**ए + साम्**।
आदेश प्रत्यययोः–सूत्रानुसार स् को ष आदेश होकर रूप बना—**एषाम्**।

सप्तमी एकवचन

(अस्मिन्)

इदम् + ङि।
त्यदादीनाम् अः–सूत्रानुसार अकार आदेश—**इद अ ङि**।
अतो गुणे–सूत्रानुसार पररूप एकादेश—**इद ङि**।
दश्चे–सूत्रानुसार द् को म् आदेश की प्राप्ति उसे रोकरक—
ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ–सूत्रानुसार ङि को स्मिन् आदेश—**इद स्मिन्**।
अनाऽऽप्यकः–सूत्रानुसार इद् को अन् आदेश उसे रोककर—
हलि लोपः–सूत्रानुसार इद् के लोप का आदेश—**अस्मिन्**।

सप्तमी बहुवचन

(एषु)

इदम् + सु (सुप्)।
त्यदादीनाम् अः–सूत्रानुसार म् को अ आदेश—**इद अ सु**।
अतो गुणे–सूत्रानुसार पररूप एकादेश—**इद सु**।
अनाऽऽप्यकः–सूत्रानुसार इद् को अन् आदेश उसे रोककर—
बहुवचने झल्येत्–सूत्रानुसार एकार आदेश की प्राप्ति—**ए सु**।
हलि लोपः–सूत्रानुसार इद् के लोप का आदेश—**एसु**।
आद्यन्तवद् एकस्मिन्–
आदेश प्रत्यययोः–सूत्रानुसार स् को ष आदेश—**एषु**।

****

२.३ हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम्

२.३.१ 'मातृ' शब्दान्तर्गत सूत्र व्याख्या

नँ षट्स्वस्रादिभ्यः ।४।१।१०

वृत्ति—ङीष्टापौ न स्तः ।

'स्वसा तिस्रश्चतस्रश्च ननान्दा दुहिता तथा ।
याता मातेति सप्तैते स्वस्रादय उदाहृताः ॥'

स्वसा, स्वसारौ । माता पितृवत् । शसि-मातृः ।

शब्दार्थ—(षट्स्वस्रादिभ्यः) षट्संज्ञक और स्वसृ आदियों से पर (न) नहीं । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अजाद्यतष्टाप्' ४.१.४ से 'टाप्' तथा 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' ४.१.५ से 'ङीप्' की अनुवृत्ति करनी होगी । '१८७–ष्णान्ताः षट्' से 'षष्' (छः), 'पञ्चन्' और 'सप्तन्' आदि की षट् संज्ञा होती है । स्वस्रादि शब्द सात हैं, जिनका गणन कारिका में किया गया है—स्वसृ, तिसृ, चतसृ, ननान्दृ, दुहितृ, यातृ और मातृ ।

भावार्थ—षष्, पञ्चन् आदि षट्संज्ञकों और स्वसृ (बहिन), तिसृ (तीन स्त्रियां), चतसृ (चार स्त्रियां), ननान्दृ (पति की बहिन, ननन्द), दुहितृ (लड़की), यातृ (पति के भाई की पत्नी) तथा मातृ (माता) शब्दों से परे 'ङीप्' और 'टाप्' प्रत्यय नहीं होते हैं।

उदाहरण—षट्संज्ञकों में नान्तों से परे 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' से 'ङीप्' तथा अन्यों से परे 'टाप्' प्राप्त है, किन्तु प्रकृत सूत्र से उसका निषेध हो जाता है । इसी प्रकार स्वसृ आदियों से पर भी ऋकारान्त होने से '२३२–ऋन्नेभ्यो ङीप्' से जो 'ङीप्' प्रत्यय प्राप्त था, उसका प्रकृत सूत्र से निषेध हो जाता है । अतः ये स्त्रीलिङ्ग में जैसे के जैसे प्रयुक्त होते हैं । 'स्वसृ' शब्द के रूप अजन्तपुँल्लिङ्गान्तर्गत 'धातृ' शब्द के समान और 'मातृ' के रूप 'पितृ' (अजन्तपुँल्लिङ्ग) के समान होते हैं ।

ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः ।७।३।११०

वृत्ति—ऋतोऽङ्गस्य गुणो ङौ सर्वनामस्थाने च ।

शब्दार्थ—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है—(ङिसर्वनामस्थानयोः) ङि और सर्वनामस्थान परे होने पर (ऋतः) ऋकार के स्थान पर । इसकी व्याख्या के लिए 'ह्रस्वस्य गुणः' ७.३.१०८ से 'गुणः' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'अङ्गस्य' ६.४.१ यहाँ अधिकृत है । 'अङ्गस्य' का विशेषण होने से 'ऋतः' से तदन्तविधि हो जाती है ।

भावार्थ—ङि अथवा सर्वनामस्थान (सु, औ, जस्, अम् तथा औट्) परे हों तो ऋकारान्त अङ्ग के स्थान पर गुण आदेश होता है । 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह आदेश अङ्ग के अन्त्य वर्ण के ही स्थान पर होता है।

उदाहरण—'क्रोष्टृ + स् (सु)' में 'सु' सर्वनामस्थान परे है, अतः प्रस्तुत सूत्र से ऋवर्ण के स्थान पर 'अर्' गुण प्राप्त होता है ।

ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां चँ ।७।१।९४

वृत्ति—ऋदन्तानाम् उशनसादीनां चानङ् स्यादसम्बुद्धौ सौ ।

शब्दार्थ—(च) और (ऋत् + उशनस् + पुरुदंसः + अनेहसां) ऋकारान्त, उशनस् (शुक्राचार्य), पुरुदंसस् (बिल्ली) और अनेहस् (समय) शब्दों के स्थान पर । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'सख्युरसम्बुद्धौ' ७.१.९२ से 'असम्बुद्धौ' और सम्पूर्ण 'अनङ् सौ' ७.१.९३ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी । 'अङ्गस्य' ६.४.१–यह यहाँ अधिकृत है ।

भावार्थ—सम्बुद्धिभिन्न 'सु' परे होने परे ऋकारान्त, उशनस्, पुरुदंसस् तथा अनेहस् शब्दान्त अङ्गों के स्थान पर अनङ् आदेश होता है । 'अनङ्' में 'अङ्' इत् है, अतः ङिच्च' १.१.५३ सूत्र के द्वारा यह आदेश अन्त्य वर्ण के स्थान पर होता है ।

उदाहरण—'क्रोष्टृ + स् (सु)' में सम्बुद्धिभिन्न सकार परे होने के कारण ऋकार के स्थान पर 'अनङ्' आदेश होकर 'क्रोष्ट् अन् स्' रूप बनता है।

अप्-तृन्-तृच्-स्वसृ-नप्तृ-नेष्टृ-त्वष्टृ-क्षत्तृ-होतृ-पोतृ-प्रशांस्तृणाम् ।६।४।११

वृत्ति—अबादीनामुपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने। क्रोष्टा, क्रोष्टारौ, क्रोष्टारः। क्रोष्टारम्, क्रोष्टून्।

शब्दार्थ—(अप्–प्रशास्तणाम्) अप्, तृन्प्रत्ययान्त, तृच्प्रत्ययान्त, स्वसृ, नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, होतृ, पोतृ और प्रशास्तृ शब्दों की। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' ६.३.१११ से 'दीर्घः', 'नोपधायाः' ६.४.७ से 'उपधायाः' तथा सम्पूर्ण 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' ६.४.८ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी।

शब्दार्थ—सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे होने पर अप् (जल), तृन्प्रत्ययान्त, तृच्प्रत्ययान्त, स्वसृ (बहिन), नप्तृ (दोहता), नेष्टृ (दान देने वाला), त्वष्टृ (एक विशेष असुर), क्षत्तृ (सारथि वा द्वारपाल), होतृ (हवन करने वाला), पोतृ (पवित्र करने वाला) और प्रशास्तृ (शासन करने वाला) शब्दों की उपधा को दीर्घ होता है। अन्त्य वर्ण से पूर्व वर्ण उपधासञ्ज्ञक होता है।

उदाहरण—'कोष्ट् अन् स्' में 'कोष्टन्' शब्द तृजन्त है और उससे परे सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान 'सु' है, अतः उपधा अकार को दीर्घ होकर 'क्रोष्टान् स्' रूप बनेगा। इस स्थिति में पहले 'हल्ङ्याब्भ्यो.....' ६.१.६८ से अपृक्त सकार का और फिर 'न लोपः....' ८.२.७ से नकार का लोप होकर 'क्रोष्टा' रूप सिद्ध होता है।

ऋत उत् ।६।१।१११

ऋतो ङसि-ङसोरति उद् एकादेशः। रपरः।

शब्दार्थ—(ऋतः) ऋकारान्त से परे (उत्) 'उत्' आदेश होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'एङः पदान्तादति' ६.१.१०९ से 'अति' तथा 'ङसिङसोश्च' ६.१.११० से 'ङसिङसोः' की अनुवृत्ति होती है। 'एकः पूर्वपरयोः' ६.१.८४ यह अधिकृत है। 'तपरः तत्कालस्य' १.१.७० परिभाषा से 'ऋत्' तथा 'उत्' से क्रमशः ह्रस्व ऋकार और ह्रस्व उकार का ग्रहण होता है।

भावार्थ—ह्रस्व ऋकार से यदि ङसि अथवा ङस् का अत् (ह्रस्व अकार) परे हो, तो पूर्व पर के स्थान पर एक ह्रस्व उकार आदेश होता है। '२९–उरण्–०' परिभाषा से यह उकार 'उर्' रूप में ही आदेश होता है।

उदाहरण—ङसि और ङस् में 'क्रोष्टृ + अस्' इस दशा में ऋकार से ङसि और ङस् का अकार परे होने से दोनों के स्थान पर 'उर्' एकादेशं होकर 'क्रोष्टुर् + स्' रूप बनता है।

रात् सस्य ।८।२।२४

रेफात् संयोगान्तस्य सस्यैव लोपो नान्यस्य।

शब्दार्थ—(रात्) रकार से पर (सस्य) सकार का। इसके स्पष्टीकरण के लिए सम्पूर्ण 'संयोगान्तस्य लोपः' ८.२.२३ सूत्र की अनुवृत्ति होती है।

भावार्थ—रेफ से परे संयोगान्त सकार का ही लोप होता है, अन्य का नहीं।

उदाहरण—'क्रोष्ट् उर् स्' में इस नियम से रेफ से परे संयोग 'र् स्' के अन्त सकार का लोप होकर 'क्रोष्टुर्' रूप बनता है। फिर रेफ का विसर्ग होकर 'क्रोष्टुः' रूप सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि रकार से परे संयोगान्त सकार का लोप 'संयोगान्तस्य लोपः' ८.२.२३ से भी प्राप्त हो जाता है, अतः इसका पुनः कथन 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः' परिभाषा के अनुसार नियमार्थ ही है।

अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा ।१।१।६५

वृत्ति—अन्त्यादलः पूर्वो वर्ण उपधासंज्ञः।

शब्दार्थ—(अलोऽन्त्यात्) अन्त्य अल् से (पूर्वः) पूर्व वर्ण (उपधा) उपधासंज्ञक हो। अल् प्रत्याहार में सब वर्ण आ जाते हैं। अतः समुदाय के अन्तिम वर्ण से पूर्व वर्ण की उपधा संज्ञा होती है।

उदहरण—'सख् अन्' में अन्त्य अल् नकार है और उससे पूर्व वर्ण ह्रस्व अकार है, अतः उसकी

उपधा संज्ञा हुई।

सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ ।६।४।८

वृत्ति—नान्तस्योपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने।

शब्दार्थ—यह सूत्र स्वत: पूर्ण नहीं है—(च) और (असम्बुद्धौ) सम्बुद्धिभिन्न (सर्व-नामस्थाने) सर्वनामस्थान परे होने पर। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽण:' ६.३.१११ से 'दीर्घ:' तथा 'नोपधाया:' ६.४.७ से 'उपधाया:' की अनुवृत्ति करनी होती है। 'अङ्गस्य' ६.४.१ यह यहाँ अधिकृत है।

भावार्थ—सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे होने पर नान्त अङ्ग की उपधा के स्थान पर दीर्घ आदेश हो।

उदाहरण—'सख् अन् + स्' में नकारान्त अङ्ग 'सख् अन्' है और उससे परे सम्बुद्धिभिन्न प्रथमा एकवचन का सर्वनामस्थान 'स्' है। अत: खकारोत्तरवर्ती उपधा अकार को दीर्घ आदेश हो 'सखान् + स्' रूप बनता है।

अपृक्त एकाल् प्रत्यय: १।२।४१

वृत्ति—एकाल् प्रत्ययो य:, सोऽपृक्तसंज्ञ: स्यात्।

शब्दार्थ—यह संज्ञा-सूत्र है। इसका अर्थ है—(एकाल्) एक अल् अर्थात् एक वर्ण वाला (प्रत्यय:) प्रत्यय (अपृक्त) अपृक्त-संज्ञक हो।

भावार्थ—जो प्रत्यय एकवर्णरूप हो अथवा एकवर्णरूप हो गया हो, उसकी अपृक्त संज्ञा होती है।

उदाहरण—'सखान् + स्' में 'स्' प्रत्यय है और साथ ही एकाल् (एकवर्ण वाला) भी है, अत: इसकी 'अपृक्त' संज्ञा होती है।

हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल् ।६।१।६८

वृत्ति—हलन्तात् परम्, दीर्घौ यौ ङ्यापौ तदन्ताच्च परम् 'सु-ति-सि' इत्येतद् अपृक्तं हल् लुप्यते।

शब्दार्थ—(हल्) हल् (दीर्घात्) दीर्घ (ङ्याब्भ्यो) 'ङी' और 'आप्' से परे (सुतिस्यपृक्तं) 'सु-ति-सि' के अपृक्त (हल्) हल्। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'लोपो व्योर्वलि' ६.१.६६ से 'लोप:' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'दीर्घात्' पद 'ङी' और 'आप्' का ही विशेषण हो सकता है; क्योंकि हल् दीर्घ नहीं हुआ करता। हल् प्रत्याहार में स्वर-रहित सभी व्यञ्जनों का समाहार हो जाता है। 'ङी' और 'आप्' स्त्रीप्रत्यय हैं। 'ङी' से ङीप्, ङीष् और ङीन् तथा 'आप्' से टाप्, डाप् और चाप् प्रत्ययों का ग्रहण होता है।

भावार्थ—हलन्त (जिसके अन्त में व्यञ्जन हो), ङ्यन्त (जिसके अन्त में 'ङी' प्रत्यय हो) तथा आबन्त (जिसके अन्त में 'आप्' प्रत्यय हो) अङ्ग से परे 'सु' 'ति' तथा 'सि' के अपृक्त रूप हल् का लोप होता है।

'सु' सुप् है और प्रथमा विभक्ति का एकवचन है। 'ति' और 'सि' तिङ् हैं और क्रमश: प्रथम तथा मध्यम पुरुष के एकवचन हैं। अन्त्य स्वर का लोप हो जाने पर ये अपृक्त रूप बनते हैं। तब इनका रूप होता है—स्, त् और स्।

उदाहरण—हलन्त से पर 'सु' के लोप का उदाहरण **'सखान् + स'** में मिलता है। यहाँ हल् नकारान्त अङ्ग 'सखान्' है और उससे पर 'सु' अपृक्त है, अत: उसका लोप होकर 'सखान्' रूप बनेगा। **'अहन् + त्'** में नकार हल् से परे अपृक्त 'ति' का लोप होकर 'अहन्' रूप बनता है। इसी प्रकार **'अहन् + स्'** में हल् से परे अपृक्त 'सि' का लोप होकर 'अहन्' (मध्यमपुरुष एकवचन) रूप बनता है।

दीर्घ ङी से परे 'सु' के लोप का उदहारण **'कुमारी + स्'** में मिलता है जहाँ अपृक्त स् का लोप होकर 'कुमारी' रूप बनता है। अन्य उदाहरण हैं—दण्डिनी (ङीबन्त), गौरी (ङीषन्त) और शार्ङ्गरवी (ङीनन्त)।

दीर्घ *आप्* से परे 'सु' के लोप का उदाहरण **'बाला + स्'** में मिलता है, जहाँ अपृक्त सकार का लोप होकर 'बाला' रूप बनता है। अन्य उदाहरण हैं—रमा (टाबन्त), सीमा (डाबन्त) और सूर्या (चाबन्त)।

न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य ।८।२।७

वृत्ति—*प्रातिपदिक संज्ञकं यत्पदं तदन्तस्य नस्य लोपः । सखा ।*

शब्दार्थ—(प्रातिपदिकान्तस्य) प्रातिपदिक के अन्त्य (नः) न का (लोपः) लोप होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'पदस्य' ८.१.१६ से पदाधिकार को लाना होगा।

भावार्थ—प्रातिपदिकसंज्ञक पद के अन्त्य नकार का लोप होता है। तात्पर्य यह कि नकार को प्रातिपदिक का अवयव और साथ ही साथ पद का अन्त्य भी होना चाहिये।

उदाहरण—'सखान्' यह पद है और उसके अन्त में नकार है जो प्रातिपदिक का अवयव भी है। अतः उसका लोप होकर 'सखा' रूप सिद्ध होता है।

२.३.२. 'मातृ' शब्दान्तर्गत रूपसिद्धि

माता मातृ शब्द स्त्रीलिङ्ग प्रथमाविभक्ति एकवचन का रूप।

मातृ— ऋदन्त मातृ शब्द स्त्रीलिङ्गवाची होने से स्त्रीत्वविवक्षा में 'ऋन्ने भ्यो ङीप्' सूत्र से ङीप् *प्रत्यय प्राप्त; परन्तु 'न षट् स्वस्रादिभ्यः' से ङीप् प्रत्यय का निषेध होकर* **मातृ** *रूप ही* रहता है। अब पूर्ववत् मातृ शब्द से स्वाद्युत्पत्ति होकर प्रथमाविभक्ति एकवचन

मातृ + सु में सु प्रत्यय आया है।

अब 'सु' की 'सुऽनपुंसकस्य' सूत्र से सर्वनामस्थान संज्ञा होकर तथा **मातृ** की अङ्ग होकर 'अङ्गस्य' के अधिकार में 'ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च' सूत्र से 'ङिच्च' के अनुसार अन्तिम **ऋ** के स्थान में सम्बुद्धिभिन्नसर्वनामस्थान संज्ञक सु के परे

मात् अनङ् सु रहते **अनङ्** आदेश हुआ। **अनङ्** के **अ** **व** **न्** दोनों

मात् अन् सु की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाने से अन् शेष रहता है।

मातन् + सु अब **सु** के **उ** की इत्संज्ञा व लोप होकर स् शेष रहा।

मातन् + स् इस स्थिति में **मातन्** के न् के पूर्व त के भ की अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा' से उपध संज्ञा हुई। तब नान्त अङ्गभूत **मातन्** के उपधाभूत **अ** का 'सर्वनामस्थाने चा सम्बुद्धौ' से दीर्घ आदेश

मातान् + स् होकर **आ** हुआ। 'स्' की अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' से अपृक्त संज्ञा हुई तब अपृक्त संज्ञक सु के स् हल् वर्ण का 'हल्ङ्या

मातान् 'म्यो' आदि सूत्र से लोप होता है।

मातान् 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से अन्तिम न्

माता का लोप हुआ।

माता फलतः **माता** रूप सिद्ध हो गया।

मातरौ *मातृ शब्द प्रथमाविभक्ति एकवचन में रूप*

मातृ पूर्ववत् मातृ स्त्रीलिङ्गवाची शब्द से 'न षट्स्वास्रादिभ्यः' से **ङीप्** प्रत्यय का निषेध होकर स्वाद्युत्पत्ति होकर प्रथमाविभक्ति द्विवचन

मातृ औ में **औ** प्रत्यय आया।

पूर्ववत् **औ** की सर्वनामस्थान संज्ञा तथा **मातृ** की पूर्ववत् 'यस्मात्प्रत्ययविधिः' आदि सूत्र से अङ्ग संज्ञा हुई। अब 'अङ्गस्य' के अधिकार में 'ऋतो ङि सर्वनामस्थानयोः' सूत्र से ऋकारान्त अङ्ग मातृ के 'अलोऽन्त्यस्थ' की सहायता से अन्तिम वर्ण ऋ के स्थान में गुण अ आदेश तथा 'उरण रपरः' से रपर होकर

मातृ अर् औ	अर् रूप आदेश होता है।
मातर् औ	सबको मिलाकर लिखने से संयुक्त रूप निम्नरूप में
	अब यहाँ 'अप्तृन्तृच्०' आदि सूत्र में 'नप्तृ०' आदि
मातर् औ	शब्द ग्रहण सामर्थ्य से औणादिक मातृ शब्द की उपधा को दीर्घ आदेश नहीं होता है।
मातरौ	अन्त में सबको मिलाकर उक्त का निष्पन्न।
मातर:	मातृ प्रथमा विभक्ति बहुवचन में जस् प्रत्यय में निष्पन्न।
मातृ	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति मातृ शब्द से होकर
मातृ-जस्	प्रथमाविभक्ति बहुवचन में जस् प्रत्यय।
मातृ + अस्	जस् का अस् शेष रहा।
	पूर्ववत् अस् की सर्वनामस्थानसंज्ञा तथा मातृ की अङ्गसंज्ञा होकर पूर्ववत् सूत्र से मातृ के ऋ को गुण आदेश अ तथा
मात् अर अस्	उसके बाद रपर होकर अर् हुआ
मातर अस्	सबको मिलाकर बना
मातरस्	पूर्ववत् स् का रुत्व तथा र् का
मातर:	विसर्ग आदेश होकर उक्त रूप निष्पन्न।
मातरम्	**मातरौ**–ये दोनों शब्द रूप द्वितीया विभक्ति के एकवचन तथा द्विवचन में क्रमश: **अम्** तथा औट् (औ) प्रत्ययों से पूर्ववत् **मातरौ** की तरह सिद्ध हो जाता है।
मातृः	मातृ शब्द स्त्रीलिङ्गवाची द्वितीया विभक्ति बहुवचन में शस् प्रत्यय
मातृ	पूर्ववत् मातृ से स्वाधुत्पत्ति होकर द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में
मातृ + शस्	भस् प्रत्यय आया। शस् का अस् शेष रहता है।
मातृ + अस्	शस् का अस् सुट् प्रत्याहारन्तर्गत न होने के कारण सर्वनामस्थान संज्ञक नहीं होता है।
	अब द्वितीया विभक्ति के अस् के परे रहते अक् वर्ण ऋ + अ दोनों के स्थान में पूर्वसवर्ण दीर्घ आदेश 'प्रथमयो: पूर्व सवर्ण:' से हो
मात् ॠ स्	जाता है। पूर्ववर्ती वर्ण ऋ को दीर्घ ॠ।
मातॄ स्	मिलने पर निम्न रूप बना
	स्त्रीलिङ्ग का पूर्वसवर्ण दीर्घ वर्ण ॠ के बाद आने वाले शस् के अवयव भूत स् को न आदेश नहीं होता है–'तस्माच्छसो न: पुंसि' से सूत्र से। तब
मातॄस्	उक्त रूप ही **सकारान्त** रहता है।
	स् को रुत्व तथा रुत्व का विमर्श
मातॄ:	आदेश हो गया।
मात्रा,	मातृभ्याम्, मातृभि:
मात्रे	मातृभ्याम् तामृभ्य:
	इन तृतीयाविभक्ति व चतुर्थीविभक्ति में के रूप में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता, केवल प्रकृति तथा प्रत्यय के संयोग से युक्त होकर सन्धि नियम लागू होता है।
मातुः	पञ्चमीविभक्ति एकवचन में ङसि प्रत्यय–मातृ + ङस्।
मातुः	षष्ठीविभक्ति एकवचन में ङस् प्रत्यय–मातृ + ङस्।
	दोनों विभक्तियों के एकवचन में रूप एक समान ही होता है।
मातुः	मातृ शब्द पञ्चमी या षष्ठी एकवचन में ङसि या ङस् में निष्पन्न।
मातृ	पूर्ववत् स्वाधुत्पत्ति होकर पञ्चमी में
मातृ + ङसि	एकवचन में ङसि प्रत्यय आया।

ङसि का अस् अस् अंश ही अवशिष्ट रहता है।

मातृ + अस् इस अवस्था में सन्धिनियामक सूत्र 'ऋत इत्' सूत्र से ह्रस्व ऋ से परे ङसि के अवशिष्ट अंश ह्रस्व अ होने पर ऋ + अ दोनों पूर्वपर के स्थान में

मातृ ह्रस्व उकार (उ) एकादेश हुआ तथा उ के पश्चात् पूर्ववत् रपर होकर उर एकादेश मात उर्स् हो जाता है।

मात् उर स् अब संयुक्त होकर निम्न रूप होकर

मातुर्स् इस स्थिति में र्स् दोनों अच् हीन हस् वर्णों की 'हलोऽनन्तराः संयोगः' से संयोग संज्ञा हुई। तब रेफ् (र्) से परे संयोगान्त स् का

मातुर् 'रात्सस्य' सूत्र से लोप होता है।

मातुर् पुनः र् के विसर्ग पूर्ववत् हो जाता है।

मातुः इसी प्रकार षष्ठी विभक्ति एकवचन में मातृ + ङस् का रूप भी मातुः सिद्ध होगा।

मात्रोः मातृ + ओस् षष्ठी विभक्ति द्विवचन में यण् सन्धि होकर मातर् + ओस् = मात्रोस् = मात्रोः सिद्ध हो जाता है।

मातृणाम् मातृ शब्द षष्ठीविभक्ति बहुवचन में आम् होकर हन्तरूप।

मातृ मातृ से पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर षष्ठीविभक्ति के बहुवचन में **आम्** प्रत्यय आया।

मातृ + आम् आम् के परे रहते **मातृ** की पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर 'अङ्गस्य' सूत्र के अधिकार में 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' से 'आद्यन्तौ टकितौ' की सहायता से

मातृ नुट् आम् टित् आगम नुट् **आम्** के आदि में हुआ।

मातृ न् आम् 'नुट्' के उ व ट् की इत्संज्ञा होकर लोप हुआ

मातृ नाम् अब 'नामि' सूत्र से नामप परे रहते

मातॄनाम् ह्रस्व अङ्गभूत **ऋ** के दीर्घ आदेश ॠ।

इसके पश्चात् 'ऋवर्णान्नस्णत्वं वाच्यम्'।

मातृणाम् वार्त्तिक से न् कण् आदेश

मातृणाम्।

मातरि मातृ शब्द सप्तमीविभक्ति एकवचन में **ङि** प्रत्यय होकर निष्पन्न।

मातृ पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर सप्तमी विभक्ति एकवचन में **ङि** प्रत्यय आया

मातृ + ङि **ङि** का ङ् इत्संज्ञक होकर लुप्त हुआ

मातृ + ङि अब पूर्ववत् मातृ की अङ्ग संज्ञा होकर 'अङ्गस्य सूत्र के अधिकार में 'ऋतो ङि सर्वनामस्थानयोः' से 'अलोऽन्त्यस्य' की सहायता से **तृ** के **ऋ** के गुण आदेश

मात् अर् इ उसके आठो 'उरण् रपरः' से रपर होकर अर आदेश

मातर् इ मिलाकर लिखने से बना

मातीर अब सबको मिला दे तो उक्त रूप निष्पन्न।

मार्त्राः तथा मातृषु शब्द रूपों की सिद्धि सामान्यतया पूर्ववत् सन्धि आदि कार्य होकर हो जायेगी।

हे मातः सम्बोधन अर्थ में प्रथमाविभक्ति के एकवचन में मातृ शब्द से सु आकर उक्त रूप बनता है।

हे मातृ पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर सम्बोधन अर्थ में

हे मातृसु प्रथमाविभक्ति के एकवचनवाची प्रत्यय सु आया

अब 'एकवचनं सम्बुद्धिः' से एकवचन के सु की सम्बुद्धि संज्ञा हुई तथा 'सुड्नपुंसकस्य' से **सु** की सर्वनामस्थान संज्ञा हुई मातृ को पूर्ववत् **अङ्ग** संज्ञा हुई, फलतः अङ्गाधिकार में 'ऋतोङिसर्वनामस्थानयोः' से **ऋ** का गुण आदेश **अ** तथा **अ** के आगे पूर्ववत्

हे मात् अर् सु रपर होकर **अर्** गुणादेश हुआ।	
हे मातर् स्	**सु** के **उ** की इत्संज्ञा व लोप होकर **स्** शेष अब **रस्** की पूर्ववत् संयोग संज्ञा होकर 'रात्सस्य'
हे मातार्	से संयोगान्त स् का लोप हुआ
हे मातर्	र् का विसर्ग होकर उक्त रूप।
हे मातः।	

२.४ हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरण

२.४.१ 'अहन्'शब्दान्तर्गत सूत्र व्याख्या

अहन्।८।२।६८

वृत्ति—अहन् इत्यस्य रुः पदान्ते। अहोभ्याम्।

शब्दार्थ—(अहन्) अहन् के स्थान पर। किन्तु क्या होना चाहिये—यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए अधिकार-सूत्र 'पदस्य' ८.१.१६, 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' ८.२.२९ से 'अन्ते' तथा 'ससजुषो रुः' की अनुवृत्ति करनी होगी।

भावार्थ—पद के अन्त में अहन् शब्द के स्थान पर 'रु' आदेश होता है। 'अलोऽ-न्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से यह आदेश 'अहन्' के अन्त्य वर्ण-नकार के स्थान पर ही होगा। 'पदान्त' कहने से यह आदेश सु, भ्याम् ३, भिस्, भ्यस् २ और सुप्–इन आठ प्रत्ययों में से किसी के परे होने पर ही होगा।

उदाहरण—'अहन् + भ्याम्' में प्रकृत सूत्र से नकार को 'रु' आदेश होकर 'अह रु + भ्याम्' रूप बनेगा। पुनः 'रु' को '१०७–हशि च' से उकार और अकार-उकार को ओकार गुणादेश होकर 'अहोभ्याम्' रूप सिद्ध होता है।

'अहन्'शब्दान्तर्गत रूपसिद्धि

अहः	नकारान्त नपुंसकलिङ्गवाची अइन् शब्द प्रथमाविभक्ति एकवचन में सु से निष्पन्न
अहन्	नपुंसकलिङ्गवाची **अहन्** से पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर प्रथमाविभक्ति के एकवचन में सु प्रत्यय आया। पूर्ववत् **अहन्** को अङ्गसंज्ञा
अहन् सु	होकर 'स्वमोर्नपुंसकात्' से नपुंसकलिङ्ग अङ्ग अहन् के बाद के
अहन्	सु का लोप (लुक्) हुआ।
अहन्	'प्रत्ययलोपेप्रत्ययलक्षणम्' के अनुसार प्रत्यय लक्षणवत् मानकर 'सुप्तिङन्तं पदम्' से **अहन्** की पदसंज्ञा हुई। अब 'अहन्'
अह	सूत्र से पदान्त में **अहन्** के न् को रु आदेश हुआ
अहर्	रु के **उ** की इत्संज्ञा व लोप।
अहः	र् को विसर्म आदेश होकर रूप सिद्ध।
अहोभ्याम्	अहन् शब्द तृतीया विभक्ति द्विवचन में **भ्याम्** में निष्पन्न।
अहन्	पूर्ववत् **अहन्** से स्वाद्युत्पत्ति होकर तृतीयाविभक्ति आदि में भ्याम् प्रत्यय आया।
अहन् + भ्याम्	यहाँ 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' सूत्र से **अहन्** की पदसंज्ञा हुई फलतः पदसंज्ञक **अहन्** के **न्** पदान्त को 'अहन्' सूत्र से
अहस भ्याम्	रु आदेश। रु का र् शेष रहा।
अह र् भ्याम्	'हशि च' से हश् वर्ण अ् परे रहते रु के र् को **उत्व** आदेश .
अह उ भ्याम्	अब 'आद्गुणः' से अ + उ के स्थान में गुण एकादेश अह् ओ भ्याम् **ओ** हुआ।

तिङन्तप्रकरण

'गम्' धातु सूत्र-व्याख्या

लकार :

लट्। लिट्। लुट्। लृट्। लेट्।लुङ्। लङ्। लिङ्।लोट्। आशीर्लिङ्। लृङ्। एषु पञ्चमो लकारश्छन्दोमात्रगोचरः।

लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः।३।४।६९

वृत्ति—लकाराः सकर्मकेभ्यः कर्मणि कर्तरि च स्युरकर्मकेभ्यो भावे कर्तरि च।

शब्दार्थ—(कर्मणि) कर्म में (च) और.... (अकर्मकेभ्यः) अकर्मक से (भावे) भाव में (च) तथा... (लः) लकार होते हैं। सूत्र में 'च' के प्रयोग से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'कर्तरि कृत्' ३.४.६७ से 'कर्तरि' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्र में दो बार 'च' का प्रयोग होने से इस 'कर्तरि' का योग 'कर्मणि' औरी 'भावे'–इन दोनों से ही होता है। कर्म तो सकर्मक धातुओं से ही सम्भव है, अतः सूत्र के पूर्वभाग में 'कर्मणि' (कर्म में) का उल्लेख होने से 'सकर्मक' का अध्याहार हो जाता है। साथ ही 'धातोः' ३.१.९१ का अधिकार तो है ही।

भावार्थ—सकर्मक धातुओं से कर्त्ता और कर्म में तथा अकर्मक धातुओं से कर्ता और भाव में लकार होते हैं।

उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि धातु चाहे सकर्मक हो या अकर्मक—कर्ता दोनों में ही आता है। अतः लकार का प्रयोग तीन ही रूपों में होगा—कर्ता, कर्म और भाव में। इनको ही क्रमशः कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य की संज्ञा दी गई है। वस्तुतः इस सूत्र का अभिप्राय इन्हीं वाच्य-विभेदों को स्पष्ट करना है। वाच्य-परिवर्तन के साथ-साथ वाच्य-रचना में भी अन्तर पड़ जाता है।

उदाहरण—कर्तृवाच्य में लकार कर्ता में होता है। तात्पर्य यह है कि लकार का वचन और पुरुष कर्ता के अनुसार ही होता है, जैसे–'रामः पुस्तकं पठति'। यहाँ कर्ता 'रामः' के अनुसार ही क्रिया 'पठति' का प्रयोग हुआ है। कर्मवाच्य में कर्म प्रथमान्त और कर्ता तृतीयान्त होता है। इस प्रकार लकार का सम्बन्ध कर्ता से न होकर कर्म से हो जाता है।

'रामेण रावणः हतः' में कर्म 'रावणः' के अनुसार ही क्रिया 'हतः' का प्रयोग होता है। भाववाच्य में क्रिया का केवल होना मात्र दिखाया जाता है। वह सदैव प्रथमपुरुष एकवचनान्त होती है। यहाँ लकार कर्ता और कर्म—दोनों से ही स्वतन्त्र हो जाता है। 'देवदत्तेन स्थीयते' में क्रिया का लकार कर्ता अथवा कर्म से अनुशासित नहीं है। सूत्र में कर्ता, कर्म और भाव में लकार कहने का यही तात्पर्य है।

वर्तमाने लट्।३।२।१२३

वृत्ति—वर्तमानक्रियावृत्तेर्धातोर्लट् स्यात्। अटावितौ। उच्चारणसामर्थ्यात् लत्य नेत्त्वम्। भू सत्तायाम्। कर्तृविवक्षायां भू ल् इति स्थिति।

शब्दार्थ—(वर्तमाने) वर्तमान काल में (लट्) लट् लकार होता है। तात्पर्य यह है कि वर्तमान काल की विवक्षा में धातु के साथ लट् लकार का प्रयोग होता है। 'लट्' में अङ्कार और लकारोत्तरवर्ती अकार इत्संज्ञक हैं, अतः 'तस्य लोपः' १.३.९ से उनका लोप होकर 'ल्' मात्र ही शेष रह जाता है। यहाँ 'हलन्त्यम्' १.३.३ सूत्र से लकार (ल्) की भी इत्संज्ञा प्राप्त होती है, किन्तु उच्चारणसामार्थ्य के कारण उसकी इत्संज्ञा नहीं होगी, अन्यथा 'तस्य लोपः' १.३.९ से उसका लोप हो जाने पर कुछ भी शेष न रहता। फिर तो उसका उच्चारण ही व्यर्थ हो जाता। इस प्रकार वर्तमान काल की विवक्षा में 'भू' धातु से 'लट्' का योग होता है–'भू + ल्'।

तिप्तस्झि-सिप्थस्थ-मिब्वस्मस्-तातांझ-थासाथांध्वमिड्वहि-महिङ्।३।४।७८

वृत्ति—एतेऽष्टादश लादेशाः स्युः।

शब्दार्थ—(तिप्तस्झि०) तिप्, तस्, झि; सिप्, थस्, थ; मिप, वस्, मस्; त, आताम्, झ; थास्, आथाम्, ध्वम्; इट्, वहि महिङ्। किन्तु इससे सूत्र का भावार्थ स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'लस्य' ३.४.७७ की अनुवृत्ति करनी होगी। प्रस्तुत सूत्र प्रथमा विभक्ति में है, अतः यह आदेश-बोधक है।

भावार्थ—लकार के स्थान पर तिप्, तस्, झि; सिप्, थस्, थ; मिप, वस्, मस्; त, आताम्, झ; थास्, आथाम्, ध्वम्; इट्, वहि महिङ्–ये अठारह आदेश होते हैं। तात्पर्य यह है कि धातु के योग में आने वाले लकार (यथा–लट्, लिट् आदि) के स्थान पर उक्त अठारह प्रत्ययों में से कोई प्रत्यय आदेश होता है।

लः परस्मैपदम्।१।४।९९

वृत्ति—लादेशाः परस्मैपदसंज्ञाः स्युः।

शब्दार्थ—(लः) लकार के स्थान पर आदेश होने वाले (परस्मैपदम्) परस्मैपद-संज्ञक होते हैं।

उदाहरण—पूर्वसूत्र (३७५) से लकार के स्थान पर तिप्, तस् आदि अठारह प्रत्यय आदेश होते हैं। प्रकृतसूत्र द्वारा इन सभी की 'परस्मैपद' संज्ञा हो जाती है।

विशेष—वस्तुतः यह सामान्य सूत्र है। इसके कुछ अपवाद आगे दिये जा रहे हैं।

तङानावात्मनेपदम्।१।४।१००

वृत्ति—तङ्प्रत्याहारः शानच्-कानचौ चैतत्संज्ञाः स्युः। पूर्वसंज्ञाऽपवादः।

शब्दार्थ—(तङ्) तङ्, (आनौ) शानच्-कानच् (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद हों। तङ् प्रत्याहार है। यह त, आताम्, झ; थास्, आथाम्, ध्वम्; इट्, वहि और महिङ् का बोधक है। शानच् और कानच् प्रत्यय हैं। इस प्रकार सूत्र के अनुसार यदि त, आताम् आदि नौ में से कोई भी लकार के स्थान पर आदेश होगा अथवा शानच् या कानच् का विधान होगा तो उनकी आत्मनेपद संज्ञा होगी। यह सूत्र पूर्ववर्ती सूत्र का अपवाद है।

अनुदात्तङित आत्मनेपदम्।१।३।१२

वृत्ति—अनुदात्तेतो ङितश्च धातोरात्मनेपदं स्यात्।

शब्दार्थ—(अनुदात्तङितः) अनुदात्तेत् (जिसका अनुदात्त स्वर इत् हो) और ङित् से (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद हो। जैसा कि पूर्वसूत्र (३७७) से स्पष्ट है, आत्मनेपद संज्ञा तङ् और शानच्-कानच् की बोधक है। इस प्रकार सूत्र के अनुसार अनुदात्तेत् और ङित् धातुओं से तङ्, शानच् और कानच् प्रत्ययों का विधान हो। यही इस सूत्र का अभिप्राय है।

उदाहरण—'एध' धातु का धकारोत्तरवर्ती अकार अनुदात्त तथा इत्संज्ञक है, अतः इससे आत्मनेपद आवेगा। इसी भाँति 'ङ्' के इत् होने से 'शीङ्' धातु से भी आत्मनेपद आता है।

स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले।

वृत्ति—(स्वरितञितः) स्वरितेत् और ञित् से (कर्त्रभिप्राये क्रियाफले) कर्तृगामी क्रियाफल होने पर, किन्तु इससे सूत्र का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' १.३.१२ से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति करनी होगी।

शब्दार्थ—स्वरितेत् (जिसका स्वरित स्वर इत् हो) और ञित् धातु से आत्मनेपद हो, यदि क्रिया का फल कर्तृगामी हो। यहाँ भी आत्मनेपद कहने से तङ्, शानच् और कानच् और कानच् का विधान अभिप्रेत है।

यहाँ यह ध्यान रहे कि यह सूत्र तभी प्रवृत्त होगा जब क्रिया का फल कर्तृगामी हो। क्रिया का फल दो प्रकार का हो सकता है—कर्तृगामी और परगामी। यदि फल कर्ता को मिलता है तो वह कर्तृगामी

कहा जावेगा और इस अवस्था में आत्मनेपद आवेगा। क्रिया का फल यदि कर्ता को छोड़कर अन्य किसी को मिले, तो उसे परगामी कहा जाता है। प्रस्तुत सूत्र से यह भी सूचित होता है कि क्रिया का फल कर्तृगामी होने पर ही स्वरितेत् और ञित् धातुओं से आत्मनेपद होगा। यदि फल परगामी है तो आत्मनेपद न होकर परस्मैपद होगा।

उदाहरण—'यज्' धातु का जकार रोत्तरवर्ती अकार स्वरित और इत्संज्ञक है। अत: यह 'स्वरितेत्' धातु है। यहाँ पर आत्मनेपदयुक्त वाक्य का प्रयोग होगा। इससे सूचित होता है कि कर्ता स्वयं अपने लिए यज्ञ कर रहा है, अत: यह फलभोक्ता भी स्वयं ही है, किन्तु यदि किसी अन्य के लिए यज्ञ किया जावे (जैसे पुरोहित अपने यजमान के लिए यज्ञ करता है), तो वहाँ आत्मनेपद न होकर परस्मैपद रूप प्रयुक्त होगा—'यज्ञमहं करिष्यामि'। यहाँ यद्यपि पुरोहित को दक्षिणा रूप फल प्राप्त होता है, किन्तु यज्ञ का मुख्य फल (पुत्र प्राप्ति आदि) उसे नहीं मिलता है। इसी से यहाँ आत्मनेपद का प्रयोग नहीं होगा। इसी प्रकार ञित् धातु 'श्रिञ्' से क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर आत्मनेपद का प्रयोग होगा, परगामी होने पर परस्मैपद होगा।

शेषात्कर्रित परस्मैपदम् ।१।३।७८

वृत्ति—आत्मनेपदनिमित्तहीनाद् धातो: कर्तरि परस्मैपदं स्यात्।

शब्दार्थ—(शेषात्) शेष से (कर्तरि) कर्ता में (परस्मैपदम्) परस्मैपद हो। 'शेष' का अभिप्राय समझने के लिए इस सूत्र को इसके सन्दर्भ में देखना आवश्यक है। इसके पूर्ववर्ती सूत्रों में आत्मनेपद का विधान किया गया है। यह आत्मनेपद-प्रकरण '३७८-अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' १.३.१२ से प्रारम्भ होकर 'विभाषोपपदेन प्रतीयमाने' १.३.७७ तक जाता है। इन सूत्रों के आधार पर आत्मनेपद व्यवस्था सामान्यत: इन अवस्थाओं में होती है—१. भाववाच्य और कर्मवाच्य में, २. अनुदात्तेत्, ३. ङित्, ४. स्वरितेत् कर्तृगामी क्रियाफल होने पर और ५. ञित् कर्तृगामी क्रियाफल होने पर। 'शेष' कहने का यही तात्पर्य है कि इन अवस्थाओं को छोड़कर शेष में कर्तृवाच्य में परस्मैपद का विधान होता है।

उदाहरण—'भू' धातु से आत्मनेपद का कोई निमित्त नहीं है, अत: उससे परस्मैपद आवेगा।

तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमा: ।१।४।१०१

वृत्ति—तिङ उभयो: पदयोस्त्रयस्त्रिका: क्रमात् एतत्संज्ञा: स्यु:।

शब्दार्थ—(तिङ:) तिङ् के (त्रीणि) तीन (त्रीणि) तीन के समूह (प्रथममध्यमोत्तमा:) प्रथम, मध्यम और उत्तमसंज्ञक हों। तङ् प्रत्याहार में तिप्, तस्, झि; सिप्, थस्, थ; मिप्, वस्, मस्; त, आताम्, झ; थास्, आथाम्, ध्वम्, इट्, वहि और महिङ्–इन अठारह प्रत्ययों का समाहार होता है। इनमें से प्रथम नौ की परस्मैपद संज्ञा होती है और शेष त, आताम् आदि नौ की आत्मनेपद संज्ञा। इस सूत्र के अनुसार परस्मैपद और आत्मनेपद–दोनों के ही तीन-तीन त्रिकों (तीन के समूह) की क्रमश: प्रथम, मध्यम और उत्तम संज्ञा हो। इसको तालिका द्वारा इस प्रकार प्रकट किया जा सकाता है—

	परस्मैपद	आत्मनेपद
प्रथम—	तिप्, तस्, झि	त, आताम्, झ
मध्यम—	सिप्, थस्, थ	थास्, आथाम्, ध्वम्
उत्तम—	मिप्, वस्, मस्	इट्, वहि, महिङ्

विशेष—इन्हीं को क्रमश: प्रथमपुरुष, मध्यमपुरुष और उत्तमपुरुष कहते हैं।

तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः ।१।४।१०२

वृत्ति—लब्धप्रथमादिसञ्ज्ञानि तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रत्येकमेकवचनादिसंज्ञानि स्यु:।

शब्दार्थ—(तानि) वे (एकश:) एक-एक करके (एकवचन-द्विवचन-बहुवचनानि) एकवचन,

द्विवचन और बहुवचन संज्ञक होते हैं। यहाँ सूत्रस्थ 'तानि' (वे) सङ्केतबोधक विशेषण है, किन्तु सूत्र में विशेष्य का उल्लेख न होने से भावार्थ स्पष्ट नहीं होता । उसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र '३८१– तिङस्त्रीणि त्रीणि–०' से 'तिङस्त्रीणि त्रीणि' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'तानि' इसी 'त्रीणि त्रीणि' का विशेषण है।

भावार्थ—तिङ् के इन त्रिकों (तीन-तीन के समूह) के तीन प्रत्ययों की क्रमशः एकवचन, द्विवचन और बहुवचन संज्ञा होती हैं। पूर्वसूत्र (३८१) से अठारह तिङ्-प्रत्ययों को तीन-तीन के समूहों में बाँटा गया है। इस सूत्र से उन समूहों में आये हुए प्रत्ययों की एकवचन आदि संज्ञाओं का विधान किया गया है।

उदाहरण—प्रथम समूह (त्रिक) में तिप्, तस् और झि–ये तीन प्रत्यय आते हैं। प्रस्तुत सूत्र से इनकी क्रमशः एकवचन, द्विवचन और बहुवचन संज्ञाएँ होती है अर्थात् 'तिप्' एकवचन, 'तस्' द्विवचन और 'झि' बहुवचन संज्ञक होगा। इसी प्रकार अन्य त्रिकों में भी एकवचनादि की व्यवस्था जाननी चाहिये।

युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः । १।४।१०५

वृत्ति—तिङ्वाच्यकारकवाचिनि युष्मदि प्रयुज्यमानेऽप्रयुज्यमाने च मध्यमः ।

शब्दार्थ—(युष्मद्युपपदे = युष्मदि + उपपदे) युष्मद् उपपद रहने पर और (समाना-धिकरणे) समान अधिकरण में (स्थानिन्यपि) प्रयुज्यमान और अप्रयुज्यमान होने पर भी (मध्यमः) मध्यम-पुरुष होता है। तात्पर्य यह कि 'युष्मद्' शब्द उपपद रहने पर तथा समानाधिकरण में 'युष्मद्' शब्द के प्रयोग होने या न होने पर भी मध्यमपुरुष होता है। 'समानाधिकरण' का अर्थ है—भिन्न-प्रवृत्ति वाले शब्दों का एक ही अर्थ में प्रवृत्त होना। प्रसङ्गानुसार यहाँ 'युष्मद्' तिङ् या क्रिया का समानाधिकरण होगा। यह तभी सम्भव है जब दोनों का एक ही अर्थ अर्थात् कारक हो। सिप्, थस्, थ; थास्, आथाम् तथा ध्वम्–इन छः प्रत्ययों को मध्यम-पुरुष कहते हैं।

भावार्थ—'युष्मद्' शब्द उपपद रहने पर या क्रिया का कारक 'युष्मद्' होने पर (चाहे 'युष्मद्' शब्द का प्रयोग हुआ हो या न हो) मध्यमपुरुष (सिप्, थस्, थ; थास्, आथाम् तथा ध्वम्) होता है। दूसरे शब्दों में, मध्यमपुरुष निम्नाङ्कित दो अवस्थाओं में होता है—(१) 'युष्मद्' शब्द उपपद होने पर और (२) क्रिया का कारक 'युष्मद्' होने पर। इस स्थिति में 'युष्मद्' शब्द का प्रयोग होने और न होने–इन दोनों ही अवस्थाओं में मध्यमपुरुष होता है।

उदाहरण—'युष्मद्' के कर्ता-कारक में होने पर 'त्वं गच्छसि' (तुम जाते हो)—इस प्रकार मध्यमपुरुष 'सिप्' का प्रयोग हो 'गच्छति' रूप बनता है। यहाँ यदि 'त्वम्' का प्रयोग न भी हो, तब भी 'गच्छसि' रूप ही रहेगा।

अस्मद्युत्तमः ।१।४।१०७

वृत्ति—तथाभूतेऽस्माद्युत्तमः ।

शब्दार्थ—(अस्मदि) 'अस्मद्' शब्द होने पर (उत्तमः) उत्तमपुरुष होता है, किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र '३८३–युष्मदि–०' से 'उपपदे', 'समानाधिकरणे' और 'स्थानिन्यपि' की अनुवृत्ति करनी होगी।

भावार्थ—'अस्मद्' शब्द उपपद रहने पर या क्रिया का कारक 'अस्मद्' होने पर (चाहे 'अस्मद्' शब्द का प्रयोग हुआ हो या न हो) उत्तमपुरुष (मिप्, वस्, मस्; इट्, वहि तथा महिङ्) होता है।

उदाहरण—'अस्मद्' के कर्ता–कारक में होने पर 'अहम् गच्छामि' रूप बनता है। यहाँ उत्तमपुरुष 'मिप्' का प्रयोग हो 'गच्छामि' रूप बना है। 'अहम्' का प्रयोग न होने पर भी 'गच्छामि' रूप ही रहता है।

शेषे प्रथमः ।१।४।१०८

वृत्ति—मध्यमोत्तमयोरविषये प्रथमः स्यात् ।

शब्दार्थ—(शेषे) शेष में (प्रथमः) प्रथम पुरुष होता है । 'शेष' का अर्थ है—जो कहा जा चुका है, उसको छोड़कर अन्य (उक्तादन्यः शेषः) । इस सूत्र के पूर्व '३८३– युष्मदि–०' से लेकर '३८४– अस्मदि–०' तक मध्यम और उत्तमपुरुष के विषयों का विवेचन हुआ है । उसके अनुसार 'युष्मद्' होने पर 'मध्यमपुरुष' और 'अस्मद्' होने पर 'उत्तमपुरुष' होता है । इन दो को छोड़कर जो कुछ बाकी रह जाता है, वही 'शेष' के अन्तर्गत आता है । इस प्रकार 'शेष' के अन्तर्गत 'युष्मद्' और 'अस्मद्' छोड़कर सभी सर्वनाम (यथा–इदम्, एतद्, तद्, अदस्, किम्, यद्) और संज्ञाएँ (यथा–'रामः' आदि) आ जावेंगी । अतः प्रकृत सूत्र के अनुसार इन शब्दों के साथ प्रथम-संज्ञक तङ्—तिप्, तस्, झि; त, आताम् और झ–इन प्रत्ययों का प्रयोग होगा ।

उदाहरण—'सः गच्छति' 'रामः पठति' आदि में प्रथम संज्ञक प्रत्यय 'तिप्' का प्रयोग हुआ है ।

विशेष—ध्यान रहे कि संस्कृत-रचना में कर्ता के पुरुष और वचन के अनुसार ही क्रिया का पुरुष और वचन होता है । पूर्ववर्ती सूत्र '३८१–तिङस्त्रीणि–०' में क्रिया के हेतुभूत तङ् प्रत्ययों के उत्तम, मध्यम और प्रथम पुरुषों का विवेचन किया गया है । अतः इसके पश्चात् कारक के भी पुरुषों का विवेचन करना आवश्यक हो जाता है; क्योंकि कर्ता के अनुरूप ही क्रिया का प्रयोग होता है । इसी का विवेचन प्रस्तुत तीन सूत्रों (३८३, ३८४, ३८५) में हुआ है । इन सूत्रों के लिखने का यही अभिप्राय है कि कर्ता के पुरुष के अनुसार ही क्रिया-रूप का प्रयोग हो ।

तिङ् शित् सार्वधातुकम् ।३।४।११३

वृत्ति—तिङ शितश्च धात्वधिकारोक्ता एतत्संज्ञाः स्युः ।

शब्दार्थ—(तिङ्) तिङ्, (शित्) शित् (सार्वधातुकम्) सार्वधातुक-संज्ञक हों । प्रस्तुत सूत्र 'धातोः' ३.१.९१ के अधिकार में आया है । अतः धात्वधिकार में ही तिङ् और शित् प्रत्ययों की सार्वधातुक संज्ञा होगी ।

उदाहरण—'भू + तिप्' में 'तिङ्'–'तिप्'–की सार्वधातुक संज्ञा होती है । प्रकार की '१–हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा होकर उकसा लोप हो जाता है, अतः रूप बनता है—'भू + ति' ।

कर्तरि शप् ।३।१।६८

वृत्ति—कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे धातोः शप् ।

शब्दार्थ—(कर्तरि) कर्ता में (शप्) शप् हो, किन्तु इससे सूत्र का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता है । इसके लिए 'धातोकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्' ३.१.२२ से 'धातोः' और 'सार्वधातुके यक्' ३.१.६७ से 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति करनी होगी । सूत्रस्थ 'कर्तरि' इस 'सार्वधातुके' का विशेषण है ।

भावार्थ—कर्तावाची (कर्तृवाच्य में) सार्वधातुक परे होने पर धातु से 'शप्' प्रत्यय होता है । 'शप्' प्रत्यय के पकार और शकार इत्संज्ञक हैं । पकार की '१–हलन्त्यम्' और शकार की '१३६–लशकु–०' से इत् संज्ञा होती है । इत्संज्ञा होने पर '३–तस्य लोपः' से उनका लोप हो जाता है । केवल शेष 'अ' का ही प्रयोग होता है ।

उदाहरण—'भू + ति' में तिङ्–'ति' सार्वधातुक है । कर्ता में लकार होने से तथा उस लकार के स्थान के स्थान में आदेश होने पर इसका भी अर्थ कर्ता हो जाता है । अतः इसके परे होने पर प्रकृतसूत्र द्वारा 'शप्' प्रत्यय होकर 'भू अ ति' रूप बनता है । यहाँ '१३३–यस्मात् प्रत्ययविधि–०' १.४.१३ परिभाषा से शप् से परे होने पर भी धातु 'भू' की अङ्ग संज्ञा होती है ।

सार्वधातुकाऽऽर्धधातुकयोः ।७।३।८४

वृत्ति—अनयोः परयोरिगन्ताङ्गस्य गुणः ।

शब्दार्थ—(सार्वधातुक०) सार्वधातुक और आर्धधातुक के परे होने पर। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'मिदेर्गुण:' ७.३.८२ से 'गुण:' तथा अधिकार-सूत्र 'अङ्गस्य' ६.४.१ की अनुवृत्ति करनी होगी। यहाँ ध्यान रहे कि गुण-आदेश 'इको गुणवृद्धी' १.१.३ परिभाषा से 'इक्' के स्थान पर ही होता है। अत: यहाँ 'इक:' का भी अध्याहार हो जाता है। यह 'इक:' 'अङ्गस्य' का विशेषण बनता है। विशेषण होने से उसमें तदन्त-विधि हो जाती है।

भावार्थ—सार्वधातुक और आर्धधातुक के परे होने पर इक् (इ, उ, ऋ, ऌ) अन्तवाले अङ्ग के स्थान पर गुण आदेश होता है। यह आदेश '२१–अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से अङ्ग के अन्त्य इक् इ, उ, ऋ, ऌ–के स्थान पर ही होगा।

उदाहरण—'भू अ ति' में ऊकारान्त 'भू' इगन्त है और उससे परे सार्वधातुक 'ति' है। अत: प्रकृतसूत्र से अन्त्य ऊकार के स्थान पर गुण-ओकार होकर 'भ् ओ अ ति' रूप बनता है। यहाँ '२२–एचोऽयवायाव:' ६.१.७८ से ओकार के स्थान पर 'अव्' आदेश होकर 'भ् अव् अ ति' = 'भवति' रूप सिद्ध होता है।

अतो दीर्घो यञि।७।३।१०१

वृत्ति—अतोऽङ्गस्य दीर्घो यञादौ सार्वधातुके।

भवामि, भवाव:, भवाम:। स भवति, तौ भवत:, ते भवन्ति। त्वं भवसि, युवां भवथ:, यूयं भवथ। अहं भवामि, आवां भवाव:, वयं भवाम:।

शब्दार्थ—(यञि) यञ् परे होने पर (अतो) अकार के स्थान पर (दीर्घ:) दीर्घ आदेश होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'तुरुस्तुशम्यम: सार्वधातुके' ७.३.९५ से 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति करनी होगी। यह 'अञि' का विषेष्य है। इसके साथ ही साथ 'अङ्गस्य' ६.४.१ अधिकार-सूत्र की भी अनुवृत्ति करनी होगी। यह 'अत:' का विशेष्य है।

भावार्थ—यञादि सार्वधातुक (जिसके आदि में य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, या भ् हो) परे होने पर अदन्त अङ्ग (जिसके अन्त में ह्रस्व अकार हो) के स्थान पर दीर्घ आदेश होताहै। यहाँ '२१–अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से दीर्घादेश अङ्ग के अन्त्य अकार के स्थान पर ही होगा।

उदाहरण—उत्तम एकवचन में 'भू + मि' रूप बनता है। यहाँ पहले शप्, गुण और अवादेश होने पर 'भव + मि' रूप बनेगा। तब यञ्–मकार आदि वाला 'मिप्' सार्वधातुक परे होने पर 'भव' के अन्त्य अकार को दीर्घ होकर 'भवामि' रूप सिद्ध होता है।

परोक्षे लिट्।३।२।११५

वृत्ति—भूतानद्यतनपरोक्षार्थवृत्तेर्धातोर्लिट् स्यात्। लस्य तिबादय:।

शब्दार्थ—(परोक्षे) परोक्ष में (लिट्) लिट् लकार होता है। परोक्ष का अर्थ है-जो सामने न हो। एक अर्थ में तो सभी प्रकार की क्रियाएँ परोक्ष कही जा सकती है; क्योंकि उनका प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता, किन्तु यहाँ परोक्ष का तात्पर्य है—व्यापार-विशिष्ट के साधनों का सम्मुख उपस्थित न होना। इसके साथ ही साथ सूत्र के स्पष्टीकरण के लिए 'अनद्यतने लङ्' ३.२.१११ से 'अनद्यतने' तथा अधिकार-सूत्र 'भूते' ३.२.८४ और 'धातो:' ३.१.९१ की अनुवृत्ति करनी होगी।

भावार्थ—अनद्यतन (आज न होने वाले) परोक्षभूत में वर्तमान धातु से लिट् (ल्) होता है। यहाँ '३७५–तिप्तस्झि–०' ३.४.७८ से लकार के स्थान पर तिप् तस् आदि अठारह आदेश प्राप्त होते हैं, किन्तु अग्रिम सूत्र से इसका बाध हो जाता है—

परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमा:।३।४।८२

वृत्ति—लिटस्तिबादीनां नवानां णलादय: स्यु:।

'भू अ' इति स्थिते—

शब्दार्थ—(परस्मैपदानां) परस्मैपद के स्थान में (णलतुसुस्०–) णल्, अतुस्, उस्; थल्, अथुस्, अ; णल्, व और म आदेश होते हैं। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'लिट-स्तझयोरेशिरेच्' ३.४.८१ से 'लिट:' की अनुवृत्ति करनी होगी। परस्मैपद में तिप्, तस्, झि; सिप्, थस्, थ; मिप्, वस् और मस्– इन नौ प्रत्ययों का समहार होता है। इनके स्थान पर नौ आदेशों का विधान किया गया है। '२३–यथासंख्यमनुदेश: समानाम्' १.३.१० परिभाषा से यह आदेश क्रमानुसार होगा।

भावार्थ—लिट्-स्थानी परस्मैपद तिप्, तस् आदि के स्थान पर क्रमश: णल्, अतुस् आदि आदेश होते हैं।

उदाहरण—'भू + तिप्' में लिट् की विवक्षा में तिप् के स्थान पर णल् आदेश होता है। 'णल्' में णकार और लकार की इत्संज्ञा होने पर उनका लोप होकर केवल अकार ही शेष रह जाता है और इस प्रकार रूप बनता है—'भू + अ'।

लिटि धातोरनभ्यासस्य।६।१।८

वृत्ति—लिटि परे अनभ्यासधात्ववयवस्यैकाच: प्रथमस्य द्वे स्त:, आदिभूतादच: परस्य तु द्वितीयस्य।

शब्दार्थ—(लिटि) लिट् परे होने पर (अनभ्यासस्य) अभ्यास-रहित (धातो:) धातु के...। किन्तु होता क्या है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। उसके स्पष्टीकरण के लिए 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' ६.१.१ और 'अजादेर्द्वितीयस्य' ६.१.२—इन दो अधिकार-सूत्रों की अनुवृत्ति करनी होगी। यहाँ दो प्रकार के आदेशों का विधान किया गया है। प्रथम में सूत्रस्थ 'धातो:' से 'एकाचो प्रथमस्य' सम्बन्धित है और दूसरे में 'अजादेर्द्वितीयस्य'।

भावार्थ—अभ्यास-रहित (जिसका पहले द्वित्व न हुआ हो) धातु के प्रथम एकाच् (एक स्वर वाला समुदाय) को द्वित्व होता है, किन्तु अभ्यास-रहित धातु यदि अजादि होगी तो उसके द्वितीय एकाच् को द्वित्व होगा। प्रथम नियम हलादि (जिसके आदि में कोई व्यञ्जन हो) धातुओं के विषय में है और दूसरा नियम अजादि (जिनके आदि में कोई स्वर-वर्ण हो) धातुओं के विषय में है। ध्यान रहे कि ये दोनों नियम लिट् (अर्थात् लिट्-स्थानीय प्रत्यय) परे होने पर ही प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यदि धातु का पहले ही द्वित्व न हुआ हो, तो लिट् स्थानीय प्रत्यय परे होने पर हलादि धातु के प्रथम एकाच् और अजादि धातु के द्वितीय एकाच् का द्वित्व हो जाता है। यह अन्तर वस्तुत: अनेकाच् (अनेक स्वर-वर्ण वाली) धातुओं के ही विषय में है; क्योंकि एकाच् (एक स्वर-वर्ण वाली) धातुओं के विषय में प्रथम और द्वितीय अच् का प्रश्न ही नहीं उठता। वहाँ तो एक ही अच् होने के कारण हलादि और अजादि—इन दोनों ही रूपों में व्यपदेशिवद्भाव से सम्पूर्ण धातु का ही द्वित्व होता है। सङ्क्षेप में, लिट् परे होने पर अभ्यास-रहित धातु के विषय में दो कार्य होते हैं—

(क) अनेकाच् हलादि धातु के प्रथम एकाच् और अनेकाच् अजादि धातु के द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है।

(ख) सम्पूर्ण एकाच् धातु (चाहे वह अजादि हो या हलादि) को द्वित्व होता है।

उदाहरण—'चकास्' (चमकना) और 'ऊर्णुञ्' (आच्छादन करना) धातुएँ अनेकाच् हैं। प्रथम हलादि धातु है और द्वितीय अजादि। अत: लिट् परे होने पर प्रकृत सूत्र से 'चकास्' के प्रथम एकाच्– 'च' और 'ऊर्णुञ्' के द्वितीय एकाच् 'णु' को द्वित्व होगा। 'अत्' धातु अजादि एकाच् है, अत: सम्पूर्ण धातु को ही द्वित्व होगा। इसी प्रकार 'भूव् अ' में भी लिट् परे होने से हलादि एकाच् धातु 'भूव्' को द्वित्व हो 'भूव् भूव् अ' रूप बनता है।

पूर्वोऽभ्यास:।६।१।४

वृत्ति—अत्र ये द्वे विहिते, तयो: पूर्वोऽभ्याससंज्ञ: स्यात्।

शब्दार्थ—(पूर्वः) पूर्व (अभ्यासः) अभ्यास-संज्ञक होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' ६.१.१ से 'द्वे' की अनुवृत्ति होती है; जो कि षष्ठ्यन्त में विपरिणत हो जाता है। प्रसङ्गानुसार यहाँ 'एकाचो-०' ६.१.१ और 'अजादेः-०' ६.१.२ के अधिकार में होने वाले द्वित्व का ही ग्रहण होता है।

भावार्थ—जहाँ 'एकाचो-०' ६.१.१ या 'अजादेः-०' ६.१.२ के अधिकार में द्वित्व करके दो रूप बनाये गये हों, वहाँ पूर्व रूप 'अभ्यास' कहलाता है।

उदाहरण—'भूव् भूव् अ' में पूर्वसूत्र (३९४) से 'भुव्' का द्वित्व हुआ है अतः प्रकृत सूत्र से यहाँ प्रथम 'भूव्' की अभ्यास संज्ञा होती है।

हलादिः शेषः ७।४।६०

वृत्ति—अभ्यासस्यादिर्हल् शिष्यते, अन्ये हलो लुप्यन्ते। इति वलोपे।

शब्दार्थ—(आदिः) आदि (हल्) हल् (शेषः) शेष रहता है, किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' ७.४.५८ से 'अभ्यासस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी।

भावार्थ—अभ्यास का आदि (प्रारम्भ का या प्रथम) हल् (व्यञ्जन-वर्ण) शेष रह जाता है। तात्पर्य यह है कि अभ्यास के प्रारम्भिक व्यञ्जन को छोड़कर अन्य सभी व्यञ्जनों का लोप हो जाता है।

उदाहरण—'भूव् भव् अ' में प्रथम 'भूव्' अभ्यास-संज्ञक है। अतः उसके आदि हल् भकार को छोड़कर अन्य हल्-वकार का लोप हो जाता है और रूप बनता है—**'भू भूव् अ'**।

ह्रस्वः।७।४।५९

वृत्ति—अभ्यासस्याऽचो ह्रस्वः स्यात्।

शब्दार्थ—(ह्रस्वः) ह्रस्व आदेश होता है, किन्तु इससे सूत्र का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता है। इसके लिए 'सनि मीमाघुरभलभशकपतपदामच इस्' ७.४.५४ से 'अचः' और 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' ७.४.५८ से 'अभ्यासस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अचः' 'अभ्यासस्य' का विशेष्य है।

भावार्थ—अभ्यास के अच् (स्वर) को ह्रस्व आदेश होता है। 'अलोऽन्त्य' १.१.५२ परिभाषा से यह ह्रस्वादेश अभ्यास के अन्त्य स्वर के स्थान पर ही होगा।

उदाहरण—'भू भूव् अ' में अभ्यास 'भू' के अच्-ऊकार को ह्रस्व उकार होकर **'भु भूव् अ'** रूप बनता है।

अभ्यासे चर्च।८।४।५४

वृत्ति—अभ्यासे झलां चरः स्युः, जशश्च।

झलां जशः, खयां चर इति विवेकः।

बभूव, बभूवतुः, बभूवुः।

शब्दार्थ—(च) और (अभ्यासे) अभ्यास में (चर्) चर् होता है। यहाँ सूत्रस्थ 'च' से स्पष्ट है कि यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। इसको समझने के लिए 'झलां जश् झशि' ८.४.५३ से 'झलां जश्' की अनुवृत्ति करनी होगी।

भावार्थ—अभ्यास में झलों के स्थान पर चर् हों और जश् भी। झल् प्रत्याहार में भी सभी वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्ण तथा श्, ष्, स्, ह् का समावेश होता है। इनके स्थान पर आदेश हैं—चर् और जश्। चर् में सभी वर्गों के प्रथम वर्ण और श्, ष्, स् आते हैं और जश् में वर्गों के तृतीय वर्ण। अब यहाँ प्रश्न आता है कि किस वर्ण के स्थान पर कौन-सा वर्ण हो; क्योंकि आदेश दो हैं।

भावार्थ—प्रथम वर्ण को प्रथम वर्ण, तृतीय वर्ण को तृतीय वर्ण तथा श्, ष्, स् को श्, ष्, स् ही आदेश होंगे; क्योंकि ये स्थानी और आदेश—दोनों में मध्यस्थ हैं। अब शेष रह जाते हैं—द्वितीय और चतुर्थ वर्ण तथ हकार। इनमें द्वितीय वर्ण को प्रथम वर्ण (चर्) और चतुर्थ वर्ण को तृतीय वर्ण (जश्) आदेश होता है।

उदाहरण—'छद्' धातु में द्वितीय वर्ण छकार को प्रथम वर्ण चकार होकर 'चिच्छेद' रूप बनता है। इसी प्रकार 'ढौक्' में चतुर्थ वर्ण ढकार को तृतीय वर्ण–डकार होकर 'डुढौके' रूप बनता है। हकार के स्थान पर '१७–स्थानेऽन्तरतमः' १.१.५० परिभाषाः से चवर्ग–झकार आदेश होता है। सङ्क्षेप में इस सूत्र की यही व्यवस्था है।

'भ भूव् अ' में प्रकृतसूत्र से झल् चतुर्थ वर्ण भकार के स्थान पर जश् तृतीय वर्ण बकार होकर 'ब् अ भ् व् अ' = 'अभूव' रूप सिद्ध होता है।

लुटः प्रथमस्य डारौरसः ।२।४।८५

वृत्ति—डित्वसामर्थ्यादभयस्यापि टेर्लोपः। भविता।

शब्दार्थ—(लुटः) लुट् के (प्रथमस्य) प्रथम के स्थान पर (डारौरसः) डा, रौ, रस् आदेश हों। यहाँ आदेश तीन हैं, अतः प्रथमपुरुष (परस्मैपद और आत्मनेपद) के तिप् या त, तम् या आताम् और झि या झ—इन तीन प्रत्ययों के ही स्थान पर होंगे। '२३–यथासंख्यम्–०' परिभाषा से तिप् या त के स्थान पर 'डा', तस् या आताम् के स्थान पर 'रौ' तथा झि या झ के स्थान पर 'रस्' आदेश होता है।

उदाहरण—'भवितास् ति' में लुट् के प्रथम 'तिप्' के स्थान पर 'डा' आदेश होता है। 'डा' में डकार इत्संज्ञक है, अतः आकार ही शेष रह जाता है और रूप बनता है—'भवितास् आ'। यहाँ डित् 'आ' परे होने के कारण '२४२–टेः' ६.४.१४३ से 'टि'–'आस्' का लोप होकर 'भवित् आ' = 'भविता' रूप सिद्ध होता है।

तासस्त्योर्लोपः ।७।४।५०

वृत्ति—तासेरस्तेश्च लोपः स्यात् सादौ प्रत्यये परे।

शब्दार्थ—(तासस्त्योः) 'तास्' और 'अस्' धातु का (लोपः) लोप हो। यह लोप किस अवस्था में होना चाहिये, इसका निर्देश प्रकृतसूत्र से नहीं मिलता है। यहाँ 'सः स्यार्द्धधातुके' ७.४.४९ से 'से' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'सि' अङ्गाक्षिप्त प्रत्यय का विशेषण है, अतः 'यस्मिन्विधिः–०' परिभाषा से तदापि-विधि होती है।

भावार्थ—सादि प्रत्यय (जिसके आदि में सकार हो) परे होने पर तास् और अस् धातु का लोप होता है। '२१–अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से यह लोप 'तास्' और 'अस्' के अन्त्य सकार का ही होगा। 'तास्' के सकार के लोप का उदाहरण मध्यम-पुरुष एकवचन 'भवितास् सि' = 'भवितासि' में मिलता है। इसी प्रकार 'अस्' के सकार-लोप का उदाहरण अदादिगण की 'अस्' धातु के 'अस् सि' = 'असि' रूप में मिलता है।

रि चं ।७।४।५१

वृत्ति—रादौ प्रत्यये तथा। भवितारौ, भवितारः। भवितासि, भवितास्थः, भवितास्य। भवितास्मि, भवितास्वः, भवितास्मः।

शब्दार्थ—(च) और (रि) रकारादि प्रत्यय परे होने पर। यहाँ 'च' उसे ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। इसके स्पष्टीकरण के लिए ४०६–'तासस्त्योर्लोपः' ७.४.५० की अनुवृत्ति करनी होगी।

भावार्थ—रकारादि प्रत्यय (जिसके आदि में रकार हो) परे होने पर तास् और अस के सकार का लोप होता है।

उदाहरण—प्रथमा द्विवचन 'भवितास् रौ' में रकारादि प्रत्यय 'रौ' परे होने के कारण 'तास्' के सकार का लोप होकर 'भवितारौ' रूप सिद्ध होता है।

लट् शेषे च ।३।३।१३

वृत्ति—भविष्यदर्थात् धातोर्लृट्, क्रियार्थायां क्रियायां सत्याम्, असत्याम् । स्यः, इट् । भविष्यति, भविष्यतः, भविष्यन्ति: । भविष्यसि, भविष्यथः, भविष्यथ । भविष्यामि, भविष्यावः, भविष्यामः ।

शब्दार्थ—(च) और (शेषे) शेष में (लृट्) लृट् लकार होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'भविष्यति गम्यादयः' ३.३.३ से 'भविष्यति' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'धातोः' ३.१.९१ का यहाँ अधिकार है। 'च' का सङ्केत 'तुमन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' ३.३.१० से विहित 'क्रियार्थ उपपद' से है। 'शेष' का अभिप्राय क्रियार्थोपपद से भिन्न क्रिया से है।

भावार्थ—भविष्यकाल की विवक्षा में धातु से लृट् होता है, क्रियार्थ क्रिया चाहे विद्यमान हो चाहे न हो। जब एक क्रिया दूसरी क्रिया के लिए की जाती है तो उसको 'क्रियार्थ-क्रिया' कहते हैं।

उदाहरण—'पठितुं गच्छामि' में पढ़ने के लिए गमन-क्रिया की जा रही है, अतः गमन-क्रिया 'क्रियार्थ क्रिया' है। प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि 'क्रियार्थ-क्रिया' चाहे उपस्थित हो और चाहे न हो, भविष्यार्थ में लृट् लकार होता है। जैसे-'अहं पठिष्यामि' में 'क्रियार्थ-क्रिया' नहीं है, तब भी धातु से लृट लकार हुआ है। 'क्रियार्थ क्रिया' का अन्य उदाहण 'पठिष्यति–इति गच्छति' में मिलता है।

लोट् च ।३।३।१६२

वृत्ति—विध्याद्यर्थेषु धातोर्लोट् ।

शब्दार्थ—(च) और (लोट्) लोट् हो। यहाँ 'च' के प्रयोग से ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्ट-संप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्' ३.३.१६१ से 'लिङ्' को छोड़कर समस्त सूत्र की अनुवृत्ति होगी। 'धातोः' ३.१.९१ का यहाँ भी अधिकार प्राप्त है।

भावार्थ—विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, संप्रश्न और प्रार्थना अर्थ में धातु से लोट् लकार होता है। इसको भली भाँति समझने के लिए विधि, निमन्त्रण आदि का अर्थ समझना आवश्यक है—

१. विधि—इसका अर्थ है-प्रेरणा। नौकरों और मजदूरों आदि अपने से छोटों के प्रति जो आज्ञा दी जाती है, उसे 'प्रेरण' कहा जाता है। **उदाहरण**—'पुस्तकं आनय' में आदेश दिया जा रहा है, अतः यहाँ पर विधि रूप प्रेरणा है। इस प्रकार की प्रेरणा का करना आवश्यक है, न करने पद दण्ड का भागी होना पड़ता है।

२. निमन्त्रण—उस प्रेरणा को कहते हैं जो अपने समान के बन्धु-बान्धवों को दी जाती है। इसमें आज्ञा का भाव उतना प्रबल नहीं होता, पर इस प्रेरणा के अनुसार भी काम करना आवश्यक है, उसे टाला नहीं जा सकता है। इसी से 'काशिका' में कहा है—'निमन्त्रणं नियोगकरणम्'। इसका उदाहरण है–'अमुत्र भवान् भुङ्क्ताम्' = आप यहाँ खावें।

३. आमन्त्रण—उस प्रेरणा को कहते हैं जिसमें निमन्त्रण से कम बल होता है, इसमें प्रेर्यमाण व्यक्ति को पूरी स्वतन्त्रता है कि चाहे वह काम करे, चाहे न करे। इसी से तो कहा गया है—'आमन्त्रणं कामचारकरणम्'। इसका उदाहरण है–'इह भवान् आगच्छतु'—आप यहा आवें। इसमें आमन्त्रित व्यक्ति को स्वतन्त्रता है कि चाहे वह आवे चाहे न आवे। इसे 'अनुरोध' कहा जा सकता है।

४. अधीष्ट—उस प्रेरणा को कहते हैं जिसमें सत्कार की भावना भी हो—'अधीष्टः सत्कारपूर्वको व्यापारः'। इसका सम्बन्ध उच्च कोटि के लोगों से है। उदाहरण के लिए अध्यापक से सत्कारपूर्वक कहा जाता है—'भवान् मम पुत्रमध्यापयतु'—आप मेरे पुत्र को पढ़ाइये।

५. संप्रश्न—उस प्रेरणा को कहते हैं जिसमें परामर्श लेने का भाव हो। कहा भी है—'सम्प्रश्नः सम्प्रधारणम्'। इसका उदाहरण है—'किं भो व्याकरणमधीयीय, उत वेदम्' = क्या मैं व्याकरण पढ़ूँ या

वेद? इसमें भी प्रेरणा है, पर सलाह के लिए।

६. प्रार्थना—उस प्रेरणा को कहते हैं जो अपने से बड़ों के प्रति की जाती है। इसमें माँगने का भाव रहता है—'प्रार्थनं याञ्चा'। इसका उदाहरण है—'भवति मे प्रार्थना व्याकरणमधीयीय' = आपसे मेरी प्रार्थना है कि मुझे व्याकरण पढ़ने दीजिये।

इस प्रकार 'इन छ: अवस्थाओं में धातु से लोट् लकार का विधान किया गया है। सूत्र में 'च' कहने से इन अर्थों में ४२५वें सूत्र से 'लिङ्' लकार भी होता है।

आशिषि लिङ् लोटौ ।३।३।१७३

वृत्ति—आशिष्यपि लिङ्लोटौ स्त:। आशी: अप्राप्तेष्टप्राप्तीच्छा।

शब्दार्थ—(आशिषि) आशीर्वाद अर्थ में (लिङ्लोटौ) लिङ् और लोट् लकार होते हैं। 'आशी:' का अर्थ है—अप्राप्त इष्ट वस्तु की प्राप्ति की इच्छा। इस प्रकार जो वस्तु हमें इष्ट हो और अप्राप्त भी हो, उसकी प्राप्ति की इच्छा प्रकट करने पर लोट् और लिङ् लकार का प्रयोग होता है, जैसे 'पुत्रं ते भवतु, भूयाद् वा'–तुम्हारे पुत्र हो।

एरु: ।३।४।८६

वृत्ति—लोट इकारस्य उ:। भवतु।

शब्दार्थ—(ए:) इ के स्थान पर (उ:) उकार आदेश हो, किन्तु यह आदेश किस अवस्था में होना चाहिये—यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'लोटो लङ्वत्' ३.४.८५ से 'लोट:' की अनुवृत्ति करनी होती। 'लोट:' सूत्रस्थ 'ए:' का विशेषण है।

भावार्थ—लोट् के इकार के स्थान पर उकार आदेश होता है।

उदाहरण—प्रथम एकवचन 'भवति' में लोट्स्थानिक 'ति' के इकार को उकार होकर 'भवत् उ' = 'भवतु' रूप सिद्ध होता है।

तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याॅम् ।७।१।३५

वृत्ति—आशिषि तुह्योस्तातङ् वा। परत्वात् सर्वादेश:–भवतात्।

शब्दार्थ—(आशिषि) आशीर्वाद अर्थ में (तुह्यो:) 'तु' और 'हि' के स्थान पर (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (तातङ्) 'तातङ्' आदेश होता है। ध्यान रहे कि लोट् में ४११वें सूत्र से सूत्र से उकार अन्तादेश ४१५वें सूत्र से 'सि' को 'हि' आदेश होता है। इन्हीं के स्थान पर प्रकृत सूत्र से विकल्पत: 'तातङ्' का विधान हुआ है। 'तातङ्' में अङ् की इत्संज्ञा होकर उसका लोप हो जाता है, अत: 'तात्' ही शेष बचता है।

उदाहरण—प्रथम एकवचन 'भवतु' में '४५–अनेकाल् शित्सर्वस्य' १.१.५५ की सहायता से सम्पूर्ण 'तु' के स्थान पर 'तात्' आदेश होकर 'भवतात्' रूप सिद्ध होता है। विकल्पावस्था में 'भवतु' रूप ही रहेगा।

लोटो लङ्वत्ॅ ।३।४।८५

वृत्ति—लोटस्तामादय:, सलोपश्च।

शब्दार्थ—(लोट:) लोट् के स्थान में (लङ्वत्) लङ्वत् होता है। तात्पर्य यह कि लोट् के स्थान पर लङ् के समान, कार्य होते हैं। इस प्रकार लङ् में जो 'ताम्' सकार-लोपादि कार्य होंगे, वही लोट् के स्थान पर भी होंगे। लङ् के कार्यों का वर्णन आगे आवेगा।

तस्थस्थमिपां तांतंतामः ।३।४।१०१

वृत्ति—ङितश्चतुर्णां तामादय: क्रमात् स्यु:। भवताम्। भवन्तु।

शब्दार्थ—(तस्थस्थमिपां) तस्, थस्, थ और मिप् के स्थान पर (तांतंताम:) ताम्, तम्, त और

अम् आदेश हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'नित्यं ङितः' ३.४.९९ से 'ङितः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'ङित्' अधिकृत लकार का विशेषण है और उसमें लङ्, लिङ्, लुङ् और लृङ्—इन चार लकारों का समावेश होता है।

भावार्थ—लङ्, लिङ्, लुङ् और लृङ् लकारों के तस्, थस्, थ और मिप् के स्थान पर ताम्, तम्, त और अम् आदेश होते हैं। यहाँ स्थानी और आदेश समान होने के कारण '२३–यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' १.३.१० से क्रमशः 'तस्' के स्थान पर 'ताम्', 'थस्' के स्थान पर 'तम्', 'थ' के स्थान पर 'त' और 'मिप्' के स्थान पर 'अम्' आदेश होता है।

उदाहरण—लोट् के प्रथम द्विवचन में 'भव तस्'–इस स्थिति में पूर्वसूत्र (४१३) से लोट् के स्थान में लङ्वत् कार्य होने के कारण 'तस्' के स्थान पर 'ताम्' आदेश होता है। 'ताम्' अनेकाल् है, अतः '४५–अनेकाल्–' १.१.५५ परिभाषा से सम्पूर्ण स्थानी 'तस्' के स्थान पर आदेश होता है और इस प्रकार 'भवताम्' रूप सिद्ध होता है।

सेर्ह्यपिच्च।।३।४।८७

वृत्ति—लोटः सेर्हिः, सोऽपिच्च।

शब्दार्थ—(च) और (सेः) 'सि' के स्थान पर (अपित्) अपित् (हि) आदेश हो। यहाँ सूत्रस्थ 'च' से स्पष्ट है कि यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। इसको समझने के लिए '४१३–लोटो–०' ३.४.८५ से 'लोटः' की अनुवृत्ति करनी होगी।

भावार्थ—लोट् के 'सि' के स्थान पर 'हि' आदेश होता है और यह 'हि' अपित् भी होता है। 'अपित्' होने का फल यह होगा कि 'सार्वधातुकमपित्' १.२.४ सूत्र से 'हि' ङिद्वत् हो जाता है और तब उससे परे ङित्त्वप्रयुक्त गुण-निषेध आदि कार्य होते हैं।

उदाहरण—'स्तुहि' में गुण नहीं होता। इस प्रकार प्रकृतसूत्र से लोट् के मध्यम एकवचन 'भू + सि' में 'सि' के स्थान पर 'हि' पूर्णादेश होकर 'भू + हि' रूप बनता है। तब लट् के समान शबादि होकर 'भवहि' रूप बनता है। यहाँ आशीर्वाद अर्थ में 'हि' के स्थान पर 'तातङ्' होकर 'भवतात्' रूप सिद्ध होता है। अभावपक्ष में 'भवहि'—इस दशा में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

अतो हेः।६।४।१०८

वृत्ति—अतः परस्य हेर्लुक्। भव, भवतात्। भवतम्, भवत।

शब्दार्थ—(अतः) ह्रस्व अकार से परे (हेः) 'हि' के स्थान पर। क्या होना चाहिये—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'चिणो लुक्' ६.४.१०४ से 'लुक्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अङ्गस्य' ६.४.१ का यहाँ अधिकार प्राप्त है। यह पञ्चम्यन्त में प्रयुक्त होगा।

भावार्थ—अदन्त (जिसके अन्त में ह्रस्व अकार हो) अङ्ग से परे 'हि' के स्थान पर लुक् होता है अर्थात् 'हि' का लोप हो जाता है।

उदाहरण—'भव हि' में अदन्त अङ्ग 'भव' से परे 'हि' का लोप होकर 'भव' रूप सिद्ध होता है।

मेर्निः।३।४।८९

वृत्ति—लोटो मेर्निः स्यात्।

भावार्थ—(मेः) 'मि' के स्थान पर (निः) 'नि' आदेश होता है, किन्तु यह आदेश किस अवस्था में होता है—इसका पता प्रकृत सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए '४१३–लोटो लङ्वत्' ३.४.८५ से 'लोटः' की अनुवृत्ति करनी होगी।

भावार्थ—लोट् के 'मि' के स्थान पर 'नि' आदेश होता है। अनेकाल् होने के कारण यह सम्पूर्ण 'मि' के स्थान पर होगा।

उदाहरण—उत्तम एकवचन 'भू + मिप्' में 'मि' के स्थान पर 'नि' होकर 'भू + नि' रूप बनता है। तब शबादि कार्य होने पर 'भव नि' रूप बनता है।

'आडुत्तमस्य पिच्चे' ।३।४।९२

वृत्ति—लोडुत्तमस्याट् स्यात् पिच्च। भवानि। हिन्योरुत्वं न, इत्वोच्चारणसामर्थ्यात्।

शब्दार्थ—(च) और (उत्तमस्व) उत्तम का अवयव (पित्) पित् (आड्) 'आट्' होता है। इसके च स्पष्टीकरण के लिए '४१३–लोटो' ३.४.८५ से 'लोट:' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'लोट:' 'उत्तमस्य' का विशेष है और 'पित्' 'आट्' का।

भावार्थ—लोट् के उत्तम को आट् आगम होता है और वह 'आट्' 'पित्' होता है। 'आट्' के टकार की इत्संज्ञा होकर उसका लोप हो जाता है, आकार ही शेष रह जाता है। टित् होने के कारण यह प्रत्यय का आदि अवयव होता है। 'पित्' होने के गुण आदि होने में 'बाधा' नहीं होती।

उदाहरण—लोट् के उत्तम 'भव नि' में प्रत्यय 'नि' के आदि में आकार होकर 'भव आनि' रूप बनता है। यहाँ सवर्णदीर्घ करने पर 'भवानि' रूप सिद्ध होता है।

नित्यं ङितः ।३।४।९९

वृत्ति—सकारान्तस्य ङिदुत्तमस्य नित्यं लोपः। 'अलोऽन्तस्य' इति सलोपः–भवाव, भवाम।

शब्दार्थ—(ङितः) ङित् के स्थान पर (नित्यं) नित्य, किन्तु क्या होना चाहिये, यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' ३.४.९७ से 'लोपः', सम्पूर्ण 'स उत्तमस्य' ३.४.९८ और 'लस्य' ३.४.७७ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'स' षष्ठ्यन्त है और 'उत्तमस्य' का विशेषण है। 'लस्य' 'ङितः' का विशेष्य है।

भावार्थ—ङित् लकारों (लङ्, लिङ्, लुङ् और लृङ्) के *सकारान्त उत्तम का नित्य लोप होता* है। 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से यह लोप अन्त्य अल् सकार का ही होता है।

यद्यपि यह सूत्र ङित् लकारों के लिए ही विधान करता है, तथापि '४१३–लोटो लङ् वत्' ३.४.८५ परिभाषा से लोट् लकार में भी प्रवृत्त होता है। इस प्रकार यह सूत्र लङ्, लिङ्, लुङ्, लृङ् और लोट्–इन पाँच लकारों में प्रवृत्त होगा।

उदाहरण—उत्तम द्विवचन में 'भू' धातु से 'वस्' होकर शबादि और 'आट्' कार्य करने पर 'भवावस्' रूप बनता है। तब '४१३–लोटो लङ्वत्' की सहायता से प्रकृतसूत्र से अन्त्य सकार का लोप होकर 'भवाव' रूप सिद्ध होता है।

अनद्यतने लङ् ।३।२।१११

वृत्ति—अनद्यतनभूतार्थवृत्तेर्धातोर्लङ् स्यात्।

शब्दार्थ—(अनद्यतने) अनद्यतन अर्थ में (लङ्) लङ् होता है। अनद्यतन का अर्थ है—जो आज न हो। यह भूत और भविष्यत्–दोनों से ही सम्बन्धित हो सकता है। इसलिए सूत्र के स्पष्टीकरण के लिए 'भूते' ३.२.८४ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'भूते' 'अनद्यतने' का विशेषण है। 'धातोः' ३.१.९१ का यहाँ अधिकार प्राप्त है।

भावार्थ—जब क्रिया का अनद्यतन भूतकाल में होना प्रकट करना हो, तो धातु से लङ् लकार होता है। तात्पर्य यह कि लङ् लकार अनद्यतन भूतकाल का बोधक है।

उदाहरण—'ह्यो लक्ष्मणपुरेऽभवम्' (मैं कल लक्ष्मणपुर में था) में 'ह्यः' पद से अनद्यतन भूतकाल की सूचना मिलती है, इसी से लङ् लकार का रूप 'अभवम्' प्रयुक्त हुआ है।

लुङ् लङ् लङ्क्ष्वडुदात्तः ।६।४।७२

वृत्ति—एष्वङ्गस्याऽट्।

शब्दार्थ—(लुङ्लङ्लृङ्क्षु) लुङ्, लङ् और लृङ् परे होने पर (उदात्तः) उदात्त (अट्) अट् हो, किन्तु यह 'अट्' किसका अवयव बनता है—यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'अङ्गस्य' ६.४.१ की अनुवृत्ति करनी होगी।

भावार्थ—लुङ्, लङ् और लृङ्–इन लकारों में से किसी एक के परे होने पर अङ्ग को 'अट्' आगम होता है और वह उदात्त होता है। 'अट्' में टकार–इत्संज्ञक है, अतः टिप् होने के कारण '८४–आद्यन्तौ टकितौ' १.१.४६ परिभाषा से यह अङ्ग का आदि अवयव होगा।

उदाहरण—'भू' धातु से लङ् आने पर अट् आगम हुआ। टित् होने से यह 'भू' अङ्ग का आदि अवयव बनता है–'अभूल्'। तब तिप्, शप् गुण और 'अव्' आदेश होकर 'अभवति' रूप बनता है।

इतश्च ।३।४।१००

वृत्ति—ङितो लस्य परस्मैपदमिकारान्तं यत्, तदन्तस्य लोपः।

अभवत्, अभवताम्, अभवन्। अभवः, अभवतम्, अभवत। अभवम् अभवाव, अभवाम।

शब्दार्थ—(च) और (इतः) ह्रस्व इकार के स्थान में। यहाँ सूत्रस्य 'च' से स्पष्ट हो जाता है कि यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। इसके अभिप्राय को समझने के लिए 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' ३.४.९७ से 'लोपः' और 'परस्मैपदेषु' तथा सम्पूर्ण 'लस्य' ३.४.७७ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'परस्मैपदेषु' 'इतः' का विशेष्य होने के कारण षष्ठी में विपरिणित हो जाता है।

भावार्थ—ङित् लकार (लुङ्, लङ्, लिङ् और लृङ्) सम्बन्धी इकारान्त परस्मैपद का लोप होता है। 'अतोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से यह लोप अन्त्य वर्ण इकार का ही होता है।

उदाहरण—'अभवति' में लङ् लकारस्थानिक इकारान्त परस्मैपद 'ति' है, अतः उसके अन्त्य इकार का लोप होकर 'अभवत्' रूप सिद्ध होता है।

विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ् ।३।३।१६१

वृत्ति—एष्वर्थेषु धातोर्लिङ्।

शब्दार्थ—(विधिनिमन्त्रण–०) विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, सम्प्रश्न और प्रार्थना में (लिङ्) लिङ् होता है। इसके पूर्ण स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'धातोः' ३.१.९१ की अनुवृत्ति करनी होगी।

भावार्थ—*विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, सम्प्रश्न और प्रार्थना*–इन छः अर्थों में धातु से लिङ् लकार होता है।

लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य ।७।२।७९

वृत्ति—सार्वधातुकलिङोऽनन्त्यस्य सस्य लोपः। इति प्राप्ते—

शब्दार्थ—(लिङः) लिङ् के (अनन्त्यस्य) जो अन्त में न हो उस (सलोपः) सकार का लोप होता है, किन्तु यह किस अवस्था में होना चाहिये, इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके लिए 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' ७.२.७६ से 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति करनी होगी, जो षष्ठ्यन्त में विपरिणत हो जावेगा।

भावार्थ—सार्वधातुक लिङ् के अनन्त्य (जो अन्त में न हो) सकार का लोप होता है।

उदाहरण—'भव यास् त्' में 'तिप्' (त्) लिङ् के स्थान में हुआ है, अतः स्थानिवद्भाव से लिङ् ही है और 'यासुट्' (यास्) लिङ् स्थानिक 'तिप्' को आगम हुआ है। यहाँ 'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' (आगम जिसका हो, उसी का अवयव होता है और उसके ग्रहण से ग्रहण किया जाता है) परिभाषा से लिङ् के ग्रहण से तत्सहित 'यास् त्' का ग्रहण होता है। यहाँ सार्वधातुक लिङ् में सकार अन्त में नहीं है, अतः प्रकृतसूत्र से उसका लोप प्राप्त होता है, किन्तु अग्रिम सूत्र से उसका बाध हो जाता है।

अतो येयः ।७।२।८०

वृत्ति—अत: परस्य सार्वधातुकावयवस्य 'यास्' इत्यस्य इय् । गुण: ।

शब्दार्थ—(अत:) ह्रस्व अकार से (या) 'यास्' के स्थान पर (इय:) 'इय्' आदेश हो । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'रुदादिभ्य: सार्वधातुके' ७.२.७६ से 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति करनी होगी जो अवयव षष्ठी में विपरिणत हो जाता है । अधिकार-सूत्र 'अङ्गस्य' ६.४.१ की भी अनुवृत्ति होगी । 'अत:' का विशेष्य होने के कारण यह भी पञ्चम्यन्त हो जाता है ।

भावार्थ—अदन्त अङ्ग (जिसके अन्त में ह्रस्व अकार हो) से परे सार्वधातुक के अवयव 'यास्' के स्थान में 'इय्' आदेश होता है । 'इय्' 'अनेकाल (एक से अधिक वर्णमाला) है, अत: '४५-अनेकाल् शित्सर्वस्य' १.१.५५ परिभाषा से यह सम्पूर्ण 'यास्' के स्थान में होगा ।

उदाहरण—'भव यास त्' में अदन्त अङ्ग 'भव' से परे सार्वधातुक लिङ् 'यास त्' का अवयव 'यास्' है, अत: इसके स्थान में 'इय्' होकर 'भव इय् त्' रूप बनता है । इस स्थिति में गुण करने से 'भवेय् त्' रूप बनेगा ।

लोपो व्योर्वलि ।६।१।६६

वृत्ति—वलि वकारयकारयोर्लोप: । भवेत्, भवेताम् ।

शब्दार्थ—(वलि) वल् परे होने पर (व्यो:) वकार और मकार का (लोप:) लोप होता है । 'वल्' प्रत्याहार में स्वर तथा यकार को छोड़कर सभी वर्ण आ जाते हैं ।

भावार्थ—स्वर और यकार को छोड़कर अन्य कोई भी वर्ण परे होने पर यकार और वकार का लोप होता है ।

उदाहरण—'भवेय् त्' में वल्-तकार परे होने के कारण 'भवेय्' के यकार का लोप हो जाता है और इस प्रकार 'भवेत्' रूप सिद्ध होता है ।

झेर्जुस् ।३।४।१०८

वृत्ति—लिङो झेर्जुस् स्यात् । भवेयु: । भवे:, भवेतम्, भवेत । भवेयम्, भवेव, भवेम ।

शब्दार्थ—(झे:) 'झि' के स्थान में (जुस्) 'जुस्' हो, किन्तु यह किस अवस्था में होना चाहिये, इसका पता प्रकृतसूत्र से नहीं चलता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'लिङ: सीयुट्' ३.४.१०२ से 'लिङ:' की अनुवृत्ति करनी होगी ।

भावार्थ—लिङ् के 'झि' के स्थान में 'जुस्' आदेश होता है । अनेकाल् होने के कारण '४५ अनेकाल् शित्सर्वस्य १.१.५५ परिभाषा से 'जुस्' सम्पूर्ण 'झि' के स्थान में होगा ।

उदाहरण—प्रथम-बहुवचन (लिङ्) में 'भू' धातु से 'झि' प्रत्यय होकर 'भू + झि' रूप बनता है । तब शप्, गुण और अव् आदेश करने पर 'भव + झि' रूप बनता है । यहाँ पर प्रकृतसूत्र से लिङ् के 'झि' के स्थान पर 'जुस्' होकर 'भव + जुस्' रूप बनेगा । 'जुस्' के जकार की '१२९-चुटू' १.३.७ से इत्संज्ञा होकर उसका लोप हो जाता है—'भव + उस्' । उसके पश्चात् यास् आगम, इयादेश, गुण और सकार का रुत्व-विसर्ग करने पर 'भवेयु:' रूप सिद्ध होता है ।

लिङाशिषि ।३।४।११६

वृत्ति—आशिषि लिङस्तिङ आर्धधातुकसंज्ञ: स्यात् ।

शब्दार्थ—(आशिषि) आशीर्वाद अर्थ में (लिङ्) लिङ् के । किन्तु क्या होना चाहिये, यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता । इसके लिए 'तिङ् शित्सार्वधातुकम्' ३.४.११३ से 'तिङ्' और 'आर्धधातुकं शेष:' ३.४.११४ से 'आर्धधातुकम्' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'तिङ्' 'लिङ्' से सम्विन्धत है ।

भावार्थ—आशीर्वाद अर्थ में लिङ् स्थानीय 'तिङ्' की आर्धधातुक संज्ञा होती है । यह पूर्ववर्ती सूत्र तिङ् शित्-०' का अपवाद है ।

किदाशिषि ।३।४।१०४

वृत्ति—आशिषि लिङो यासुट् कित् । 'स्कोः संयोगाद्योः' इति सलोपः ।

शब्दार्थ—(आशिषि) आशीर्वाद अर्थ में (कित्) 'कित्' हो, किन्तु यह 'कित्' किसको हो, यह सूत्र से पता नहीं चलता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'लिङः सीयुट्' ३.४.१०२ से 'लिङः' और '४२६-यासुट् परस्मैपदेषु-०' ३.४.११४ से 'यासुट्' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'यासुट्' 'लिङ्ङः' से सम्बन्धित है ।

भावार्थ—आशीर्वाद अर्थ में लिङ् सम्बन्धी 'यासुट्' 'कित्' होता है ।

उदाहरण—'भू' धातु से आशीर्वाद अर्थ में लिङ् आने पर प्रथम एकवचन में ति होता है—'भू + तिप्' । 'तिप्' की पूर्वसूत्र (४३२) से आर्धधातुक संज्ञा हो जाने पर शप् नहीं होता; क्योंकि 'शप्' सार्वधातुक तिङ परे रहते होता है । तब तिङ को यासुट् आगम होता है और यह प्रकृतसूत्र से 'कित्' होता है । इस प्रकार रूप बनता है—'भू यास् ति' । यहाँ तकारोत्तरवर्ती इकार का तथा सकार का लोप करने पर 'भूयात्' रूप बनता है । 'यासुट्' को 'किति' कहने का फल अग्रिम सूत्र से ज्ञात होता है ।

ग्क्ङिति चं ।१।१।५

वृत्ति—गित्-कित्-ङिन्निमित्ते इग्लक्षणे गुणवृद्धी न स्तः । भूयात्, भूयास्ताम्, भूयासुः । भूयाः, भूयास्तम्, भूयास्त । भूयासम्, भूयास्व, भूयास्म ।

शब्दार्थ—(ग्क्ङिति) गित्, कित् और ङित् परे होने पर (च) और । यहाँ सूत्रस्थ 'च' से पता चल जाता है कि यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है । इसके पूर्ण स्पष्टीकरण के लिए 'इको गुणवृद्धी' १.१.३ और 'न धातुलोप आर्धधातुके' १.१.४ से 'न' की अनुवृत्ति करनी होगी ।

भावार्थ—गित्, कित् और ङित् परे होने पर तन्निमित्त इक् (इ, उ, ऋ, ऌ) के स्थान पर गुण और वृद्धि नहीं होती ।

उदाहरण—'भूयात्' में 'यात्' आर्धधातुक परे होने से '३८८-सार्वधातुकार्ध-धातुकयोः' ७.३.८४ से इगन्त अङ्ग 'भू' के अन्त्य ऊकार को गुण प्राप्त होता है, किन्तु आशीर्लिङ् का होने से 'यासुट्' कित् है, अतः उसके परे होने से प्रकृत सूत्र से गुण का निषेध हो जाता है । तब 'भूयात्' रूप सिद्ध होता है ।

लुङ् ।३।२।११०

वृत्ति—भूतार्थे धातोर्लुङ् स्यात् ।

शब्दार्थ—(लुङ्) लुङ् हो, किन्तु यह किस अवस्था में होने चाहिये, इसका पता सूत्र से नहीं चलता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'धातोः' ३.१.९१ और 'भूते' ३.२.८४—इन दो अधिकार सूत्रों की अनुवृत्ति करनी होगी ।

भावार्थ—भूतकाल में धातु से 'लुङ्' लकार होता है । यहाँ किसी विशेष शर्त का उल्लेख न होने से 'भूत' सामान्य भूतकाल का द्योतक है । तात्पर्य यह है कि सामान्यभूत की विवक्षा में धातु से 'लुङ्' लकार होता है ।

च्लि लुङि ।३।१।४३

वृत्ति—शबाद्यपवादः ।

शब्दार्थ—(लुङि) लुक् परे होने पर (च्लि) च्लि होता है, किन्तु यह किससे होता है, इसका पता सूत्र से नहीं चलता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'धातोरेकाचो०-' ३.१.२२ से 'धातोः' की अनुवृत्ति करनी होगी ।

भावार्थ—लुङ् परे होने पर धातु से 'च्लि' होता है । यह 'च्लि'-विधि शप्, श्यन् और श आदि विकरणों की बाधक है ।

उदाहरण—लुङ् में 'भू' धातु से प्रथम एकवचन में 'भू + ति' रूप बनता है। यहाँ इकार-लोप और अट् आगम होकर 'अभूत्' रूप बनता है। इस स्थिति में सार्वधातुक तिङ् 'तिप्' (त्) परे होने से 'शप्'-प्राप्त होता था, किन्तु प्रकृत सूत्र से उसका निषेध हो जाता है। तब 'च्लि' आदेश होकर 'अभू च्लि त्' रूप बनता है।

च्लेः सिच् ।३।१।४४

वृत्ति—इचावितौ।

शब्दार्थ—(च्लेः) 'च्लि' के स्थान पर (सिच्) सिच् आदेश होता है। अनेकाल् होने के कारण यह आदेश '४५-अनेकाल् शित्सर्वस्य' १.१.५५ परिभाषा से सम्पूर्ण 'च्लि' के स्थान में होगा। 'सिच्' में इकार और चकार इत्संज्ञक है, अतः उनका लोप होकर केवल सकार ही शेष रह जाता है।

उदाहरण—'अभू च्लि तृ' में 'च्लि' के स्थान पर सिच् (सकार) आदेश करने पर 'अभू स् त्' रूप बनता है।

गाति-स्था-घु-पा-भूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु ।२।४।७७

वृत्ति—एभ्यः सिचो लुक् स्यात्। 'गा-पौ' इह 'इणादेश-पिबती' गृह्येते।

शब्दार्थ—(परस्मैपदेषु) परस्मैपद में (गातिस्था-०) गा, स्था, घुसंज्ञक, पा और भू धातुओं से परे (सिचः) सिच् के स्थान में, किन्तु क्या होना चाहिये, *यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए* 'ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः' २.४.५८ से 'लुक्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'गा' से यहाँ 'इण्' के स्थान में होने वाला 'गा' लिया जाता है, जो कि 'इणो गा लुङि' २.४.४५ सूत्र से होता है। 'घु' से 'दा' और 'धा' धातुओं का ग्रहण होता है। 'पा' से 'पा' (पीने) का ग्रहण होता है, जिसको 'पिब्' आदेश होता है।

भावार्थ—गा, स्था, दा और धा, पा तथा भू धातुओं से परे सिच् का लुक् (लोप) होता है।

उदाहरण—'अभू स् त्' में 'भू' धातु से परे 'सिच्' के सकार का प्रकृत सूत्र से लोप होकर 'अभूत्' रूप बनता है।

लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ ।३।३।१३९

वृत्ति—हेतुहेतुमद्भावादि लिङ्निमित्तम्, तत्र भविष्यत्यर्थे लृङ् स्यात्, *क्रियाया अनिष्पत्तौ गम्यमानायाम्।* अभविष्यत्, अभविष्यताम्, अभविष्यन्। अभविष्यः, अभविष्यतम्, अभविष्यत। अभविष्यम्, अभविष्याव, अभविष्याम। 'सुवृष्टिश्चेद् अभविष्यत् तथा सुभि-क्षमभविष्यत्' इत्यादि शेषम्। अत सातत्यगमने। अतति।

शब्दार्थ—(लिङ्निमित्ते) लिङ्निमित्त होने पर (क्रियातिपत्तौ) क्रिया की अतिपत्ति-असिद्धि में (लृङ्) लृङ् होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'भविष्यति मर्यादावचनेऽवर-स्मिन्' ३.३.१३६ से 'भविष्यति' की अनुवृत्ति करनी होगी।

भावार्थ—लिङ् के निमित्त होने पर क्रिया की असिद्धि गम्यमान हो, तो भविष्यत् काल में धातु से लृङ् लकार होता है। लिङ् का निमित्त है-हेतुहेतुमद्भाव आदि। इसको समझने के लिए हम एक उदाहरण लेते हैं। *'कृष्णं नमेत् चेत् सुखं यायात्'* (कृष्ण को नमस्कार करे तो सुख प्राप्त करे)-इस वाक्य में नमस्कार-क्रिया सुखप्राप्ति-क्रिया का हेतु है। सुख-प्राप्ति क्रिया सहेतुक है, अतः इसे 'हेतुमत्' कहा जाता है। इन दोनों के सम्बन्ध को 'हेतु-हेतुमद्भाव' सम्बन्ध कहते हैं। जब हेतुहेतुमद्भाव आदि के स्थलों में भविष्यत् काल और क्रिया की असिद्धि प्रतीति होती है, तब दोनों क्रियाओं में लृङ् लकार का प्रयोग होता है।

उदाहरण—'सुवृष्टिश्चेत् उभविष्यत्, तदा सुभिक्षमभविष्यत्' (यदि अच्छी वृष्टि होगी तो सुकाल होगा)—इस वाक्य में वृष्टि होना क्रिया सुभिक्ष होना क्रिया का हेतु है। यह भविष्यत् काल की है तथा

इनका असिद्धि यहाँ प्रतीत हो रही है। अतः दोनों से लङ् लकार का प्रयोग हुआ है।

'गम्' धातु सूत्र-व्याख्या

(गम्)

इषु-गमि-यमां छः ।७।३।७७

वृत्ति—एषां छः स्यात् शिति। गच्छति। जगाम।

शब्दार्थ—(इषु-गमि-यमाम्) इष्, गम् और यम् के स्थान में (छः) छकार होता है, किन्तु यह छकारादेश किस अवस्था में होता है, यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ष्ठिवुक्लमुचमां शिति' ७.३.७५ से 'शिति' की अनुवृत्ति करनी होगी।

भावार्थ—शित् प्रत्यय (जिसका शकार इत्संज्ञक हो) परे होने पर इष् (इच्छा करना), गम् (जाना) और यम् (निवृत्त होना) के स्थान में छकार होता है। '२१-अलोऽ-न्त्यस्य' परिभाषा से यह छकारादेश इनके अन्त्य वर्ण के ही स्थान पर होता है। सार्वधातुक लकारों में ही शित् प्रत्यय 'शप्' परे मिलता है, अतः उन्हीं में छकारादेश मिलता है।

उदाहरण—लट् लकार के प्रथमपुरुष एकवचन में 'गम्' धातु से तिप् और शप् होकर 'गम् अ ति' रूप बनता है। यहाँ शित् प्रत्यय शप् (अ) परे होने पर 'गम्' के मकार को छकार होकर 'ग छ् अ ति' रूप बनेगा। इस स्थिति में 'तुक्' और श्चुत्व करने पर 'गच्छति' रूप सिद्ध होता है।

गम-हन-जन-खन-घसां लोपः क्ङित्यनङि ।६।४।९८

वृत्ति—एषामुपधाया लोपोऽजादौ क्ङिति न त्वङि। जग्मतुः। जग्मुः। जगमिथ, जगन्थ। जग्मथुः। जग्म। जगाम, जगम। जग्मिव। जग्मिम। गन्ता।

शब्दार्थ—(अनङि क्ङिति) अङ्भिन्न कित् और ङित् परे होने पर (गम-घसाम्) गम्, हन्, जन्, खन्, तथा घस् के स्थान में (लोपः) लोप होता है, किन्तु इससे सूत्र का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए 'अचि श्नु-०' ६.४.७७ से 'अचि' तथा 'ऊदुपधाया गोहः' ६.४.८९ से 'उपधायाः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अचि' 'क्ङिति' का विशेषण है, अतः तदादि-विधि हो जाती है।

भावार्थ—अङ्भिन्न अजादि (जिसके आदि में कोई स्वर-वर्ण हो) कित्-ङित् प्रत्यय परे होने पर गम् (जाना), हन् (हिंसा करना), जन् (पैदा करना), खन् (खनना) और घस् (खाना) धातुओं की उपधा का लोप होता है।

उदाहरण—लिट् लकार के प्रथमपुरुष एकवचन में 'गम्' धातु से 'तस्' और उसके स्थान पर 'अतुस्' आदि होकर 'जगम् अतुस्' रूप बनता है। इस स्थिति में '४५२-असंयोगाल्लिट् कित्' से 'अतुस्' की कित् संज्ञा होती है। अतः 'अङ्' भिन्न अजादि 'अतुस्' कित् परे होने पर 'गम्' की उपधा-गकारोत्तरवर्ती अकार का लोप होकर 'जग् म् अतुस्' रूप बनेगा। तब रुत्व-विसर्ग करने से 'जग्मतुः' रूप सिद्ध होता है।

गमेरिट् परस्मैपदेषु ।७।२।५८

वृत्ति—गमेः परस्य सादेरार्धधातुकस्येट् स्यात् परस्मैपदेषु। गमिष्यति। गच्छतु। अगच्छत्। गच्छेत्। गम्यात्।

शब्दार्थ—(परस्मैपदेषु) परस्मैपद परे होने पर (गमेः) गम् के पश्चात् (इट्) इट् आगम होता है, किन्तु यह इडागम किसको होता है, इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'आर्धधातुकस्य-०' ७.२.३५ से 'आर्धधातुकस्य' तथा 'सेऽसिचि-०' ७.२.५७ से 'से' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'से' 'आर्धधातुकस्य' का विशेषण है, अतः तदादि-विधि हो जाती है।

भावार्थ—परस्मैपद पर होने पर 'गम्' धातु के पश्चात् सकारादि आर्धधातुक (जिसके आदि में सकार हो) का अवयव 'इट्' होता है। 'इट्' में टकार इत्संज्ञक है, अतः टित् होने के कारण '८४-

आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह सकारादि आर्धधातुक का आद्यवयव होता है।

उदाहरण—लट् लकार के प्रथमपुरुष एकवचन में 'गम्' से तिप् आदि होकर 'गम् स्य ति' रूप बनता है। यहाँ परस्मैपद 'तिप्' (ति) परे है, अतः 'गम्' के पश्चात् सकारादि आर्धधातुक 'स्य' को इट् होकर 'गम् इ स्य ति' रूप बनेगा। तब षत्व करने पर 'गमिष्यति' रूप सिद्ध होता है।

पुषादि-द्युतादि-ऌदितः परस्मैपदेषु।३।१।५५

वृत्ति—श्यन्विकरणपुषादेर्द्युतादेर्ऌदितश्च परस्य च्लेरङ् परस्मैपदेषु। अगमत्। अग-मिष्यत्। इति परस्मैपदिनः।

शब्दार्थ—(परस्मैपदेषु) परस्मैपद परे होने पर (पुषादि-द्युतादि-ऌदितः) पुष् आदि, द्युत आदि और ऌदित् धातुओं के पश्चात्, किन्तु क्या होना चाहिये, यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'च्लि लुङि' ३.१.४३ से 'लुङि', 'च्लेः सिच्' ३.१.४४ से 'च्ले', 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' ३.१.४८ से 'कर्तरि' तथा 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' ३.१.५२ 'अङ्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'कर्तरि' 'लुङि' का विशेषण है।

भावार्थ—कर्त्रर्थ परस्मैपद लुङ् होने पर पुष् आदि (दिवादिगण), द्युत् आदि (दिवादि०) तथा ऌदित् (जिसका ऌकार इत्संज्ञक हो) धातुओं के पश्चात् 'च्लि' के स्थान पर 'अङ्' आदेश होता है। अनेकाल् होने के कारण यह आदेश '४५-अनेकाल् शित्सर्वस्य' परिभाषा द्वारा सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होता है।

उदाहरण—'गम्' धातु ऌदित् है; क्योंकि मूल 'गम्ऌ' के ऌकार का इत् होने से लोप हो गया है। अतः लुङ् लकार के प्रथमपुरुष एकवचन में तिप् आदि होकर 'अ ग म् च्लि ति' रूप बनने पर 'च्लि' के स्थान पर 'अङ्' होकर 'अ गम् अङ् ति' रूप होगा। तब ङकार और इकार का लोप करने पर 'अगमत्' रूप सिद्ध होता है।

***

इकाई –३ 'गम्' धातु रूपसिद्धि

'गम्' धातु रूपसिद्धि

(गम् धातु)

लट्लकार प्रथम पुरुष एकवचन

(गच्छति)

गम् ति (प्)।

तिङ् शित् सार्वधातुकम्–

गम् अ ति

गम ति

इषु गमि यमां छः–सूत्रानुसार गम् को छकार आदेश हो—

अलोऽन्त्यस्य–मकार को छकार आदेश—

ग छ ति।

छे चें–सूत्रानुसार ह्रस्व अ से परे छकार है अतः तुक् आगम होगा—

ग त् छ ति।

स्तोः श्चुना श्चुः–

गच्छति।

इसी प्रकार अन्य रूप बनेगा। भू–

लिट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन

(जगाम)

गम् + ति।

परस्मैपदानां णलतुसुस् थलथुस णल्वमाः–

गम + णल्

गम अ।

लिटि धातोरनभ्यासस्य–

गम् गम् अ

पूर्वोऽभ्यासः–

हलाऽऽदि शेषः–

ग गम् अ

कुहोश्चः–सूत्रानुसार अभ्यास के ग को ज आदेश—

ज गम् अ

अत उपधायाः–

जगाम

द्विवचन (जग्मतुः)	**बहुवचन (जग्मुः)**	
गम् + तस्	**गम् + झि**	
गम् + अतुस्	गम् + उस्	जगाम् उस्

गम् गम् अतुस्	गम् गम् उस्	जग्मु:
ग गम् अतुस्	ग गम् उस्	
जगम् अतुस्	जगम् उस्	

अत उपधाया:–उपधा आदेश

गम हन जन रतन थसां लोप: क्ङित्यनङि–उपधा का लोप हुअ

जग्मतु: ।

मध्यम पुरुष एकवचन

(जगमिथ/जगन्थ)

गम् + सिप्	**इट् अभाव पक्ष में**
गम् थल्	गम् थल्
गम् इ थल्	गम् गम् थल्
गम् गम् इथल्	ग गम् थल्
ग गम् इ थल्	जगम् थल्
जगम् इ थल्	जगं थल् **नगापदान्तस्य झलि**
जगम् इ थ	जगन्थ ल् **अनुस्वारस्य ययि पर सवर्ण:**
जगमिथ	जगन्थ

द्विवचन (जग्मथु:)	**बहुवचन (जग्म)**
गम् + तस्	**गम् + झि**
गम् + अथुस्	गम् + अ
गम् गम् अथुस्	गम् गम् अ
ग गम् अथुस्	ग गम् अ
जगम् अथुस्	ज गम् अ
जगम् अथुस् गम हन जन खन...	जग्म् अ
जग्मथु:	जग्म

उत्तम पुरुष एकवचन

(जगाम/जगम)

गम् + मिप्

गम् + णल्

गम् + अ

गम् गम् अ

ग गम् अ

जगम

अत उपधाया—जगाम ।

द्विवचन (जग्मिव)	**बहुवचन (जग्मिम)**
गम् + वस्	**गम् + मस्**
गम् + व	**गम् + म**
गम् इ व	गम् इ म
गम् गम् इ व	गम् गम् इ म

ग गम् इ व   ग गम् इ म
ज जगम् इ व   ज गम् इ म
जग् म् इ व   जग् म् इ म
जग्मिव   जग्मिम ।

लुट लकार प्रथम पुरुष एकवचन

(गन्ता)

गम + ति ।

कर्तरि शप्–

स्य तासी ल्र लुटो–

गम् तास् ति

आर्धधातुकस्यड् वलादेः–

एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्–सूत्र से इट् का निषेध

नश्चॉऽपदान्तस्य झलि–सूत्रानुसार अपदान्त मकार के स्थान पर अनुस्वार आदेश झल् पर मे है—

गं तास् ति ।

अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः–सूत्रानुसार यय् तकार के परे होने पर उसका सवर्ण अनुनासिक वर्ण नकार आदेश हुआ—

गन्तास् ति ।

लुटः प्रथमस्य डा रौ रसः–

गन्तास् आ (डा)

डित्व सामर्थ्याद् अभस्यापि टेर्लोपः–

गन्त् आ

गन्ता ।

लृट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन

(गमिष्यति)

गम् + ति ।

स्यतासी ल्र लुटोः–

गम् स्य ति

आर्धधातुकस्येड् वलादेः–

एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्–

गमेरिट् परस्मैपदेषु–सूत्रानुसार गम् धातु से परे सकारादि आर्धधातुक है तथा परस्मैपद प्रत्यय ति भी परे है इसलिए इट् का आगम हो

गम् इ स्य ति

आदेश प्रत्यययोः–

गमिष्यति ।

लोट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन

(गच्छतु/ गच्छतात्)

गम् + ति (प्)

तिङ् शित् सार्वधातुकम्–   **तातङ् पक्ष में**

कर्तरि शप्– गम् अ ति गच्छतात्

इषु गमि यमा छः–

ग छ ति

छेचॅ–

ग त छ ति

स्तोः श्चुना/ श्चुः–

गच्छ ति

एरुः–

गच्छतु ।

लङ् लकार प्रथम पुरुष एकवचन

(अगच्छत्)

गम् + ति ।

लुङलङलङक्ष्यड् उदात्तः–

अ गम् ति

कर्तरि शप्–अ गम् अ ति

इतश्च–अ गम् अ त्

इषु गमि यमां छः–

अ ग छ त्

स्तो श्चुना श्चुः–

अगच्छत् ।

नोट—शेष सभी ऐसे ही होंगे ।

विधिलिङ् लकार प्रथम पुरुष एकवचन

(गच्छेत्)

गम् + ति (प्) ।

गम् अ ति

ग छ ति

ग त् छ ति

गच्छ ति

गच्छ त्

यासुद् परस्मै पदेषु दालोडिच्च–गच्छ यास् त्

अतो येयः–गच्छ इय् त्

आद् गुणः–गच्छेय् त्

लोपो व्योर्वलि–गच्छेत् ।

नोट—भू के समान है ।

आर्शीलिङ् लकार प्रथम पुरुष एकवचन

(गम्यात्)

गम् + ति (प्)

लिङ् आशिषि–

किद् आशिषि–

गम् यास् ति

इतश्च–

गम् यास् त्

हलोऽनन्तराः संयोग–त्

एकोः संयोगाद्योरन्ते च–स् का लोप

गम्यात्।

नोट—भू के समान है।

लुङ लकार प्रथम पुरुष एकवचन

(अगमत्)

गम् + ति (प्)

लुङ्लङ्लृङ्क्ष्यड् अदात्तः–अ गम् ति

इतश्च–अ गम् त्

च्लि लुङि–अ गम् च्लि त्

पुषादि द्युतानि लृदितः परस्मैपदेषु–सूत्रानुसार च्लि को अङ् आदेश—

अ गम् अङ् त्

अ गम् अ त्

अगमत्।

लृङ् लकार प्रथम पुरुष एकवचन

(अगमिष्यत्)

गम् + ति (प्)

लुङ्लङ्लृङ्क्ष्यड् उदात्तः–

अ गम् ति

इतश्च–

अ गम् त्

कर्तरि शप्–

स्य तासी लृ लुटोः–

अ गम् स्य त्

आर्धधातुकशेषः–

आर्धधातुकस्येड्वलादेः–अ गम् इ स्य त्

आदेश प्रत्ययोः–

अगमिष्यत्।

नोट—शेष ऐसे ही।

—०००—

तिङन्तप्रकरण

'पा' धातु सूत्र-व्याख्या

पा-घ्रा-ध्मा-स्था-म्ना-दाण्-दृश्यर्ति-सर्ति-शद-शदां पिब-जिघ्र-धम-तिष्ठ-मन-यच्छ-पश्यर्च्छ-धौ-शीय-सीदाः ।७।३।७८

वृत्ति—पादीनां पिबादयः स्युरित्संज्ञकशकारादौ प्रत्यये परे। पिबादेशोऽदन्तस्तेन न गुणः। पिबति।

शब्दार्थ—(पा–सदां) पा आदि ग्यारह धातुओं के स्थान पर (पिब–सीदाः) पिब आदि ग्यारह आदेश होते हैं, किन्तु ये आदेश किस स्थिति में होते हैं, इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए *'ष्ठिवुक्लमुचमां शिति'* (७.३.७५) से *'शिति'* की अनुवृत्ति करनी होगी। स्थानी और आदेश समान होने के कारण '२३–यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' परिभाषा से क्रमानुसार होते हैं। पुनश्च अनेकाल् होने से ये आदेश '४५–अनेकाल् शित्सर्वस्य' *परिभाषा द्वारा सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होंगे।*

भावार्थ—शित् (जिसका शकार इत्संज्ञक हो) प्रत्यय परे होने पर 'पा' आदि के स्थान पर क्रमशः 'पिब' आदि सर्वादेश होते हैं। इसको एक तालिका द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

स्थानी	*आदेश*	*अर्थ*	*स्थानी*	*आदेश*	*अर्थ*
१. पा	पिब	पीना	७. दृश्	पश्य	देखना
२. घ्रा	जिघ्र	सूँघना	८. ऋ	ऋच्छ	जाना
३. ध्मा	धम	फूँकना	९. सृ	धौ	दौड़ना
४. स्था	तिष्ठ	ठहरना, रहना	१०. शद्	शीय	नष्ट होना
५. म्ना	मन	अभ्यास करना	११. सद्	सीद	जाना या नष्ट होना
६. दाण्	यच्छ	दान देना			

आत औ णलः ।७।१।३४

वृत्ति—आदन्ताद् धातोर्णल औकारादेशः स्यात्। पपौ।

शब्दार्थ—(आतः) दीर्घ आकार से पर (णलः) णल् के स्थान पर (औ) औकार होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अङ्गस्य' ६.४.१ की अनुवृत्ति करनी होगी। यह पञ्चम्यन्त होकर 'आतः' का विशेष्य *बनता है।*

भावार्थ—आकारान्त अङ्ग के पश्चात् णल् के स्थान पर 'औ' आदेश होता है।

उदाहरण—लिट् लकार के प्रथमपुरुष एकवचन में 'पा' धातु से तिप्, णल् (अकार) आदि होकर 'प पा अ' रूप बनता है। यहाँ आकारान्त अङ्ग 'पा' से परे णल् (अ) को 'औ' हो जाता है—'प पा औ'। तब वृद्धि होकर 'पपौ' रूप सिद्ध होगा।

आतो लोप इटि च ।६।४।६४

वृत्ति—अजाद्योरार्धधातुकयोः क्ङिदिटो परयोरातो लोपः। पपतुः। पपुः। पपिथ, पपाथ। पपथुः। पप। पपौ। पपिव। पपिम। पाता। पास्यति। पिबतु। अपिबत्। पिबेत्।

शब्दार्थ—(च) और (इटि) इट् परे होने पर (आतः) दीर्घ आकार का (लोपः) लोप होता है। यहाँ सूत्रस्थ 'च' से पता चल जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'आर्धधातुके' ६.४.४६ *तथा 'दीङो युडचि क्ङिति'* ६.४.६३ से 'अचि' और क्ङति' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अचि' 'आर्धधातुके' का विशेषण है, अतः तदादि-विधि की सूचना देता है।

भावार्थ—अजादि (जिसके आदि में कोई स्वर वर्ण हो) आर्धधातुक, कित्-ङित् और इट् परे होने पर दीर्घ आकार का लोप होता है।

उदाहरण—लिट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन में 'पा' धातु से तस् और उसके स्थान पर 'अतुस्' आदि होकर 'प पा अतुस्' रूप बनता है। यहाँ अपित् लिट् होने से 'अतुस्' '४५२–असंयोगाल्लिट् कित्' द्वारा 'कित्' होता है। साथ ही वह अजादि भी है। अतः उसके परे होने पर 'पा' के आकार का लोप होकर 'प प् अतुस्' रूप बनेगा। तब +त्व-विसर्ग करने पर 'पपतुः' रूप सिद्ध होता है।

एर्लिङि ।६।४।६७

वृत्ति—घुसंज्ञकानां मास्थादीनां च एत्वं स्यात् आर्धधातुके किति लिङि। पेयात्। 'गतिस्था–०' इति सिचो लुक्–अपात्। अपाताम्।

शब्दार्थ—(लिङि) लिङ् परे होने पर (एः) एकार आदेश होता है, किन्तु यह एकार किसके स्थान पर होता है, इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'आर्धधातुके' ६.४.४६, 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' ६.४.६६ से 'घुमास्थागापाज-हातिसाम्' और 'दीङो युडचि क्ङिति' ६.४.६३ से 'किति' की अनुवृत्ति करनी होगी।

भावार्थ—आर्धधातुक कित् लिङ् परे होने पर घुसंज्ञक, मा (माने), स्था (गति-निवृत्तौ), गा (शब्दे), पा (पाने), हा (त्यागे) और सो (अन्तकर्मणि) धातुओं के स्थान पर एकार होता है। '२१–अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह एकारादेश धातुओं के अन्त्य वर्ण के स्थान पर ही होगा।

उदाहरण—आशीर्लिङ् के प्रथमपुरुष एकवचन में 'पा' धातु से तिप्, यासुट्, आदि होकर 'पा या त्' रूप बनता है। यहाँ आशीर्लिङ् के स्थान पर आदेशित तिङ् आर्धधातुक है और उसको हुआ 'यासुट्' (या) आगम '४३२–किदाशिषि' से कित् है। आदेश के द्वारा लिङ् भी कित् है। इस प्रकार आर्धधातुक कित् लिङ् परे होने के कारण पकारोत्तरवर्ती आकार के स्थान पर एकार होकर 'पेयात्' रूप सिद्ध होता है।

आतः ।३।४।११०

वृत्ति—सिज्लुकि आदन्तादेश झेर्जुस्।

शब्दार्थ—(आतः) आकार से पर, किन्तु क्या होना चाहिये, यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'झेर्जुस्' ३.४.१०८ और 'सिजभ्यस्त–०' ३.४.१०९ से 'सिचः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'लिङः सीयुट्' ३.४.१०२ से 'लिङः' की भी अनुवृत्ति होगी।

भावार्थ—ङित् लकार (लङ्, लिङ्, लुङ् और लृङ्) सम्बन्धी सिच् और अकारान्त से परे 'झि' के स्थान पर 'जुस्' आदेश होता है। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि 'झि' सिच् और अकारान्त—दोनों से ही परे कैसे हो सकता है? यहाँ ध्यान रहे कि सिच् का तो लोप हो जाता है, किन्तु प्रत्ययलक्षण परिभाषा से वह उपस्थित माना जाता है। आकारान्त का तो श्रवण भी होता है। इस प्रकार 'झि' दोनों से ही परे हो जाता है। इस कठिनता को दूर करने के लिए वार्त्तिककार ने कहा है—'आतः सिज्लुगन्तादि वक्तव्यम्'। इसका सहायता से सूत्र का सरलार्थ इस प्रकार होगा—सिच् का लुक् होने पर आदन्त धातु से पर 'झि' के स्थान पर जुस् होता है। 'झि' के स्थान पर 'जुस्' आदेश पूर्व सूत्र 'सिजभ्यस्त–०' ३.४.१०९ से प्राप्त है, अतः इस सूत्र का आरम्भ नियमार्थ है। इससे सूचित होता है कि सिच् का लोप होने पर आकारान्त धातु से ही पश्चात् 'झि' को 'जुस्' होता है, अन्य स्थलों में नहीं। नियम का फल 'अभूवन्' आदि आकारान्त-भिन्न धातुओं में दिखाई देता है। यहाँ सिच्-लोप होने पर भी 'जुस्' नहीं होता।

उदाहरण—इसका उदाहरण 'पा' धातु से मिलता है। लुङ् लकार के प्रथमपुरुष बहुवचन में 'पा' धातु से अट्, च्लि और उसके स्थान पर सिच् आदि होकर 'अपा झि' रूप बनता है। यहाँ आकारान्त 'पा' से परे 'झि' को 'जुस्' होकर 'अपा जुस्' रूप बनेगा। 'जुस्' में जकार '१२९–चुटू' सूत्र से इत्संज्ञक

है अत: उसका लोप होकर केवल 'उस्' ही शेष रह जाता है—'अपा उस्'।

उस्यपदान्तात् ।६।१।९६

वृत्ति—अपदान्तादकाराद् उसि पररूपमेकादेश: । अपु: । अपास्यत् । ग्लै हर्षक्षये ।१७ । ग्लायति ।

शब्दार्थ—(अपदान्तात्) अपदान्त से (उसि) 'उस्' परे होने पर, किन्तु इससे स्पष्ट नहीं होता कि क्या होना चाहिये? इसके लिए 'आद्गुण:' ६.१.८७ से 'आत्' और 'एङि पररूपम्' ६.१.९४ से 'पररूपम्' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'एक: पूर्वपरयो:' ६.१.८४ का यहाँ अधिकार है ।

भावार्थ—अपदान्त अवर्ण से 'उस्' परे होने पर पूर्व-पर—दोनों के स्थान में पररूप एकादेश होता है।

उदाहरण—'अया उस्' में अपदान्त पकारोत्तीपर्ती आकार से 'उस्' परे है । अत: पूर्व और पर के स्थान में पररूप 'उ' होकर 'अप् उ स्' = 'अपु स्' रूप बनता है । इस स्थिति में सकार का रुत्व-विसर्ग होकर 'अपु:' रूप सिद्ध होता है ।

***

'पा' धातु रूपसिद्धि

(पा धातु)

लट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन

(पिबति)

पा + ति (प्)

पा घ्रा-ध्मा-स्था म्ना दाण् दृशि अर्ति सर्ति शद शदा पिबजिघ्र.....-

धम तिष्ठ मन् यच्छ पश्य ऋच्छ धौ शीय सीदाः-सूत्र से पा को पिब आदेश—

पिब ति

तिङ् शित् सार्वधातुकम्-

कर्तरि शप्-

पिब अ ति

अतो गुणे-

पिबति ।

लिट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन

(पपौ)

पा + ति ।

परस्मैपदानां णलतुसुस् थलथुस णल्वमाः-

पा णल्

आत औ णलः-सूत्रानुसार णल् के स्थान पर औ आदेश पा औ

लिटिधातोरनभ्यासस्य-

पा औ

लिटिधातोरनभ्यासस्य-

पा पा औ

पूर्वोऽभ्यासः ह्रस्वः-

पपा औ

वृद्धि रेचि-

पपौ ।

द्विवचन (पपतुः)	**बहुवचन (पपुः)**
पा + तस्	**पा + झि**
पा + अतुस्	**झे र्जुस्**-पा जुस्
पा पा अतुस्	पा उस्
प पा अतुस्	पा पा उस्
पपातु स्	पपा उस्
आतोलोप इटि च	**आतोलोप इटि च** पप् उस्
पपतुः	पपुः ।

मध्यम पुरुष एकवचन

(पपिथ/पपाथ)

पा + सि (प्)

परस्मैपदानां णलतुसुस् थलथुस णल्वमाः–

पा + थल्

आर्धधातुकं शेषः–

आर्धधातुकस्याड्वलादेः/एकाच उपदेशऽनुदात्तात कृस्भृवृस्त अचस्तास्तन ऋतोभारद्वाजस्य अतोलोप इट्–

पा इ थल्

पा पा इ थल्

प पा इ थल्

पप् इ थल्

पपिथ (ल् की इत् संज्ञा)

इट् अभाव पक्ष में–

तब आकार का लोप नहीं होगा।

द्विवचन (पपथुः)	**बहुवचन (पप)**
पा + थस्	**पा + थ**
पा + अथुस्	पा + अ
पा पा अथुस्	पा पा अ
पपा अथुस्	पपा अ
पप् अथुस्	पप् अ
पपथुः	पप

नोट—शेष सभी ऐसे ही बनेंगे।

लुट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन
(पाता)

पा + ति (प्)

कर्तरि शप्–

स्य तासी ल्र लुटोः–

लुटः प्रथमस्य डा रौ रसः–

पा तास् आ (डा)

अर्धधातुकं शेषः । आर्धधातुकस्यऽवलादे । एकाच–इट् का निषेध

डित्व सामर्थ्याद् अभस्यापि टेर्लोपः–

यात आ

पाता।

नोट—शेष रूप ऐसे ही होंगे।

लृट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन
(पास्यति)

पा + ति (प्)

कर्तरि शप्–

स्य तासी लृ लुटोः-

पा स्य ति

पास्यति ।

नोट—शेष ऐसे ही बनेंगे ।

लोट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन

(पिबतु/पिबतात्)

पा + ति

पा ध्रा ध्मा स्था.........

पिब ति

इतश्च-पिब त्

कर्तरि शप्-

पिब अ त्

एरुः-

पिब अ तु

अतो गुणे—पिबतु ।

तातङ् पक्ष में—

पिबतात् ।

लङ् लकार प्रथम पुरुष एकवचन

(अपिबत्)

पा + ति

लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड् उदात्तः-

अ पा ति

कर्तरि शप्-

अ पिब अ ति

पा घ्रा धमा स्था.........

अपिब ति

इतश्च-

अपिबअत्

अतो गुणे-

अपिबत् ।

विधिलिङ् लकार प्रथम पुरुष एकवचन

(पिबेत्)

पा + ति

पा घ्रा ध्मा स्था......-पिब ति

कर्तरि शप्-पिब अ ति

इतश्च-पिब अ त्

अतो गुणे-पिब त्

यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च-पिव यास् त्

अतो येयः–पिब इय् त्

आद् गुणः–पिबेय् त्

लोपो व्योर्वलि–पिबेत्।

आशीर्लिङ् लकार प्रथम पुरुष एकवचन

(पेयात्)

पा + ति (प्)

इतश्च–

पा अ त्

किद् आशिषि–पा यास् त्

हलोऽनन्तरा संयोग–

स्कोः संयोगाद्योरन्ते च–

पा पात्

एर्लिङि–सूत्रानुसार पा के अ को एकार आदेश–

पेयात्।

लुङ् लकार प्रथम पुरुष एकवचन

(अपात्)

पा + ति (प्)

लुङ्लिङ्लङक्ष्यड् उदात्तः–

अ पा ति

इतश्च–

अ पा त्

कर्तरि शप्–

च्लि लुङि–

अ पा च्लि त्

चलेः सिच्–

अ पा सिच् त्

अ पा स् त्

गति–स्था धु पा भूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु–

अपात्।

द्विवचन (अपाताम्)	**बहुवचन (अपुः)**
पा + तस्	**पा + झि**
अ पा तम्	अ पा झि
अ पा च्लि तस्	अ पा च्लि झि
अपा सिच् तस्र्	अपा स् झि
अपा स् तस्	अपा झि
अपा स् ताम्	
अपाताम्।	

आतः–सूत्रानुसार सिच् का लोप जहाँ हो वहाँ झि को जुस् आदेश—

अपा जुस्।

आद् गुणः– रोककर अपा उस्

उसि अपदान्तात–पररूप आदेश अपु स्/अपुः ।

लुङ लकार प्रथम पुरुष एकवचन

(अपास्यत्)

पा + ति (प्)

लुङलङ्लङक्ष्यड् उदात्तः–

अ पा ति

इतश्च–अ पा त्

कर्तरि शप्–

स्य तासी लृ लुटोः–

अपा स्य त्

अपास्यत् ।

नोट—भू के समान ही होंगे गुण अयादि स् के मूर्धन्य नहीं होंगे।

—०००—

तिङन्तप्रकरण

'एध्' धातु सूत्र-व्याख्या

(अथात्मनेपदिनः)

एध वृद्धौ ।१।

टित आत्मनेपदानां टेरे ।३।४।७९

वृत्ति—टितो लस्यात्मनेपदानां देरेत्वम् । एधते ।

शब्दार्थ—(टितः आत्मनेपदानां टेः) टित् आत्मनेपद प्रत्ययों की 'टि' के स्थान पर (ए) एकार हो । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'लस्य' ३.४.७७ की अनुवृत्ति करनी होगी । 'टितः' 'तस्य' का विशेषण है ।

भावार्थ—टित् लकार (लट्, लिट्, लुट्, लेट् और लोट्) सम्बन्धी आत्मनेपद की 'टि' के स्थान पर एकार होता है ।

उदाहरण—लट् लकार के प्रथमपुरुष एकवचन में 'एध्' धातु से 'त' प्रत्यय आदि होकर 'एध् अ त्' रूप बनता है । यहाँ आत्मनेपद 'त' की टि-अकार के स्थान पर एकार होकर 'एध् अ त् ए' = 'एधते' रूप सिद्ध होता है ।

आतो ङितः ।७।२।८१

वृत्ति—अतः परस्य ङितामाकारस्य 'इय्' स्यात् । एधेते । एधन्ते ।

शब्दार्थ—(ङितः) ङित् के (आतः) आकार के स्थान पर, किन्तु होना क्या चाहिये यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' ७.२.७६ से 'सार्वधातुके' तथा 'अतो येयः' ७.२.८० से 'अतः' और 'इयः' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'सार्वधातुके' षष्ठी में विपरिणत हो जाता है ।

भावार्थ—अकार से परे ङित् सार्वधातुक के अवयव आकार के स्थान पर 'इय्' आदेश होता है ।

उदाहरण—लट् लकार के प्रथमपुरुष द्विवचन में 'एध्' धातु से 'आताम्' आदि होकर 'एध् अ आताम्' रूप बनता है । यहाँ 'आताम्' '५००-सार्वधातुकमपित्' से ङित् है, अतः अकार से परे होने के कारण उसके आकार के स्थान पर इय् (इकार) होकर 'एध् अ इ ताम्' रूप बनेगा । इस स्थिति में गुण, आत्मनेपद की 'टि' के स्थान में एकार और मकार का लोप करने पर 'एधेते' रूप सिद्ध होता है ।

इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः ।३।१।३६

वृत्ति—इजादिर्यो धातुर्गुरुमानृच्छत्यन्यस्तत आम् स्याल्लिटि ।

शब्दार्थ—(च) और (अनृच्छः गुरुमतः इजादेः) 'ऋच्छ्' को छोड़कर गुरुवर्णवाले इजादि से पर, किन्तु क्या होना चाहिये, यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'धातोरेकाचः-' ३.१.२२ से 'धातोः' तथा 'कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि' ३.१.३५ से 'आम्' और 'लिटि' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'धातोः' सूत्र में दिये हुए तीनों पदों का विशेष्य है ।

भावार्थ—लिट् परे होने पर 'ऋच्छ्' धातु (जाना, इन्द्रियबल घटना) को छोड़कर अन्य गुरुवर्ण वाले इजादि (जिसके आदि में इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ या औ हो) धातु से 'आम्' होता है ।

उदाहरण—'एध्' धातु में इच्-एकार आदि में है तथा गुरुमान् भी है, अतः लिट् परे होने पर इससे 'आम्' होकर 'एध् आम् लिट्' रूप बनता है । इस स्थिति में लिट्-लोप और 'कृ' के अनुप्रयोग करने पर 'एधाम् कृ लिट्' रूप बनेगा । यहाँ लिट् के स्थान पर परस्मैपद प्राप्त होता है, किन्तु अग्रिम सूत्र से उसका बाध हो जाता है—

आम्प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य ।१।३।६३

वृत्ति—आम्प्रत्ययो यस्माद् इत्यस्यद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । आम्प्रकृत्या तुल्य-मनुप्रयुज्यमानात्

कृञोऽप्यात्मनेपदम्।

शब्दार्थ—(आम्प्रत्ययवत्) जिससे आम् प्रत्यय हुआ है उसके समान (अनुप्रयोगस्य कृञ:) अनुप्रयुज्यमान कृञ् से, किन्तु क्या होना चाहिये, यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता है। इसके लिए 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' १.३.१२ से आत्मनेपदम् की अनुवृत्ति करनी होगी।

भावार्थ—जिससे आम्प्रत्यय हुआ है, उसके समान अनुप्रयुज्यमान (बाद में प्रयुक्त) कृञ् धातु से आत्मनेपद होता है। तात्पर्य यह है कि जिस धातु से 'आम्' प्रत्यय हुआ हो वह धातु यदि आत्मनेपद है तो अनुप्रयुक्त कृञ् से भी आत्मनेपद होता है और यदि वह परस्मैपद है तो अनुप्रयुज्यमान कृञ् से भी परस्मैपद होता है। 'कृञ्' धातु वास्तव में ञित् होने से उभयपद है, अत: इससे दोनों प्रकार के आदेश चरितार्थ हो जाते हैं।

उदाहरण—'एधाम् कृ लिट्' में 'आम्' प्रत्यय 'एध्' धातु से हुआ है। वह आत्मनेपद है, अत: उसके समान अनुप्रयुक्त कृञ् से भी लिट् के स्थान में 'आत्मनेपद' होगा। प्रथमपुरुष एकवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'त' होकर 'एधाम् कृ त' रूप बनता है। परस्मैपद धातु का उदाहरण 'गोपायाञ्चकार' में मिलता है। यहाँ आत्मनेपद नहीं हुआ; क्योंकि यहा 'आम्' प्रत्यय परस्मैपद धातु 'गुप्' से हुआ है।

लिटस्तझयोरेशिरेच् **।३।४।८१**

वृत्ति—लिडादेशयोस्तझयो: 'एश्' 'इरेच्' एतौ स्त:। एधाञ्चक्रे। एधाञ्चक्रे। एधाञ्चक्राते। एधाञ्चक्रिरे। एधाञ्चकृषे। एधाञ्चक्राथे।

शब्दार्थ—(लिट:) लिट् के (तझयो:) 'त' और 'झ' के स्थान पर (एशिरेच्) 'एश्' तथा 'इरेच्' आदेश होते हैं। यहाँ स्थानी और आदेश समान होने के कारण '२३–यथासंख्यमनुवेश: समानाम्' परिभाषा से क्रमानुसार विहित होते हैं।

भावार्थ—लिट् के 'त' के स्थान पर 'एश्' और 'झ' के स्थान पर 'इरेच्' आदेश होते हैं। 'एश्' में '१३६–लशक्वतद्धिते' से शकार इत्संज्ञक है, अत: शित् होने से सम्पूर्ण 'त' के स्थान पर होता है। 'इरेच' का चकार इत्संज्ञक है। अनेकाल् होने के कारण यह भी 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' १.१.५५ परिभाषा से सम्पूर्ण 'झ' के स्थान पर होगा।

उदाहरण—'एधाम् कृ त' में लिट् के 'त' के स्थान पर एश्' (ए) होकर 'एधाम् कृ ए' रूप बनता है। इस स्थिति में द्वित्व आदि करने से 'एकाञ्चक्रे' रूप सिद्ध होगा। इसी प्रकार लिट् लकार के प्रथमपुरुष बहुवचन में 'एधाम् कृ झ' रूप बनने पर 'झ' के स्थान पर 'इरेच्' (इरे) होकर 'एधाम् कृ इरे' रूप बनता है। इस अवस्था में पुन: द्वित्व आदि करने से 'एधाञ्चक्रिरे' रूप सिद्ध होता है।

इण: षीध्वंलुङ्-लिटां धोऽङ्गात् **।८।३।७८**

वृत्ति—इण्णन्तादङ्गात् परेषां षीध्वंलुङ्लिटां धस्य ढ: स्यात्। एधाञ्चकृढ्वे। एधाञ्चक्रे। एधाञ्चकृवहे। एधाञ्चकृमहे। एधाम्बभूव। एधामास। एधिता। एधितारौ। एधितार:। एधितासे। एधितासाथे।

शब्दार्थ—(इण: अङ्गात्) इणन्त अङ्ग से परे (षीध्वं-लुङ्-लिटां) षीध्वं, लुङ् और लिट् के (ध:) धकार के स्थान पर। किन्तु क्या होना चाहिए, यह सूत्र से ज्ञान नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अपदान्तस्य मूर्धन्य:' ८.३.५५ से 'मूर्धन्य:' की अनुवृत्ति करनी होगी।

भावार्थ—इणन्त अङ्ग (जिसके अन्त में इ, उ, ऋ, ल, ए, ओ ऐ, औ, ह, य, व, र या ल हो) से परे षीध्वं, लुङ् और लिट् के धकार के स्थान पर मूर्धन्य होता है। '१७–स्थानेऽन्तरतम:' परिभाषा से धकार के स्थान पर ढकार ही होगा।

उदाहरण—लिट् लकार के मध्यमपुरुष बहुवचन में 'एध्' धातु से 'ध्वम्' आदि होकर 'एधाञ्चकृध्वे' रूप बनता है। यहाँ 'एधाञ्चकृ' अङ्ग के अन्त में इण्–ऋकार है और उससे परे लिट् 'ध्वम्' का धकार

है। अतः प्रकृत सूत्र से धकार के स्थान पर ढकार होकर 'एधाञ्चकृढ्वे' रूप सिद्ध होता है।

धि चें ।८।२।२५

वृत्ति—धादौ प्रत्यये परे सस्य लोपः। एधिताध्वे।

शब्दार्थ—(च) और (धि) धकार परे होने पर। यहाँ सूत्रस्थ 'च' से पता चल जाता है कि यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'संयोगान्तस्य लोपः' ८.२.२३ से 'लोपः' और 'रात्सस्य' ८.२.२४ से 'सस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'धि' अङ्गाक्षिप्त प्रत्यय का विशेषण है, अतः तदादिविधि हो जाती है।

भावार्थ—धकारादि (जिसके आदि में धकार हो) प्रत्यय परे होने पर सकार का लोप होता है।

उदाहरण—लुट् लकार के मध्यमपुरुष बहुवचन में 'एध्' धातु से 'ध्वम्' आदि होकर 'एधितास् ध्वम्' रूप बनने पर धकारादि 'ध्वम्' प्रत्यय परे होने से 'एधितास्' के सकार का लोप होकर 'एधिताध्वम्' रूप बनेगा। इस स्थिति में 'टि'–'अम्' के स्थान पर 'ए' होकर 'एधिताध्वे' रूप सिद्ध होता है।

ह एति ।७।४।५२

वृत्ति—तासस्त्योः सस्य हः स्यादेति परे। एधिताहे। एधितास्वहे। एधितास्महे। एधिष्यते। एधिष्येते। एधिष्यन्ते। एधिष्यसे। एधिष्येथे। एधिष्यध्वे। एधिष्ये। एधिष्यावहे। एधिष्यामहे।

शब्दार्थ—(एति) एकार परे होने पर (हः) हकार होता है, किन्तु यह हकार किसके स्थान पर होता है, इसका स्पष्टीकरण सूत्र से नहीं होता। इसके लिए 'सः स्यार्धधातुके' ७.४.४९ से 'सः' तथा 'तासस्त्योल पः' ७.४.५० से 'तासस्त्योः' की अनुवृत्ति करनी होगी।

भावार्थ—एकार परे होने पर 'तास्' और 'अस्' के सकार के स्थान पर हकार होता है।

उदाहरण—लुट् लकार के उत्तमपुरुष एकवचन में 'एध्' धातु से इट् प्रत्यय आदि होकर 'एधितास् ए' रूप बनता है। यहाँ एकार परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'तास्' के सकार के स्थान पर हकार होकर 'एधिताह् ए' = 'एधिताहे' रूप सिद्ध होगा।

आमेतः ।३।४।९०

वृत्ति—लोट एकारस्याम् स्यात्। एधताम्। एधेताम्। एधन्ताम्।

शब्दार्थ—(एतः) एकार के स्थान पर (आम्) 'आम्' होता है, किन्तु यह आदेश किस अवस्था में होगा, यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'लोटे लङ्वत्' ३.४.८५ से 'लोटः' की अनुवृत्ति करनी होगी।

भावार्थ—लोट् के एकार के स्थान पर 'आम्' आदेश होता है।

उदाहरण—लोट् लकार के प्रथमपुरुष एकवचन में 'एध्' धातु से 'त' प्रत्यय आदि होकर 'एधते' रूप बनने पर एकार के स्थान पर 'आम्' होकर 'एधत् आम्' = 'एधताम्' रूप सिद्ध होता है।

सवाभ्यां वाऽमौ ।३।४।९१

वृत्ति—सवाभ्यां परस्य लोडेतः क्रमाद् वाऽसौ स्तः। एधस्व, एधेथाम्, एधध्वम्।

शब्दार्थ—(सवाभ्यां) सकार और वकार से परे (वामौ) 'व' और 'अम्' आदेश होते हैं, किन्तु ये आदेश किसके स्थान पर होंगे, यह सूत्र से ज्ञान नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'लोटोलङ्वत्' ३.४.८५ से 'लोटः' तथा 'आमेतः' ३.४.९० से 'एतः' की अनुवृत्ति करनी होगी। '२३–यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' परिभाषा से ये आदेश क्रमशः होंगे।

भावार्थ—सकार और वकार से परे लोट् के एकार के स्थान पर क्रमशः 'व' और 'अम्' होते हैं।

उदाहरण—लोट् लकार के मध्यमपुरुष एकवचन में 'एध्' धातु से 'थास्' आदि होकर 'एधसे'

रूप बनता है। यहाँ सकार से परे लोट् का एकार है, अतः प्रकृत सूत्र से उसके स्थान पर 'व' होकर 'एधस् व' + 'एधस्व' रूप सिद्ध होता है।

विशेष—यह सूत्र '५१७-आमेतः' का अपवाद है।

एत ऐ।३।४।९३

वृत्ति—लोडुत्तमस्य यत ऐ स्यात्। एधै, एधावहै, एधामहै। 'आटश्च'—ऐधत, ऐधेताम्, ऐधन्त। ऐधथाः, ऐधेथाम्, ऐधेध्वम्। ऐधे, ऐधावहि, ऐधामहि।

शब्दार्थ—(एतः) एकार के स्थान पर (ऐ) ऐकार होता है, किन्तु यह आदेश किस अवस्था में होता है, यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'लोटो लङ्वत्' ३.४.८५ से 'लोटः' तथा 'आडुत्तमस्य पिच्च' ३.४.९२ से 'उत्तमस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी।

भावार्थ—लोट् के उत्तम के एकार के स्थान पर 'ऐ' होता है।

उदाहरण—लोट् के उत्तमपुरुष एकवचन में 'एध्' धातु से इट् आदि होकर 'एध् अ ए' रूप बनने पर प्रकृत सूत्र से एकार के स्थान पर ऐकार होकर 'एध् अ ऐ' रूप बनेगा। इस स्थिति में वृद्धि आदि होकर 'एधै' रूप सिद्ध होता है।

लिङः सीयुट्।३।४।१०२

वृत्ति—लिङादेशानां सीयुडागमः स्यादात्मनेपदे। सलोपः—एधेत, एधेयाताम्।

शब्दार्थ—(लिङः) लिङ् का अवयव (सीयुट्) सीयुट् होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'टित आत्मनेपदानां टेरे' ३.४.७९ से 'आत्मनेपदानां' की अनुवृत्ति करनी होगी।

भावार्थ—लिङ् के आत्मनेपद प्रत्ययों का अवयव 'सीयुट्' होता है। 'सीयुट्' में 'उट्' इत्यसंज्ञक है, अतः टित् होने के कारण '८५-आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह आत्मनेपद प्रत्ययों का आद्यवयव बनता है।

उदाहरण—लिङ् के प्रथमपुरुष एकवचन में 'एध्' धातु से 'त' आदि होकर 'एध् अ त' रूप बनने पर आत्मनेपद 'त' को 'सीयुट्' आगम होकर 'एध् अ सीय् त' रूप बनेगा। इस स्थिति में सकार-यकार-लोप तथा गुण करने पर 'एधेत' रूप सिद्ध होता है।

झस्य रन्।३।४।१०५

वृत्ति—लिङो झस्य रन् स्यात्। एधेरन्। एधेथाः, एधेयाथाम्, एधेध्वम्।

शब्दार्थ—(झस्य) 'झ' के स्थान पर (रन्) 'रन्' आदेश होता है, किन्तु यह आदेश किस अवस्था में होता है, इसका पता सूत्र से नहीं लगता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'लिङः सीयुट्' ३.४.१०२ से 'लिङः' की अनुवृत्ति करनी होगी।

भावार्थ—लिङ् के 'झ' के स्थान पर 'रन्' अदेश होता है। अनेकाल् होने के कारण यह आदेश '४५-अनेकाल् शित्सर्वस्य' परिभाषा द्वारा सम्पूर्ण 'झ' के स्थान पर होगा।

उदाहरण—लिङ् लकार के प्रथमपुरुष बहुवचन में 'एध्' धातु से 'झ', 'सीयुट्' आदि होकर 'एधेय् झ' रूप बनने पर 'झ' के स्थान पर 'रन्' होकर 'एधेय् रन्' रूप बनेगा। इस स्थिति में यकार लोप करने पर 'एधेरन्' रूप सिद्ध होता है।

इटोऽत्।३।४।१०६

वृत्ति—लिङादेशस्य इटोऽत् स्यात्। एधेय, एधेवहि, एधेमहि।

शब्दार्थ—(इटः) 'इट्' के स्थान पर (अत्) 'अत्' होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'लिङः सीयुट्' ३.४.१०२ से 'लिङः' की अनुवृत्ति करनी होगी।

भावार्थ—लिङ् के 'इट्' के स्थान पर 'अत्' आदेश होता है। 'अत्' में तकार इत्संज्ञक है, अतः

केवल अकार ही शेष रह जाता है।

उदाहरण—लिङ् लकार के उत्तमपुरुष एकवचन में 'एध्' धातु से इट् आदि होकर 'एधेय् इ' रूप बनने पर इट् (इ) के स्थान पर 'अत्' (अकार) होकर 'एधेय् अ' = 'एधेय' रूप सिद्ध होता है।

सुट् तिथोः ।३।४।१०७

वृत्ति—लिङस्तथोः सुट्। यलोपः। आर्धधातुकत्वात् सलोपो न। एधिषीष्ट, एधि-षीयास्ताम्, एधिषीरन्। एधिषीष्ठाः, एधिषीयास्थाम्, एधिषीध्वम्। एधिषीय, एधिषीवहि, एधिषीमहि। एधिष्ट, ऐधिषाताम्—

शब्दार्थ—(तिथोः) तकार और थकार का अवयव (सुट्) 'सुट्' होता है, किन्तु यह किस अवस्था में होता है, इसका स्पष्टीकरण सूत्र से नहीं होता। इसके लिए 'लिङः सीयुट्' ३.४.१०२ से 'लिङः' की अनुवृत्ति करनी होगी।

भावार्थ—लिङ् के तकार और थकार का अवयव 'सुट्' होता है। 'सुट्' में 'उट्' इत्संज्ञक है, अतः टित् होने के कारण '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह तकार और थकार का आद्यवयव बनेगा।

उदाहरण—आशीर्लिङ् के प्रथमपुरुष एकवचन में 'एध्' धातु से 'त' आदि होकर 'एध् इ सीय् त' रूप बनने पर 'त' को 'सुट्' (सकार) आगम होकर 'एध् इ सीय् स त' रूप बनेगा। यहाँ थकार लोप और मूर्धन्य षकारादि करने पर 'एधिषीष्ट' रूप सिद्ध होता है।

आत्मनेपदेष्वनतः ।७।१।५।

वृत्ति—अनकारात् परस्यात्मनेपदेषु झस्य 'अत्' इत्यादेशः स्यात्। ऐधिषत। ऐधिष्ठाः, ऐधिषाथाम्, ऐधिढ्वम्। ऐधिषि, ऐधिष्वहि, ऐधिष्महि। ऐधिष्यत, ऐधिष्येताम्, ऐधिष्यन्त। ऐधिष्यथाः, ऐधिष्येथाम्, ऐधिष्यध्वम्। ऐधिष्ये, ऐधिष्यावहि, ऐधिष्यामहि। कमु कान्तौ ।२।

शब्दार्थ—(अनतः) अकारभिन्न वर्ण से पर (आत्मनेपदेषु) आत्मनेपद के। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'झोऽन्तः' ७.१.३ से 'झः' और 'अदभ्यस्तात्' ७.१.४ से 'अत्' की अनुवृत्ति करनी होगी।

भावार्थ—अकार-भिन्न वर्ण से परे आत्मनेपद के 'झ्' के स्थान पर 'अत्' आदेश होता है।

उदाहरण—लुङ् लकार के प्रथमपुरुष बहुवचन में 'एध्' धातु से 'झ' आदि होकर 'ऐध् इ स् झ' रूप बनने पर अकार-भिन्न सकार से परे झकार को 'अत्' आदेश होकर 'ऐध इ स् अत् अ' बनता है। इस स्थिति में षत्व करने पर 'ऐधिषत' रूप सिद्ध होगा।

****

'एध्' धातु रूपासांद्धि

(एध् धातु)

लट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन

(एधते)

एध् + त

तिङ् शित् सार्वधातुकम्–

कर्तरि शप्–

एध् अ त

टित आत्मने पदानां टेरे–सूत्रानुसार एकार आदेश—

एधते।

प्रथम पुरुष द्विवचन

(एधेते)

एध् आताम्

कर्तरि शप्–

एध् अ आताम्

सार्वधातुकमपित् आतो ङितः–सूत्रानुसार अकार से पर ङित् प्रत्ययों के आकार को इय् आदेश—

एध् अ इय् ताम् = एध इय् ताम्

आद् गुणः–

एधे य् ताम्

लोपो व्योर्वलि–

एधे ताम्

टित आत्मने पदानां टेरे–

एधेते।

प्रथम पुरुष बहुवचन

(एधन्ते)

एध् + झ

एध् अ झ

एध् अ अन्त

एध् अ अन्ते

अतो गुणे–एधन्ते।

मध्यम पुरुष एकवचन

(एधसे)

एध् + थास्

कर्तरिशप्–

एध् अ थास्

टित आत्मनेपदानां टेरे–एकार की प्राप्ति है; लेकिन

थासः से–सूत्रानुसार थास् को से आदेश—

एधसे।

मध्यम पुरुष द्विवचन

(एधेथे)

एध् + आथाम्

कर्तरिशप्–

एध् आथाम्

अतो ङितः–

एध् अ इय् आथाम्

लोपोव्योर्वलि–

एध् अ इ आथाम्

आद् गुणः–आ और इ को गुण एकार गुण

एधे थाम्

टित आत्मने पदानां टेरे–

एधेथे।

मध्यम पुरुष बहुवचन

(एधध्वे)

एध् + ध्वम्

कर्तरि शप्–

एध् अ ध्वम् / एध ध्वम्

टित आत्मनेपदानां टेरे–

एधध्व् ए

एधध्वे।

उत्तम पुरुष एकवचन

(एधे)

एध् + इट्

हलन्त्यम्–

तस्यलोपः–एध् इ

कर्तरि शप्–एध् अ इ

टित आत्मने पदानां टेरे–एध् अ ए

अतो गुणे—एधे।

उत्तम पुरुष द्विवचन

(एधावहे)

एध् + वहि

कर्तरि शप् –

एध् अ वहि / एध वहि

टित आत्मने पदानां टेरे–एध वहे

अतो दीर्घो यञि—एधावहे

उत्तम पुरुष बहुवचन
(एधामहे)

एध् + महिङ्
एध् अ महि
एध महि
एध महे
एधामहे।

****

Uttar Pradesh Rajarshi Tandon Open University

MAST -103

लघु सिद्धान्त कौमुदी

(पाठ्यक्रमानुसार नियत अंश-व्याख्या)

खण्ड
2

लघु सिद्धान्त कौमुदी

इकाई- 4

प्रत्यय प्रकरण -कृदन्त, तद्धित प्रकरण 108

इकाई- 5

समास का सामान्य परिचय 138

परामर्श-समिति

प्रो0 नागेश्वर राव	कुलपति - अध्यक्ष
डॉ0 हरीशचन्द्र जायसवाल	वरिष्ठ परामर्शदाता - कार्यक्रम संयोजक
श्री एम0 एल0 कनौजिया	कुलसचिव - सचिव

पाठ्य-सामग्री निर्धारण समिति

प्रो. पी0डी0 सिंह	आचार्य, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रो. जी0 आर0 पाण्डे	आचार्य, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ
प्रो. प्रभुनाथ द्विवेदी	आचार्य, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रो. सोमनाथ नेने	आचार्य, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रो. यू0 पी0 सिंह	आचार्य, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रो. आर0 सी0 पाण्डा	आचार्य, विद्याधर्म विज्ञान संकाय (बी0एच0यू0)
डॉ0 राममूर्ति चतुर्वेदी	रीडर, काशी विद्यापीठ
डॉ0 अच्छे लाल	प्रवक्ता, संस्कृत, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

सम्पादक

प्रो0 मुरली मनोहर पाठक	आचार्य, संस्कृत विभाग, पं0 दीनदयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर
डॉ0 राजेश्वर शास्त्री मुसलगांवकर	विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

लेखक

प्रो0 पी0 डी0 सिंह	अध्यक्ष, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्य-सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना, मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से **विनय कुमार, कुलसचिव** द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित 2023.

मुद्रक : के. सी. प्रिन्टिंग एण्ड एलाइड वर्क्स, पंचवटी, मथुरा- 281003.

खण्ड- परिचय

इकाई - में प्रत्यय प्रकरण के अन्तर्गत कृदन्त तथा तद्धित प्रकरण का सामान्य परिचय दिया गया है। इकाई-5 में समास का सामान्य परिचय दिया गया है।

इकाई - ४ प्रत्यय प्रकरण

इकाई की रूपरेखा

४.१ कृदन्त प्रकरण

४.१.१ कृत्य प्रत्यय

४.१.२ पूर्व कृदन्तम्

४.२ तद्धित प्रकरण

खण्ड - २

इकाई- ३

कृदन्त, तद्धित प्रकरण

(केवल प्रकृति-प्रत्यय निरूपण)

****

४.१ कृदन्त-प्रकरण

४.१.१ कृत्य-प्रत्यय

शब्द (पद)	प्रकृति	प्रत्यय	सूत्र	अर्थ
एधितव्यम्	√एध्	तव्य	तव्यत्–तव्यानीयर:	भाव
एधनीयम्	√एध्	अनीयर्	तव्यत्–तव्यानीयर:	भाव
चेतव्य:	√चि	तव्य	तव्यत्–तव्यानीयर:	कर्म
चयनीय:	√चि	अनीयर्	तव्यत्–तव्यानीयर:	कर्म
पचेलिमा:	√पच्	केलिमर्	वा० केलिमर उपसंख्यानम्	कर्म
पक्तव्या:	√पच्	तव्यत्	तव्यत्–तव्यानीयर:	कर्म
भिदेलिमा:	√भिद्	केलिमर्	वा० केलिमर उपसंख्यानम्	कर्म
भेत्तव्या:	√भिद्	तव्यत्	तव्यत्–तव्यानीयर:	कर्म
स्नानीयम्	√स्ना	अनीयर्	कृत्य-ल्युटो बहुलम्	करण
दानीय:	√दा	अनीयर्	कृत्यल्युटो बहुलम्	सम्प्रदान
चेयम्	√चिञ्	यत्	अचो यत्	कर्म
देयम्	√दा	यत्	अचो यत्	कर्म
ग्लेयम्	√ग्लै	यत्	अचो यत्	भाव
शप्यम्	√शप्	यत्	पोरदुपधात्	भाव
लभ्यम्	√लभ्	यत्	पोरदुपधात्	कर्म
इत्य:	√इण्	क्यप्	एति-स्तु-शास् -वृ-दृ-जुष: क्यप्	भाव
स्तुत्य:	√स्तु	क्यप्	एति-स्तु-शास् -वृ-दृ-जुष: क्यप्	भाव
शिष्य:	√शास्	क्यप्	एति-स्तु-शास् -वृ-दृ-जुष: क्यप्	कर्म
वृत्य:	√वृ	क्यप्	एति-स्तु-शास् -वृ-दृ-जुष: क्यप्	भाव

आदृत्यः	आङ् √दृ	क्यप्	एति-स्तु-शास् -वृ-दृ-जुषः क्यप्	भाव
जुष्यः	√जुष्	क्यप्	एति-स्तु-शास् -वृ-दृ-जुषः क्यप्	भाव
मृज्यः	√मृज्	क्यप्	मृजेर्विभाषा	कर्म
कार्यम्	√कृ	ण्यत्	ऋहलोर्ण्यत्	कर्म
हार्यम्	√हृ	ण्यत्	ऋहलोर्ण्यत्	कर्म
धार्यम्	√धृ	ण्यत्	ऋहलोर्ण्यत्	कर्म
मार्ग्यः	√मृज्	ण्यत्	ऋहलोर्ण्यत्	कर्म
भोग्यम्	√भुज्	ण्यत्	ऋहलोर्ण्यत्	कर्म

४.१.२ पूर्वकृदन्तम्

शब्द (पद)	प्रकृति	प्रत्यय	सूत्र	अर्थ
कारकः	√कृ	ण्वुल्	ण्वुलतृचौ	कर्ता
कर्ता	√कृ	तृच्	ण्वुलतृचौ	कर्ता
नन्दनः	√नन्द् (ण्यन्त)	ल्यु	नन्दिग्रहिपचाऽऽदिभ्यो ल्युणिन्यचः	कर्ता
जनार्दनः	जन + अर्दि	ल्यु	नन्दिग्रहिपचाऽऽदिभ्यो ल्युणिन्यचः	कर्ता
लवणः	√लू	ल्यु	नन्दिग्रहिपचाऽऽदिभ्यो ल्युणिन्यचः	कर्ता
पचः	√पच्	अच्	नन्दिग्रहिपचाऽऽदिभ्यो ल्युणिन्यचः	कर्ता
नदः	√नन्दि्	अच्	नन्दिग्रहिपचाऽऽदिभ्यो ल्युणिन्यचः	कर्ता
चोरः	√चुर्	अच्	नन्दिग्रहिपचाऽऽदिभ्यो ल्युणिन्यचः	कर्ता
ग्राही	√ग्रह्	णिनि	नन्दिग्रहिपचाऽऽदिभ्यो ल्युणिन्यचः	कर्ता
स्थायी	√स्था	णिनि	नन्दिग्रहिपचाऽऽदिभ्यो ल्युणिन्यचः	कर्ता
मन्त्री	√मन्त्र	णिनि	नन्दिग्रहिपचाऽऽदिभ्यो ल्युणिन्यचः	कर्ता
उष्णभोजी	उष्ण उपपद √भुज्	णिनि	सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये	ताच्छील (स्वभाव)
दर्शनीयमानी	दर्शनीय सुबन्त उपपद √मन्	णिनि		मनःआत्मान
पण्डितमानी	पण्डितम् सुबन्त उपपद √मन्	णिनि		मनः आत्मान
सोमयाजी	करण उपपद √यज्	णिनि	करणे यजः	भूतकाल में कर्ता अर्थ
अग्निष्टोमयाजी	√यज्	णिनि	करणे यजः	कर्ता
बुधः	√बुध्	क	इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः	भाव
कृशः	√कृ	क	इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः	भाव
ज्ञः	√ज्ञा	क	इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः	भाव
प्रियः	√प्री	क	इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः	भाव
किरः	√कॄ	क	इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः	भाव
प्रज्ञः	प्र √ज्ञा	क	आतश्चोपसर्गे	भाव
सुग्लः	सु √ग्लै	क	आतश्चोपसर्गे	भाव
गृहम्	√ग्रह्	क	गेहे कः	गेह
गोदः	गो +√दा	क	आतोऽनुपसर्गे कः	कर्ता
धनदः	धन+√दा	क	आतोऽनुपसर्गे कः	कर्ता

कम्बलदः	कम्बल+√दा	क	आतोऽनुपसर्गे कः	कर्ता
मूल विभुजः	मूल+वि √भुज्	क	वा०मूलविभुजाऽऽदिभ्यः कः	कर्ता
महीध्रः	महीन+√धृ	क	वा०मूलविभुजाऽऽदिभ्यः कः	कर्ता
कुध्रः	कु+√धृ	क	वा०मूलविभुजाऽऽदिभ्यः कः	कर्ता
कुम्भकारः	कुम्भ कर्म उपपद √कृ	अण्	कर्मण्यण्	कर्ता
कुरुचरः	कुरु +√चर्	ट	चरेष्टः	
भिक्षाचरः	भिक्षा उपपद √चर्	ट	भिक्षासेनाऽऽदायेषु च	
सेनाचरः	सेना उपपद √चर्	ट	भिक्षासेनाऽऽदायेषु च	
आदायचरः	आदाय उपपद √चर्	ट	भिक्षासेनाऽऽदायेषु च	
शब्द (पद)	**प्रकृति**	**प्रत्यय**	**सूत्र**	**अर्थ**
यशस्करी	यशस् +√कृ	ट	कृञो हेतु-ताच्छील्याऽऽ-नुलोम्येयु	हेतु अर्थ में
श्राद्धकरः	श्राद्धनं +√कृ	ट	,,	ताच्छील्य अर्थ (स्वभाव)
वचनकरः	वचन +√कृ	ट	,,	आनुलोम्य
जनमेजयः	जन +√एज् (ण्यत्)	खश्	एजे खश्	संज्ञा अर्थ
पण्डितं मन्यः	पण्डित उपपद √मन्	खश्	आत्ममाने खश्च	स्वकर्मक मनन् अर्थ
कालिंमन्या	काली उपपद √मन्	खश्	आत्ममाने खश्च	स्वकर्मक मनन् अर्थ
पारदृश्वा	पार+√दृश्	क्वनिप्	दृशेः क्वनिप्	भूतकाल में कर्ता अर्थ में
राजयुध्वा	राजन् कर्म उपपद √युध् (अन्तवितण्यर्थ)	क्वनिप्	राजनियुधि कृञः	
राजकृत्वा	राजन् कर्म उपपद √कृ	क्वनिप्	राजनि युधि कृञः	कर्ता अर्थ में
सहयुध्वा	सह उपपद √युध् (अन्तवितण्यर्थ)	क्वनिप्	सहे च	
सहकृत्वा	सह उपपद √कृ	क्वनिप्	सहे च	
सरसिजम् सरोजम्	सरसि उपपद √जन्	ड	सप्तम्यां जनेर्डः	
प्रजा	प्र उपसर्ग √जन्	ड	उपसर्गे च संज्ञायाम् (संज्ञा सन्तति)	
स्नातं	√स्ना	क्त (निष्ठा)	भाव और कर्म (भूतकाल में) निष्ठा	
स्तुतः	√स्तु	क्त (निष्ठा)	भाव और कर्म	
कृतवान्	√कृ	क्तवतु (तवत्)	निष्ठा	कर्ता
शीर्णः	√शॄ	क्त	निष्ठा	कर्म
भिन्नः	√भिद्	क्त	निष्ठा	कर्म

छिन्नः	√छिद्	क्त	निष्ठा	कर्म एवं भाव
द्राणः	√द्रा	क्त	निष्ठा	कर्म एवं भाव
ग्लानः	√ग्लै	क्त	निष्ठा	कर्म
लूनः	√लूञ्	क्त	निष्ठा	कर्म
जीनः	√ज्या	क्त	निष्ठा	भाव
भुग्नः	√भुजो	क्त	निष्ठा	भाव
उच्छूनः	उद् उपसर्ग, श्वि	क्त	निष्ठा	भाव
शुष्कः	√शुष्	क्त	निष्ठा	भाव
पक्वः	√पच्	क्त	निष्ठा	भाव
क्षामः	√क्षै	क्त	निष्ठा	भाव
भावितः	√भू ण्यन्तभावि	क्त	निष्ठा	भाव
भावितवान्	√भू ण्यन्तभावि	क्तवतु	निष्ठा	भाव
दृढः	√दृढ्	क्त	निष्ठा	कर्ता स्थूल और बलवान्
हितम्	√धा	क्त	निष्ठा	भाव
दत्तः	√दा	क्त	निष्ठा	कर्म
चक्राणः	√कृ	कानच्	लिटः कानज् वा	वैदिक लिट् स्थानिक काल अर्थ
जगन्वान्	√गम्	क्वसु	क्वसुश्च	वैदिक लिट् के स्थान में कारण वाचक
जग्मुषः				
पचन्तं	√पच्	शतृ	लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे	वर्तमान काल में अप्रथमा समानाधिकरण अर्थ
पचमानं	√पच्	शानच	,,	,,
सन्	√अस्	शतृ	,,	प्रथमा समानाधिकरण
विद्वान्	√विद्	शतृ के स्थान में वसु	विदेः शतुर्वसुः।	
करिष्यन्तं	√कृ	शतृ	लृटः सद् वा	भविष्यत काल में
करिष्यमाणं	√कृ	शानच्	,, लृटः सद् वा	भविष्यत काल में
कर्ता कटान्	√कृ	तृन्	तृन्	तच्छील अर्थ में
जल्पाकः	√जल्प्	षाकन्	जल्प-भिक्ष-कुट्ट-लुण्ट वृङः षाकन्	तच्छील, तद्धर्म, तत्साधुकारी कर्ता
शब्द (पद)	**प्रकृति**	**प्रत्यय**	**सूत्र**	**अर्थ**
भिक्षाकः	√भिक्ष्	षाकन्	,, ,,	
कुट्टाकः	√कुट्ट	षाकन्	,, ,,	,, ,, ,,
लुण्टाकः	√लुण्ट	षाकन्	,, ,,	,, ,, ,,
दराकः	√वृङ्	षाकन्	,, ,,	,, ,, ,,
चिकीर्षुः	सनन्त √चिकीर्ष √कृ	उ	सनाशंसभिक्ष उः	

आशंसुः	आङ् √शंस्	उ	सनाशंसभिक्ष उः	,, ,, ,,
भिक्षुः	भिक्ष्	उ	सनाशंसभिक्ष उः	,, ,, ,,
विभ्राट्	वि √भ्राज्	क्विप्	भ्राज-भास-धुर्वि-द्युतोर्जि-पॄजु-ग्रावस्तुवः क्विप्	तच्छील कर्ता
भाः	√भास्	क्विप्	,,	,, ,,
धूः	√धुर्व्	क्विप्	,,	,, ,,
विद्युत्	वि √द्युत्	क्विप्	,,	,, ,,
ऊर्क्	√ऊर्ज्	क्विप्	,,	,, ,,
पूः	√पॄ	क्विप्	,,	,, ,,
जूः	√जु	क्विप्	,,	,, ,,
ग्रावस्तुत्	ग्राव √स्तु	क्विप्	,,	,, ,,
वाक्	√वच्	क्विप्	वा० क्विव्वचि-प्रच्छ्यायतस्तु-कटप्रु-जुश्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च	,, ,,
प्राट्	√प्रच्छ्	क्विप्	,, ,,	तच्छील कर्ता
आयतस्तूः	√स्तु	क्विप्	,,	तच्छील कर्ता प्रु
कटप्रः	कट √प्रु	क्विप्	,,	
श्रीः	√श्रि	क्विप्	,,	
दात्रम्	√दा	ष्ट्रन्	दाम्नी-शस-यु-युज-स्तु-तुद-सि-सिच-मिह-पत-दश-नहः करणे	करण कारक में
शब्द (पद)	**प्रकृति**	**प्रत्यय**	**सूत्र**	**अर्थ**
नेत्रम्	√नी	ष्ट्रन्	,,	,, ,,
शस्त्रम्	√शस्	ष्ट्रन्	,,	,, ,,
योत्रम्	√यु	ष्ट्रन्	,,	,, ,,
योक्त्रम्	√युज्	ष्ट्रन्	,,	,, ,,
स्तोत्रम्	√स्तु	ष्ट्रन्	,,	,, ,,
तोत्त्रम्	√तुद्	ष्ट्रन्	,,	,, ,,
सेत्रम्	√सि	ष्ट्रन्	,,	,, ,,
सेक्त्रम्	√सिच्	ष्ट्रन्	,,	,, ,,
मेढ्रम्	√मिह्	ष्ट्रन्	,,	,, ,,
पत्त्रम्	√पत्	ष्ट्रन्	,,	,, ,,
दंष्ट्रा	√दंश्	ष्ट्रन्	,,	,, ,,
नध्री	√नह्	ष्ट्रन्	,,	,, ,,
अरित्रम्	√ऋ	इत्र	अर्ति-लू-धू-सू-खन-सह-चर इत्रः	
लवित्रम्	√लू	इत्र	,,	
धवित्रम्	√धू	इत्र	,,	

खानत्रम्	√खन्	इत्र	,,	
सहित्रम्	√सह्	इत्र	,,	
चरित्रम्	√चर्	इत्र	,,	
पवित्रम्	√पू	इत्र	पुवः संज्ञायाम् करणकारक में संज्ञा अर्थ	

४.१.३ उत्तरकृदन्त

द्रष्टुम्	√दृश्	तुमुन्	तुमुन्-ण्वुलौ कियायां क्रियाऽर्थायाम्	भविष्यत् अर्थ में भाव
दर्शकः	√दृश्	ण्वुल्	,,	,,
भोक्तुम्	√भुज्	तुमुन्	कालसमयवेलासृ तुमुन्	भाव सु
शब्द (पद)	**प्रकृति**	**प्रत्यय**	**सूत्र**	**अर्थ**
पाकः	√पच्	घञ्	भावेः	भाव सिद्धावस्थापन्न
रागः	√रञ्ज्	घञ्	अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्	करणकारक में
निकायः	नि पूर्वक √चिञ्	घञ्	निवास-चिति-शरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः	निवास
कायः	√चिञ्	घञ्	,,	शरीर
गोमय निकायः	नि √चिञ्	घञ्	,,	राशीकरण (ढेर लगाना)
अवतारः	अव √स्तृ	घञ्	अवे तृस्त्रोर्घञ्	अधिकरण कारक पुल्लिंग संज्ञा
अवस्तारः	अव √स्तृ	घञ्	,,	करण कारक
रामः	√रम्	घञ्	हलश्च	अधिकरण कारक
अपामार्गः	अप √मृज्	घञ्	हलश्च	करण कारक
चयः	√चि	अच्	एरच्	भाव
जयः	√जि	अच्	एरच्	भाव
करः	√कृ	अप्	ऋदोरप्	भाव
गरः	√गृ	अप्	ऋदारप्	भाव
यवः	√यु	अप्	,,	,,
लवः	√लू	अप्	,,	,,
स्तवः	√स्तु	अप्	,,	,,
पवः	√पू	अप्	,,	,,
प्रस्थः	प्रपूर्वक √स्था	क	वा० घञर्थे क-विधानम्	अधिकरण
विघ्नः	वि पूर्वक √हन्	क	,,	,,
पक्त्रिमम्	√पच्	क्त्रि	ड्वितः क्त्रिः	भाव
		मप्	क्त्रेर्मम् नित्यम्	निर्वृत्त
उप्त्रिमम्	√डुवप्	क्त्रि	ड्वितः क्त्रिः	
		मप्	क्त्रेर्मम् नित्यम्	निर्वृत्त
वेपथुः	√टुवेप्	अथुच्	ट्वितोऽथुच्	भाव
शब्द (पद)	**प्रकृति**	**प्रत्यय**	**सूत्र**	**अर्थ**

श्वयथुः	टुओश्वि	अथुच्	,,	,,
नन्दथुः	√टुनदि	अथुच्	,,	,,
स्फुर्जथुः	टुओस्फूर्ज	अथुच्	,,	,,
यज्ञः	√यज्	नङ्	यज-याच-यत-विच्छ-प्रच्छ-रक्षो नङ्	भाव
याच्ञा	√याच्	नङ्	,,	,,
यत्नः	√यत्	नङ्	यज-याच-यत-विच्छ-प्रच्छ रक्षो नङ्	भाव
विश्नः	√विच्छ्	नङ्	,,	,,
प्रश्नः	√प्रच्छ्	नङ्	,,	,,
रक्ष्णः	√रक्ष्	नङ्	,,	,,
स्वप्नः	√स्वप्	नन्	स्वपो नन्	,,
प्रधिः	प्र पूर्वक घु संज्ञक √धा	कि	उपसर्गे घोः किः	,, ,,
उपधिः	उप पूर्वक √धा	कि	,,	,,
व्याधिः	वि √धा	कि	,,	,,
आधिः	आङ् √धा	कि	,,	,,
समाधिः	सम् + आ√धा	कि	,,	भाव व अधिकरण संज्ञा
जलधिः	जल+√धा	कि	,,	,,
विधिः	वि √धा	कि	,,	,,
सन्धिः	सम् √धा	कि	,,	,,
निधिः	नि √धा	कि	,,	,,
अभिसन्धिः	√धा	कि	,,	,,
कृतिः	√कृ	क्तिन्	स्त्रियां क्तिन्	स्त्रीलिङ्ग भाव में
स्तुतिः	√स्तु	क्तिन्	,,	,,
कीर्णिः	√कॄ	क्तिन्	,,	,,
लूनिः	√लू	क्तिन्	,,	,,
धूनिः	√धू	क्तिन्	,,	,,
पूनिः	√पू	क्तिन्	,,	,,
सम्पत्तिः	सम् √पद्	क्तिन्	वा० संपदादिभ्यः क्विप्	स्त्रीभाव तथा कर्ता भिन्न कारक
विपत्तिः	वि √पद्	क्तिन्	,,	,, ,,
आपत्तिः	आङ् √पद्	क्तिन्	,,	,, ,,
सम्पद्	सम् √पद्	क्विप्	,,	,, ,,
विपद्	वि √पद्	क्विप्	,,	,, ,,
आपद्	आ √पद्	क्विप्	,,	,, ,,
ऊति	√अव्	क्तिन्	,,	भाव ,,
चिकीर्षा	√कृ सन्नन्त	अ	अप्रत्ययात्	,, ,,

पुत्रकाम्या	पुत्रकाम्य	अ	अ प्रत्ययात्	,, ,,
ईहा	√ईह्	अ	गुरोश्च हल:	,, ,,
कारणा	ण्यन्त √कृ	युच्	ण्यासश्रन्थो युच्	,, ,,
हारणा	√छ	युच्	,,	,, ,,
आसना	√आस्	युच्	ण्यास-ग्रन्थो युच्	,, ,,
श्रन्थना	√श्रन्थ्	युच्		
ईषत्पान: सुख	ईषत् उपपद√पा	युच्	आतो युच्	अकृच्छ्रार्थक
दुष्पान: दु:ख	दुस् उपपद√पा		युच्	,,कृच्छार्थक
सुपान:	सु+उपपद√पा युच्		,,	सुखार्थक
हसितम्	√हस्	क्त	नपुंसके भावे क्त:	नपुंसकभाव में
हसनम्	√हस्	ल्युट्	ल्युट् च	,,
दन्तच्छद:	दन्त उपपद ण्यन्त √छादि	घ	पुंसि संज्ञायां घ: प्रायेण	करण कारक पुल्लिंग में
आकर:	आपूर्वक √कृ	घ	,,	अधिकरण कारक पुल्लिंग संज्ञा
शब्द (पद)	**प्रकृति**	**प्रत्यय**	**सूत्र**	**अर्थ**
दुष्कर:	दुस् √कृ	खल्	ईषद् दुस्सुषु कृच्छ्राऽ-कृच्छ्रार्थेषु खल्	कृच्छ्र (दु:ख) कर्म में
ईषत्कर:	ईषत् √कृ	खल्	,,	सरल अर्थ (अकृच्छ)
सुकर:	सु √कृ	खल्	,,	,, ,,
अलं दत्वा	√दा	क्त्वा	अलं-खल्वो-प्रतिषेधयो: प्राचां क्त्वा	प्रतिषेधार्थक अलं उपपद में
पीत्वा खलु	√पा	क्त्वा	,,	
भुक्त्वा	√भुज्	क्त्वा	समान-कर्तृकयो: पूर्वकाले	पूर्वकालिक क्रिया में
शयित्वा	√शी	क्त्वा	,,	,, ,,
द्युतित्वा	√द्युत्	क्त्वा	,,	,, ,,
द्योतित्वा	√द्युत्	,,	,,	,, ,,
लिखित्वा	√लिख्	क्त्वा	,,	,, ,,
लेखित्वा	√लिख्	,,	,,	,, ,,
वर्तित्वा	√वृत्	क्त्वा	,,	,, ,,
शमित्वा	√शमु	क्त्वा	,,	,, ,,
शान्त्वा	√शमु	क्त्वा	,,	,, ,,
देवित्वा	√दिव्	क्त्वा	,,	,, ,,
द्यूत्वा	√दिव	क्त्वा	,,	,, ,,
हित्वा	√धा	क्त्वा	,,	,, ,,

प्रकृत्य	प्र √कृ	क्त्वा के स्थान में ल्यप्	समासेनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्	,, ,,
स्मारं स्मारं	√स्मृ	णमुल्	आभीक्ष्ये णमुल् च	बार-बार होना अर्थ में
पायं पायम्	√पा	णमुल्	,,	,,
भोजं भोजम्	√भुज्	णमुल्	,,	,,
श्रावं श्रावम्	√श्रु	णमुल्	,,	,,
अन्यथाकारम्	√कृ	णमुल्	अन्यथैवं-कथम्-इत्थंसु सि-द्धाऽप्रयोगश्चेत्	सिद्धा प्रयोग अर्थ में
शब्द (पद)	**प्रकृति**	**प्रत्यय**	**सूत्र**	**अर्थ**
एवंकारम्	√कृ	णमुल्	,, ,,	,, ,,
इत्थं कारम्	√कृ	णमुल्	,, ,,	,, ,,

४.१.४ स्त्रीप्रत्यय

शब्द (पद)	प्रकृति	प्रत्यय	सूत्र	अर्थ
अजा	अज	टाप्	अजाऽऽद्यतष्टाप्	स्त्रीत्व विवक्षा
एडका	एडक	टाप्	,,	,,
अश्वा	अश्व	टाप्	,,	,,
चटका	चटक	टाप्	,,	,,
मूषिका	मूषक	टाप्	,,	,,
बाला	बाल	टाप्	,,	,,
वत्सा	वत्स	टाप्	,,	,,
होडा	होड	टाप्	,,	,,
मन्दा	मन्द	टाप्	,,	,,
बिलाता	बिलात	टाप्	,,	,,
सर्वा	सर्व	टाप्	,,	,,
भवन्ती	भवत्	ङीप्	उगितश्च	,,
पचन्ती	पचत्	ङीप्	,,	,,
दीव्यन्ती	दीव्यत्	ङीप्	,,	,,
कुरुचरी	कुरुचर	ङीप्	टिड्-ढाणञ्-अञ्-द्वयसच्-दघ्नञ्-मात्रच्-तयप्-ठक् ठञ् कञ् क्वरप:	स्त्रीत्व विवक्षा
नदी	नदट्	ङीप्	,,	,,
देवी	देवट्	ङीप्	,,	,,
सौपर्णेयी	ढ प्रत्ययान्त सौपर्णेय		ङीप्	,,
ऐन्दी	ऐन्द्री	ङीप्	,,	,,
औत्सी	औत्स	ङीप्	,,	,,
शब्द (पद)	**प्रकृति**	**प्रत्यय**	**सूत्र**	**अर्थ**

ऊरुद्वयसी	ऊरुद्वयस	ङीप्	,,	,,
ऊरुमात्री	ऊरुमात्र	ङीप्	,,	,,
ऊरुदघ्नी	ऊरुदघ्न	ङीप्	,,	,,
पञ्चतयी	पञ्चतय	ङीप्	,,	,,
आक्षिकी	आक्षिक	ङीप्	,,	,,
प्रास्थिकी	प्रास्थिक	ङीप्	,,	,,
लावणिकी	लावणिक	ङीप्	,,	,,
यादृशी	यादृश	ङीप्	,,	,,
इत्वरी	इत्वर	ङीप्	,,	,,
स्त्रैणी	स्त्रैण	ङीप्	वा० नञ-स्नञ् -ईकक्-ख्युन्- तरुण तुलनानाम् उपसंख्यानम् ,,	
पौस्नी	पौंस्न	ङीप्	,,	,,
शाक्तीकी	शाक्तिक	ङीप्	,,	,,
आढ्यङ्करणी	आढ्यङ्करण	ङीप्	,,	,,
तरुणी	तरुण	ङीप्	,,	,,
तलुनी	तलुन	ङीप्	,,	,,
गार्गी	गार्ग्य	ङीप्	यञश्च	,,
कुमारी	कुमार	ङीप्	वयसि प्रथमे	कौमारावस्था के स्त्रीलिङ्ग में
त्रिलोकी	त्रिलोक	ङीप्	द्विगोः	स्त्रीत्व विवक्षा
एनी	एत	ङीप्	वर्णाद् अनुदात्तात् तोपधात्,तो नः ,,	,,
रोहिणी	रोहित	ङीप्	,,	,, ,,
सूर्या	सूर्य	चाप्	वा० सूर्याद् देवतायां चाप् वाच्यः	देवता रूप स्त्री अर्थ में पुंयोग में
गार्ग्यायणी	गार्ग्यायण	ङीष् से एफ प्रत्ययान्त	प्राचां ष्फ तद्धितः षिद्-गौराऽऽदिभ्यश्च	षित् प्रत्यान्त से स्त्रिलिङ्ग में
नर्तकी	नर्तक	ङीष्	षिद्-गौराऽऽदिभ्यश्च	,, ,,
गौरी	गौर	ङीष्	षिद्-गौराऽऽदिभ्यश्च	स्त्री अर्थ में

शब्द (पद)	**प्रकृति**	**प्रत्यय**	**सूत्र**	**अर्थ**
अनड्वाही	अनडुह्	ङीष्	,, ,,	,, ,,
अनडुही	अनुडुह्	ङीष्	,, ,,	,, ,,
मृद्वी	मृदु	ङीष्	वोतो गुण-वचनात्	
बह्वी	बहु	ङीष्	बह्वदिभ्यश्च	
रात्री	रात्रि	ङीष्	ग०सू०कृद् इकाराद् अक्तिनः	
शकटी/	शकटि	ङीष्	ग०सू० सर्वतोऽक्तिन्नर्थाद् इति एके	
गोपी	गोप	ङीष्	पुंयोगाद् आख्याम्	पुंयोग में स्त्रिलिङ्ग में
शूद्री	शूद्र	ङीष्	,,	,, ,,
सूरी	सूर्य	ङीष्	,,	,, ,,
इन्द्राणी	इन्द्र	ङीष् तथा	इन्द्र-वरुण-भव-शर्व-रुद्र-मृड-,,	,,

		इन्द्र को आनुक् हिमाऽरण्य-यव-यवन मातुला-ऽऽचर्याणाम् आनुक्		
वरुणानी	वरुण	ङीष् आनुक्	,,	,,
भवानी	भव	ङीष् आनुक्	,,	,,
शर्वाणी	शर्व	ङीष् आनुक्	,,	,,
रुद्राणी	रुद्र	ङीष् आनुक्	,,	,,
मृडानी	मृड	ङीष् आनुक्	,,	,,
हिमानी	हिम	ङीष् आनुक्	वा०हिमाऽरण्ययोर्महत्त्वे	महत्त्व अर्थ में (अधिकता)
अरण्यानी	अरण्य	ङीष् आनुक्	,,	,,
यवानी	यव	ङीष् आनुक्	वा० यावद् दोषे	दोष अर्थ में (दोषयुक्त)
यवनानी	यवन	ङीष् आनुक्	वा० यवनात् लिप्याम्	लिपि अर्थ में
		ङीष् आनुक्	इन्द्र-वरुण-भव-शर्व०	पुंयोग अर्थ में
मातुलानी	मातुल	ङीष् आनुक्	पुंयोगाद् आख्यायाम्	,, स्त्री
मातुली	,,	ङीष् आनुक्	,,	मातुल की स्त्री (मामी)
उपाध्यायानी	उपाध्याय	ङीष् आनुक्	पुंयोगाद् आख्यायाम्	उपाध्याय की स्त्री
उपाध्यायी	,,	ङीष् आनुक्		,, ,,
शब्द (पद)	**प्रकृति**	**प्रत्यय**	**सूत्र**	**अर्थ**
आचार्यानी	आचार्य	ङीष् आनुक्		आचार्य की स्त्री अर्थ
अर्याणी	अर्य	ङीष् आनुक्	वा०अर्य क्षत्रियाभ्यां वा स्वार्थे	स्वार्थ अर्थ में स्त्रीलिङ्ग
अर्यी	अर्य	ङीष् आनुक्	पुंयोगाद् आख्यायाम्	पुंयोग में स्त्रीलिङ्ग
क्षत्रियाणी	क्षत्रिय	ङीष् आनुक्	वा०अर्य क्षत्रियाभ्यां वा स्वार्थे,	स्वार्थ अर्थ में स्त्रीलिङ्ग
क्षत्रियी	क्षत्रिय	ङीष् आनुक्	पुंयोगाद् आख्यायाम्	पुंयोग अर्थ में स्त्रीलिङ्ग
वस्त्रक्रीती	करणकारक उपपद	ङीष् आनुक्	क्रीतात् करण-पूर्वात्	स्त्रीत्व विवक्षा में
अतिकेशी	अतिकेश	ङीष्	स्वाङ्गाच् चोपसर्जनाद् अ संयोगोपधात्	स्वाङ्गवाची स्त्रीत्व विवक्षा
चन्द्रमुखी	चन्द्रमुख	ङीष्	,,	,, ,,
ताम्रमुखी	चन्द्रमुख	ङीष्	,,	,, ,,
तटी	तट	ङीष्	जातेरस्त्रीविषयाद् अ योपधात्,	जातिवाचक से स्त्रीत्व विवक्षा में
वृषली	वृषल	ङीष्	,, ,,	,, ,,
कठी	कठ	ङीष्	,, ,,	,, ,,
बहवृची	वहवृच	ङीष्	,,	,, ,,
औपगवी	औपगव	ङीष्	,,	,, ,,
हयी	हय	ङीष्	वा०योपध-प्रतिषेधे हय-गवय	जातिवाचक

			मुकय-मनुष्य-मत्स्यानाम् अप्रतिषेधः	योपध से स्त्री अर्थ में
गवयी	गवय	ङीष्	,,	,, ,,
मुकथी	मुकय	ङीष्	,,	,, ,,
मनुषी	मनुष्य	ङीष्	,,	,, ,,
मानुषी	मनुष्य	ङीष्	,,	,, ,,
मत्सी	मत्स्य	ङीष्	,,	,, ,,

शब्द (पद)	**प्रकृति**	**प्रत्यय**	**सूत्र**	**अर्थ**
दाक्षी	दाक्षि	ङीष्	इतो मनुष्य जाते:	मनुष्य जातिवाचक से स्त्रीलिङ्ग में
शार्ङ्गरवी	शार्ङ्गरव	ङीन्	शार्ङ्गरवाऽऽद्यञो ङीन्	जातिवाचक से स्त्रीलिङ्ग में
वैदी	वैद	ङीन्	,,	ब्राह्मणजातीया स्त्री
ब्राह्मणी	ब्राह्मण	ङीन्	,,	स्त्री अर्थ में
नारी	नृ या नर	ङीन्	नृ-नरयोर्वृद्धिश्च	स्त्रीलिङ्ग
युवति	युवन्	ति	यूनस्तिः	,,
त्रिफला	त्रिफल	टाप्	अजाऽऽद्यतष्टाप्	,,
त्र्यनीका	त्र्यनीक	टाप्	,,	,,
एता	एत	टाप्	,,	,,
रोहिता	रोहित	टाप्	,,	,,
गोपालिका	गोपालक	टाप्	,,	,,
अश्वपालिका	अश्वपालक	टाप्	,,	,,
सर्विका	सर्वक	टाप्	,,	,,
कारिका	कारक	टाप्	,,	,,
नौका	नौक	टाप्	,,	,,
परिव्राजका	परिव्राजक	टाप्	,,	,,
शका	शक	टाप्	,,	स्त्रीत्व विवक्षा
अर्या	अर्य	टाप्	अजाऽऽद्यतष्टाप्	,,
क्षत्रिया	क्षत्रिय	टाप्	,,	,,
धनक्रीता	धनक्रीत	टाप्	,,	,,
अतिकेशा	अतिकेश	टाप्	,,	,,
चन्द्रमुखा	चन्द्रमुख	टाप्	,,	,,
सुगुल्फा	सुगुल्फ	टाप्	,,	,,
सुशिखा	सुशिख	टाप्	,,	,,
कल्याणक्रोडा	कल्याणक्रोड	टाप्	,,	,,
सुजघना	सुजघन	टाप्	,,	,,

शूर्पणखा	शूर्पनख	टाप्	,,	,,
गौरमुखा	गौरमुख	टाप्	,,	,,
कुरूः	कुरु	ऊङ्	ऊङ् उतः	मनुष्यजातिवाचक स्त्रिलिङ्ग में
पङ्गुः	पङ्गु	ऊङ्	पङ्गोश्च	,,
श्वश्रूः	श्वशुर	ऊङ्	वा० श्वशुरस्योकाराऽकार-लोपश्च श्वसुर की स्त्री	
करभोरूः	करभोरु	ऊङ्	ऊरूत्तरपदाद् औपम्ये	स्त्रीत्व
संहितोरूः		ऊङ्	संहित-शफ-लक्षण वामाऽऽदेश्च	,,
शफोरूः		ऊङ्	,,	,,
लक्षणोरूः		ऊङ्	,,	,,
वामोरूः		ऊङ्	,,	,,

××*×*×*×*×*

४.२ तद्धित प्रकरण

साधारण प्रत्यय (केवल प्रकृति प्रत्यय)

शब्द -आश्वपतम्, प्रकृति-अश्व, प्रत्यय-अण्

लौ०वि०- अश्वपतेः अपत्यम्

अलौ०वि०-अश्वपति ङस् + अण्

अश्वपत्यादिभ्यश्च-प्राग्दीत्यतीय अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय।

शब्द- दैत्यः, प्रकृति-दिति, प्रत्यय-ण्य

लौ०वि०-दितेः अपत्यम्

अलौ०वि०-दिति ङस् ण्य

शब्द- आदित्यः, प्रकृति- अदिति, प्रत्यय-ण्य

लौ०वि०- अदितेः अपत्यम्,

अलौ०वि०-अदिति ङस् + ण्य

शब्द-प्राजापत्यः, प्रकृति- प्रजापति, प्रत्यय- ण्य

लौ०वि०- प्रजापतेः अपत्यम्

अलौ०वि०-प्रजापति ङस् + ण्य

शब्द-दैवम्, प्रकृति-देव, प्रत्यय-अञ्

लौ०वि०- देवस्य अपत्यम्,

अलौ०वि०-देव ङस् + यञ् वा अञ्,

वा० देवाद् यञ् अञौ—

शब्द-बाह्यः, प

लौ०वि०– बहिर्भवः (विभक्ति नहीं लगेगी; क्योंकि अव्यय पद है)

अलौ०वि०–बहिस् + यञ्

वा० बहिषष्टि लोपो यञ् च–'तत्र भवः' इस प्राग्दीव्यतीय अर्थ में बहिस् इस अव्यय से यञ् प्रत्यय—**बहिस् यञ्** तथा टि इस् का लोप

शब्द-बाहीकः, प्रकृति-बहिस्, प्रत्यय-ईकक्

लौ०वि०– बहिर्भवः

अलौ०वि०–बहिस् ईकक्

ईकक् च–बहिस् ईकक् (टि का लोप)

बहिस् ईक । बह् ईक

शब्द- गव्यम्, प्रकृति- गो, प्रत्यय- यत्

लौ०वि०– गोः अपत्यम्

अलौ०वि०–गो ङस + यत्

'तस्या अपत्यम्'–इस प्रग्दीत्यतीय अर्थ में 'गो ङस्' सुबन्त से प्राग्दीत्यतोऽण् से अण् प्रत्यय की प्राप्ति, किन्तु अण् के अजदि होने से **'गोरजादिप्रसङ्गे यत्'**–इस वार्तिक से गो शब्द से यत् प्रत्यय—गो यत् । गो य । गव्यम् ।

शब्द-आत्सः, प्रकृति-उत्स, प्रत्यय- अञ्

लौ०वि०– उत्से भव

अलौ०वि०–उत्स ङि + अञ्

उत्साऽऽदिभ्योऽञ्–तत्र भवः

उत्स अञ् । उत्स अ

औत्सः ।

शब्द-स्त्रैणः, प्रकृति-स्त्री, प्रत्यय-नञ्

लौ०वि०– स्त्रिया अपत्यम्

अलौ०वि०–स्त्री ङस+ नञ्

स्त्री पुंसाभ्यां नञ् स्नञौ भवनात्–तस्यापत्यम् अर्थ में नञ् तद्धित प्रत्यय हुआ–

स्त्री ङस् नञ् । स्त्री ङस् नञ्

शब्द-पौंस्नः, प्रकृति-पुंस्, प्रत्यय-स्नञ्

लौ०वि०– पुंसः अपत्यम्

अलौ०वि०–पुंस् ङस् + स्नञ्

स्त्री पुसाभ्यां नञ् स्नञौ भवनात्–पुंस ङस् स्नञ् ।

पुंस ङस् स्न । पुंस स्न । पौंस् स्न।

शब्द-औपगवः, प्रकृति-उपगु, प्रत्यय-अण्

लौ०वि०– उपगोः अपत्यम्

अलौ०वि०–उपगु ङस् + अण्

प्राग्दीव्यतोऽण्–तस्यापत्यम् इस अर्थ से प्राग्दीव्यतीय अर्थ में अण् प्रत्यय उपगु ङस् अण्।

शब्द-गार्ग्यः, प्रकृति-गर्ग, प्रत्यय-यञ्

लौ०वि०– गर्गस्य गोत्रापत्यम्

अलौ०वि०–गर्ग ङस् + यञ्

गर्गाऽऽदिभ्यो यञ्–गोत्रापत्य अर्थ में यञ् प्रत्यय–

गर्ग ङस् यञ्। गर्ग ङस् य।

शब्द-वात्स्यः, प्रकृति-वत्स, प्रत्यय-यञ्

लौ०वि०– वत्सस्य गोत्रापत्यम्

अलौ०वि०–वत्स ङस् + यञ्

गर्गाऽदिभ्योयञ्–गर्ग आदि गण पठित शब्दों से गोत्रापत्य अर्थ में तद्धित संज्ञक यञ् प्रत्यय हो।

शब्द-गर्गाः, प्रकृति-गर्ग, प्रत्यय-यञ्

लौ०वि०– गर्गस्य गोत्रापत्यानि

अलौ०वि०–गर्ग ङस् + यञ्

गार्ग् य–बहुत की विवक्षा में जस् प्रत्यय गार्ग् य जस्

यञ् अञोश्च–इस सूत्र से यञ् का लोप—गार्ग् जस्

निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः–इस न्याय से अञ् प्रत्यय के कारण हुई वृद्धि का लोप गर्ग। गर्ग अस्।

प्रथमयो पूर्व सवर्णः गर्गा स् को रुत्व विसर्ग—गर्गाः।

शब्द-वत्साः, प्रकृति-वत्स, प्रत्यय-यञ्

लौ०वि०– वत्सस्य गोत्रापत्यानि

अलौ०वि०–वत्स ङस् + यञ्

शब्द-गार्ग्याक्षणः, प्रकृति-गार्ग्य, प्रत्यय-फक्

लौ०वि०—गर्गस्य युवापत्यम् (गार्ग्यापणः)

अलौ०वि०—गार्ग्य ङस् + फक्

गर्गाऽदित्य गार्ग्य।

गोत्राद् यूनि अ स्त्रियाम्–के नियम् से यञ् इञोश्च से फक् प्रत्यय–गार्ग्य फक्।

शब्द-दाक्षायणः, प्रकृति-दाक्षि, प्रत्यय-फक्

लौ०वि०– दक्षस्य युवापत्यम्

अलौ०वि०–दाक्षि ङस् + फक्

अदुकुप्वाङ्०—दाक्षायण।

शब्द-बाहविः, प्रकृति-बाहु, प्रत्यय-इञ्

लौ०वि०– बाहोः अपत्यम्

अलौ०वि०–बाहु ङस् इञ्

उड्लोमन् ङस् इञ्।

शब्द-वैदः, प्रकृति-विद, प्रत्यय-अञ्

लौ०वि०–विदस्य गोत्रापत्यम्

अलौ०वि०–विद ङस् अञ्

शब्द-पौत्रः, प्रकृति-पुत्र, प्रत्यय-अञ्

लौ०वि०– पुत्रस्य अपत्यम्

अलौ०वि०–पुत्र ङस् अञ्

अनृष्यानन्तर्ये विदाऽऽदिभ्योऽञ्–

अस्येति च–पौत्र् सु (जस्)।

शब्द-दौहित्रः, प्रकृति-दुहिष्ट, प्रत्यय-अञ्

लौ०वि०– दुहितुः अपत्यम्

अलौ०वि०–दुहितृ ङस् अञ्

शब्द-शैवः, प्रकृति-शिव, प्रत्यय-अण्

लौ०वि०– शिवस्य अपत्यम्

अलौ०वि०–शिव ङस् अण्

शिवाऽऽदिभ्योऽण्–शिव ङस् अण्

शब्द-गाङ्गः, प्रकृति-गङ्गा, प्रत्यय-अण्

लौ०वि०– गङ्गायाः अपत्यम्

अलौ०वि०–गङ्गा ङस् अण्

शिवाऽऽदिभ्योऽण्–गङ्गा ङस् अण्

शब्द-वासिष्ठः , प्रकृति-वसिष्ठ, प्रत्यय-अण्

लौ०वि०– वसिष्ठस्य अपत्यम्

अलौ०वि०–वसिष्ठ ङस् अण्

ऋष्यन्धक वृष्णि कुरुभ्यश्च–वसिष्ठ ङस् अण्

शब्द-श्वाफल्कः, प्रकृति-श्वाफल्क, प्रत्यय-अण्

लौ०वि०– श्वाफल्कस्य अपत्यम्

अलौ०वि०–श्वाफल्क ङस + अण्

शब्द-वासुदेवः, प्रकृति-वसुदेव, प्रत्यय-अण्

लौ०वि०– वसुदेवस्य अपत्यम्

अलौ०वि०–वसुदेव ङस् + अण् ।

शब्द-नाकुलः, प्रकृति-नकुल, प्रत्यय-अण्

लौ०वि०– नकुलस्य अपत्यम्

अलौ०वि०–नकुल ङस् + अण्

शब्द-द्वैमातुरः, प्रकृति-द्विमातृ, प्रत्यय-अण् तथा ऋ का उर्

लौ०वि०– द्वयोः मात्रोः अपत्यम्

अलौ०वि०–द्वि मातृ ओस् + अण् ।

शब्द-षाण्मातुरः, प्रकृति-षण्मातृ, प्रत्यय-अण् तथा ऋ का उर्

लौ०वि०– षण्णां मातृणाम् अपत्यम्

अलौ०वि०–षण्मातृ आम् अण्

शब्द-कानीनः, प्रकृति-कन्या, प्रत्यय-अण् तथा कन्या को कनीन

लौ०वि०– कन्यायाः अपत्यम्

अलौ०वि०–कन्या ङस् अण्

कन्यायाः कनीन च–ङस् अण्

शब्द-वैनतेयः, प्रकृति-विनता, प्रत्यय-ढक्

लौ०वि०– विनतायाः अपत्यम्

अलौ०वि०–विनता ङस् + ढक्

स्त्रीभ्योढक–विनता ङस् ढक्

विनता ढक् । विनता ढ।

शब्द- राजन्यः, प्रकृति-राजन्, प्रत्यय-यत्

लौ०वि०– राज्ञः अपत्यम् जातिः

अलौ०वि०–राजन् ङस् यत्

(वा०) राज्ञो जातावेव–इस वार्तिक के बल से जाति अर्थ में ।

राजश्वशुराद् यत्–इस सूत्र से यत् हुआ

राजन् ङस् यत्

शब्द-श्वशुर्यः, प्रकृति-श्वसुर, प्रत्यय- यत्

लौ०वि०– श्वशुरस्य अपत्यम्

अलौ०वि०–श्वसुर ङस् यत्

राजश्वशुराद् यत्–श्वसुर ङस् यत्।

शब्द-राजनः, प्रकृति-राजन्, प्रत्यय + अण्

लौ०वि०– राज्ञः अपत्यम्

अलौ०वि०–राजन् ङस् अण्

प्राग्दीव्यतोऽण्–प्राग्दीव्याति अर्थ में अण् प्रत्यय—

राजन् ङस् अण्

राजन् अण् ।

शब्द-क्षत्रियः, प्रकृति-क्षत्र, प्रत्यय- घ

लौ०वि०– क्षत्रस्य अपत्यम्

अलौ०वि०–क्षत्र ङस् घ

क्षत्राद् घः–क्षत्र ङस् घ से घ जाति अर्थ में।

क्षत्र घ ।

शब्द-क्षात्रिः, प्रकृति-क्षत्र, प्रत्यय-इञ्

लौ०वि०– क्षत्रस्य अपत्यम्

अलौ०वि०–क्षत्र ङस् इञ्

अत इञ्–सूत्र से इञ् प्रत्यय अपत्य अर्थ में इञ् प्रत्यय

क्षत्र ङस् इञ् ।

क्षत्र इञ् ।

शब्द-रैवतिकः, प्रकृति-रेवती, प्रत्यय-ठक्

लौ०वि०– रेवत्या अपत्यम्

अलौ०वि०–रेवती ङस् ठक्

शब्द-पाञ्चालः, प्रकृति-पञ्चाल, प्रत्यय-अण्

लौ०वि०– पञ्चालस्य अपत्यम्

अलौ०वि०–पञ्चाल ङस् अञ्

जनपद् शब्दात् क्षत्रियाद् अञ्–

पञ्चाल ङस् अञ् अपत्य अर्थ में

शब्द-पाञ्चालः, प्रकृति-पञ्चाल, प्रत्यय-अञ्

लौ०वि०– पञ्चालानां

अलौ०वि०–पञ्चाल आम् अञ्

वा० क्षत्रिय समान शब्दाद्–के बल से जनपद् शब्दात्० सूत्र से अञ् प्रत्यय।

शब्द-पौरवः, प्रकृति-पुरु, प्रत्यय-अण्

लौ०वि०– पूरूणों राजा

अलौ०वि०–पूरु ङस् अण्

वा० पूरोरण् वक्तव्यः–पूरु ङस् अण् राजा अर्थ में

शब्द-पाण्ड्यः, प्रकृति-पाण्डु (जनपद, क्षत्रियवासी), प्रत्यय-ड्यण्

लौ०वि०– पाण्डोः अपत्यम् तथा पाण्डूनां राजा

अलौ०वि०–पाण्डु ङस् + ड्यण्

पाण्डोर्ड्यण्–पाण्डु ङस् ड्यण् वा अपत्य तथा राजा अर्थ में

शब्द-कौरव्यः, प्रकृति-कुरु, प्रत्यय-ण्य

लौ०वि०– कुरोः अपत्यम् तथा कुरूणां राजा

अलौ०वि०–कुरु ङस् + ण्य

कुरु नाऽऽदिभ्यो ण्यः–कुरु ण्य अपत्य तथा राजा अर्थ में

शब्द-इक्ष्वाकवः, प्रकृति-इक्ष्वाकु, प्रत्यय-अञ्

लौ०वि०– इक्ष्वाकोः अपत्यानि तथा इक्ष्वाकूणां राजा.

अलौ०वि०–इक्ष्वाकु ङस् अञ्

दण्डिनायनहास्तिनाय नाथर्वणिक–सूत्र से टि का लोप

ते तद् राजः–ऐक्ष्वाक् अ = ऐक्ष्वाक

तद्राजस्य बहुषु०–इक्ष्वाकु अस्

इक्ष्वाकु अ

जसि च–इक्ष्वाको अस्

एचोऽयवायावः–इक्ष्वाक् अव् अस्

इक्ष्वाकव स्

इक्ष्वाकवः ।

शब्द- पञ्चालाः, प्रकृति-पञ्चाल, प्रत्यय-अञ् बहुत्व अर्थ में

लौ०वि०– पञ्चालस्य अपत्यानि पञ्चालानां राजा वा।

अलौ०वि०–पञ्चाल ङस् + अञ् । बहुत्व अर्थ में अञ् का लुक् होता है।

पञ्चाल अञ् । पञ्चाल अ । पाञ्चल अ ।

पाञ्चाल् अ । पाञ्चाल । पाञ्चाल जस्

शब्द-कम्बोजः, प्रकृति-कम्बोज, प्रत्यय-अञ्

लौ०वि०– कम्बोजस्य अपत्यम्

अलौ०वि०–कम्बोज ङस् अञ्

जनशब्दात्०–कम्बोज ङस् अञ्

कम्बोज अञ्

कम्बोज अ

शब्द-काषायाम्, प्रकृति-कषाय, प्रत्यय-अण् रक्त अर्थ में

लौ०वि०– कषायेण रक्तम्

अलौ०वि०–कषाय टा अण्

तेन रक्तं रागात्–कषाय अण्
कषाय अ
तद्धितेष्वचाम् आदेः–काषाय अ ।

शब्द-पौषम्, प्रकृति-पुष्य, प्रत्यय-अण्
लौ०वि०– पुष्येण युक्तम् दिनम्
अलौ०वि०–पुष्य टा + अण्
नक्षत्रेण युक्तः कालः–पुष्य टा अण्
पुष्य अण्
पुष्य अ
पौष्य अ।

शब्द-वासिष्ठः, प्रकृति-वसिष्ठ, प्रत्यय-अण्- दृष्टं साम अर्थ में
लौ०वि०– वसिष्ठेन दृष्टं साम
अलौ०वि०–वसिष्ट टा अण्
दृष्टं साम–
वसिष्ठ अण् । वसिष्ठ अ । वासिष्ठ ।

शब्द-वामदेव्यम्, प्रकृति-वामदेव, प्रत्यय-ड्यड् या ड्य
लौ०वि०– वामदेवेन दृष्टं साम
अलौ०वि०–वामदेव टा + ड्यड् । ड्य
वामदेवाद् ड्यड् ड्यौ–

शब्द-वास्त्रः, प्रकृति-वस्त्र, प्रत्यय-अण् परिवृत रथ अर्थ में
लौ०वि०– वस्त्रेण परिवृतो रथः,
अलौ०वि०–वस्त्र टा अण्
परिवृतो रथः–
वस्त्र अण् । वस्त्र अ । वास्त्र अ । वास्त्र् अ
वास्त्र सु । वास्त्रः।

शब्द-ऐन्द्रम्, प्रकृति-इन्द्र, प्रत्यय-अण् इसका देवता अर्थ में
लौ०वि०– इन्द्रः देवता अस्य
अलौ०वि०–इन्द्र सु + अण्
साऽस्य देवता–इस अर्थ में
इन्द्र अण् । इन्द्र अ । ऐन्द्र अ । ऐन्द्र् अ
ऐन्द्र सु । ऐन्द्र अम् । ऐन्द्रम् रविः

शब्द-पाशुपतम्, प्रकृति-पशुपति, प्रत्यय-अण्
लौ०वि०– पशुपतिः देवता अस्य

अलौ०वि०–पशुपति सु + अण्
साऽस्य०–अर्थ में

शब्द-शुक्रियम्, प्रकृति-शुक्र, प्रत्यय-घन्

लौ०वि०– शुक्र: देवता अस्य।
अलौ०वि०–शुक्र सु + धन्
शुक्राद् धन्–
शुक्र धन् । शुक्र घ ।
आयन् एय् ईन्०–शुक्र इय् अ । शुक्र इय । शुक्र् इय् ।

शब्द-सौम्यम्, प्रकृति-सोम, प्रत्यय-ट्यण् (य)

लौ०वि०– सोम: देवता अस्य
अलौ०वि०–सोम सु + ट्यण्
सोमात् ट्यण्–
सोम् ट्यण् । सोम य । सौम य।

शब्द-वायव्यम्, प्रकृति-वायु, प्रत्यय-यत् अस्य देवता में।

लौ०वि०–वायु: देवता अस्य
अलौ०वि०–वायु सु यत्
वाटवृतुपित्रुषसो यत्–

शब्द-पित्र्यम्, प्रकृति-पितृ, प्रत्यय-यत् अस्य देवता में।

लौ०वि०–पितर: देवता अस्य
अलौ०वि०–पितृ जस् + यत्
वाय्वृतुपित्रुषसो यत्–
पितृ यत् । पितृ य ।
रीङ् ऋत:–पितृ रीङ् य
पित् री य = पित्री य

शब्द-पितृव्य:, प्रकृति-पितृ, प्रत्यय-व्यन् भ्राता अर्थ में

लौ०वि०–पितुर्भ्राता
अलौ०वि०–पितृ ङस् न् व्यन् (तद्धित संज्ञक)
पितृ व्यन् । पितृ व्य । पितृव्य सु
पितृव्य: ।

शब्द-मातुल:, प्रकृति-मातृ, प्रत्यय-डुलच्, भ्राता अर्थ में।

लौ०वि०–मातुर्भ्राता
अलौ०वि०–मातृ ङस् + डुलच्

मातृ डुलच् । मातृ उल । यचिभम् ।
टेः । मात् उल । मातुल । मातुल सु
मातुलः।

शब्द-मातामहः, प्रकृति-मातृ, प्रत्यय-डामहच् *पिता अर्थ में*
लौ०वि०–मातुः पिता
अलौ०वि०–मातृ ङस् डामहच्
मातृ डामहच् । मातृ आमह । यचिभम्
टेः । मात् आमह । मातामह सु
मातामहः ।

शब्द-पितामहः, प्रकृति-पितृ, प्रत्यय-डामहच् अर्थ में
लौ०वि०–पितुः पिता
अलौ०वि०–पितृ ङस् + डामहच्

शब्द-काकम्, प्रकृति- काक, प्रत्यय-अण् समूह अर्थ में
लौ०वि०–काकानां समूहः
अलौ०वि०–काक आम् अण्

शब्द-यौवनम्, प्रकृति-युवति, प्रत्यय-अण् समूह अर्थ में।
लौ०वि०–युवतीनां समूहः
अलौ०वि०–युवति आम् अण्

शब्द-ग्रामता, प्रकृति-ग्राम, प्रत्यय- तल् समूह अर्थ में
लौ०वि०–ग्रामाणां समूहः
अलौ०वि०–ग्राम आम् तल्
ग्राम जन बन्धुभ्यस्तल्–
ग्राम तल् । ग्राम त
(लि०) तलन्तं स्त्रियाम्–स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप्
अजाऽऽद्यतष्टाप्–ग्रामत टाप् ।

शब्द-जनता, प्रकृति-जन, प्रत्यय-तल्
लौ०वि०–जनानां समूहः
अलौ०वि०–जन आम् तल्
ग्राम जन बन्धुभ्यस्तल्–
जन तल् । जनत । जनत टाप् । जनत् यँ
जनत् आ० । जनता । जनता सु
जनता स् । जनता ।

शब्द-बन्धुता, प्रकृति-बन्धु, प्रत्यय - तल्

लौ०वि०–बन्धूनां समूहः

अलौ०वि०–बन्धु आम् तल्

बन्धु तल् । बन्धु त । बन्धुत टाप् । बन्धुत

आ । बन्धुता

शब्द-अहीनः, प्रकृति-अहन्, प्रत्यय-ख क्रतु अर्थ में

लौ०वि०–अह्नां समूहः

अलौ०वि०–अहन् आम् ख

(वा०) अह्नः खः क्रतौ–

अह्न रव । आयन् एय ईन ईय् इयः

अहन् ईन् अ ।

अह्नष्टरवोरेव–ट अथवा ख प्रत्यय परे हो तो टि का लोप—

अह् ईन् अ = अहीन् अ

अहीन सु । अहीनः

शब्द-साक्तुकम्, प्रकृति-सक्तु, प्रत्यय-ठक्

लौ०वि०–सक्तूना समूहः

अलौ०वि०–सक्तु आम् ठक् ।

अचित्त हस्ति धेनोष्ठक्–

सक्तु ठक् । सक्तु ठ।

शब्द-हास्तिकम्, प्रकृति-हस्ति, प्रत्यय-ठक्

लौ०वि०–हस्तिनां समूहः

अलौ०वि०–हस्तिन् आम् ठक्

अचित्त हस्ति धेनोष्ठक्–

हस्तिन् ठक् । हस्तिन् ठ

शब्द-वैयाकरणः, प्रकृति-व्याकरण, प्रत्यय- अण्

लौ०वि०–व्याकरणं अधीते वेद वा

अलौ०वि०–व्याकरण अम् + अण्

तद् अधीते तद् वेद–अर्थ में

शब्द-क्रमकः, प्रकृति-क्रम, प्रत्यय-वुन्

लौ०वि०–क्रमं अधीते वेत्ति वा

अलौ०वि०–क्रम अम् वुन्

क्रमादिभ्यो वुन्।

शब्द-पदकः, प्रकृति-पद, प्रत्यय-वुन्

लौ०वि०–पदं अधीते वेत्ति वा

अलौ०वि०–पद अम् वुन्

पद वुन् । पद वु । पद अक ।

पद् अक । पदक । पदक सु । पदक स्

पदकः ।

शब्द-शिक्षकः, प्रकृति- शिक्षा, प्रत्यय-वुन्

लौ०वि०–शिक्षां अधीते वेत्ति वा

अलौ०वि०–शिक्षा अम् वुन्

शिक्षा वुन् । शिक्षा वु । शिक्षा अक

शिक्ष् अक । शिक्षक सु । शिक्षकः

शब्द-मीमांसकः, प्रकृति-मीमांसा, प्रत्यय-वुन्

लौ०वि०–मीमांसं अधीते वेत्ति वा

अलौ०वि०–मीमांसा अम् वुन्

मीमांसा वुन् । मीमांसा वु । मीमांसा अक

मीमांस् अक । मीमांसक सु ।

मीमांसकः ।

शब्द-औदुम्बरः, प्रकृति-उदुम्बर, प्रत्यय-अण्

लौ०वि०–उदुम्बराः सन्ति अस्मिन् देशे

अलौ०वि०–उदुम्बर जस् अण्।

तद् अस्मिन् अस्ति इति देशे तन्नाम्नि– अर्थ में

उदुम्बर अण् । उदुम्बर अ । तद्धि औदुम्बर अ

औदुम्बर अ । औदुम्बर सु ।

औदुम्बरः ।

शब्द-कौशाम्बी, प्रकृति-कुशाम्ब, प्रत्यय-अण्

लौ०वि०–कुशाम्बेन निर्वृत्ता नगरी

अलौ०वि०–कुशाम्ब टा अण्

तेन निर्वृतम्–अर्थ में

शब्द-शैबः, प्रकृति-शिबि, प्रत्यय-अण्

लौ०वि०–शिबीनां निवासः देशः

अलौ०वि०–शिबि आम् अण्

तस्य निवासः–अर्थ में ।

शिबि अण् । शिबि अ । शिब् अ । शैब । शैब सु । शैबः

शब्द-वैदिशम्, प्रकृति-विदिशा, प्रत्यय-अण्

लौ०वि०–विदिशाया: अदूरभवं (नगरम्)
अलौ०वि०–विदिशा ङस् अण्
अदूर भवश्च–अर्थ में
विदिशा अण् । विदिशा अ । वैदिशा अ
वैदिश् अ । वैदिश सु । वैदिश अम्
वैदिशम् ।

शब्द-चाक्षुषम्, प्रकृति-चक्षुष्, प्रत्यय-अण् ग्रहण अर्थ में

लौ०वि०–चक्षुषा गृह्यते (रूपम्)
अलौ०वि०–चक्षुष् टा + अण्
शेषे–तेन गृह्यते अर्थ में अण् प्रत्यय—
चक्षुष् अ । तद्धिते०–चाक्षुष + सु
चाक्षुष अम् । चाक्षुषम् ।

शब्द-श्रावण:, प्रकृति-श्रवण, प्रत्यय-अण् ग्रहण अर्थ में

लौ०वि०–श्रवणेन गृह्यते
अलौ०वि०–श्रवण टा अण्
शेषे–ग्रहण अर्थ में

शब्द-औपनिषद: (पुरुष:), प्रकृति-उपनिषद्, प्रत्यय-अण् प्रतिपादित अर्थ में

लौ०वि०–उपनिषद्भि: प्रतिपादित: पुरुष:
अलौ०वि०–उपनिषद् भिस् + अण्
उपनिषद् अण् । औपनिषद । औपनिषद सु

शब्द-राष्ट्रिय:, प्रकृति-राष्ट्र, प्रत्यय-घ

लौ०वि०–राष्ट्रे भव: जात: वा
अलौ०वि०–राष्ट्र ङि घ
राष्ट्राऽवारपाराद् घ खौ–तत्र जात: या तत्र भव: अर्थ में सप्तम्यन्त से घ प्रत्यय—
राष्ट्र घ ।
आयन् एय् ईन् ईय् इय:–राष्ट्र इय् अ
यचि भम्–राष्ट्र की भ संज्ञा
यस्येति च–रकारोत्तरवर्ती अकार—
राष्ट्र इय् अ । राष्ट्रिय सु
राष्ट्रिय: ।

शब्द-अवारपारीण:

लौ०वि०–अवारपारे भव: जातो वा
अलौ०वि०–अवारपार ङि ख

राष्ट्राऽवारपाराद् घ खौ–

अवारपार ख । अवारपार ईन् अ

अवारपार् ईन् अ । अवारपारीन् अ

अवारपारीण सु । अवारपारीण:

शब्द- पारीण:

लौ०वि०–पारे भव: जात: वा

अलौ०वि०–पार ङि ख

शब्द- अवारीण:

लौ०वि०–अवारे जात: भव: वा

अलौ०वि०–अवार ङि ख

शब्द- पाराऽवारीण:

लौ०वि०–पारऽवारे भव: जात: वा

अलौ०वि०–पारऽवार ङि ख

शब्द- ग्राम्य: , प्रकृति-ग्राम् , प्रत्यय-य

लौ०वि०–ग्रामे जात: भव: वा

अलौ०वि०–ग्राम ङि य

ग्रामाद् यखञौ–

ग्राम य । ग्राम् य । ग्राम्य सु । ग्राम्य:

शब्द-ग्रामीण:, प्रकृति-ग्राम, प्रत्यय-खञ्

लौ०वि०–ग्रामे जात: भव: वा

अलौ०वि०–ग्राम ङि खञ्

ग्रामाद् यखञौ–

ग्राम खञ् । ग्राम ख । ग्राम ईन् अ

तद्धिते०–ग्राम ईन् अ । ग्राम् ईन् अ । ग्रामीन् अ

ग्रामीण । सु ग्रामीण:

शब्द-नादेयम्, प्रकृति-नदी, प्रत्यय-ढक्

लौ०वि०–नद्यां जातं भवं वा

अलौ०वि०–नदी ङि ढक्

नद्यादिभ्यो ढक्–

नदी ढक् । नदी ढ । नदी एय् अ

किति च–नादी एय् अ । नाद् एय् अ

नादेय + सु नादेय अम् । नादेयम् ।

शब्द-वाराणसेयम् , प्रकृति-वाराणसी, प्रत्यय- ढक्

लौ०वि०–वाराणस्यां जातः भवः वा

अलौ०वि०–वाराणसी ङि ढक्

नद्यादिभ्यो ढक्–

वाराणसी ढक् । वाराणसर ढ । किति च–

वाराणसी ढ । वाराणसी एय् अ

वाराणस् एय् अ । वाराणसेय सु

वाराणसेय अम् । वाराणसेयम्

शब्द-दाक्षिणात्यः, प्रकृति-दक्षिणा, प्रत्यय-त्यक्

लौ०वि०–दक्षिणस्यां जातः भवः वा

अलौ०वि०–दक्षिणा ङि + त्यक्

दक्षिणा पश्चात् पुरसस्त्यक्–

दक्षिणा त्य । किति च दाक्षिणात्य । सु

दाक्षिणात्यः ।

शब्द-पश्चात्त्यः, प्रकृति-पश्चात् , प्रत्यय-त्यक्

लौ०वि०–पश्चाद् जातः भवः वा

अलौ०वि०–पश्चात् त्यक्

पश्चात् त्यक् । पश्चात् त्य

पश्चात्त्य सु । पश्चात्त्यः ।

शब्द-पौरस्त्यः, प्रकृति-पुरस्, प्रत्यय-त्यक्

लौ०वि०–पुरसि जातः भवः वा

अलौ०वि०–पुरस् त्यक्

पुरस् त्यक् । पुरस् त्य । किति च–पौरस्त्य + सु

पौरस्त्यः ।

शब्द-दिव्यम्, प्रकृति-दिव, प्रत्यय-यत्

लौ०वि०–दिवि भवं जातम्

अलौ०वि०–दिव् ङि यत् ।

शब्द-प्राच्यम्, प्रकृति-प्राच्, प्रत्यय-यत्

लौ०वि०–प्राचि भवं जातं वा

अलौ०वि०–प्र अञ्च् ङि + यत्

शब्द-अपाच्यम्, प्रकृति-अपाच्, प्रत्यय-

लौ०वि०–अपाचि भवं जातं वा

अलौ०वि०–अप अञ्च् ङि यत् ।

शब्द-उदीच्यम्, प्रकृति-प्रत्यक्, प्रत्यय-यत्

लौ०वि०–उदीचि भवं जातं वा

अलौ०वि०–उद् अञ्च् ङि यत्

उद् अञ्च् यत् । उद् अञ्च् य । उद् अच् य

शब्द-प्रतीच्यम्, प्रकृति-प्रत्यक् , प्रत्यय-यत्

लौ०वि०–प्रतीचि जातं भवं वा

अलौ०वि०–प्रति अञ्च् ङि यत्

शब्द-अमात्यः, प्रकृति-अमा, प्रत्यय-त्यप्

लौ०वि०–अमा (सह) भवः

अलौ०वि०–अमा + त्यप्

(वा०) अमेह क्वतसित्रेभ्य एव–शैषिक अर्थ भव आदि में—

अमा त्यप् । अमात्य ।

विभक्ति कार्य—अमात्यः ।

शब्द-इहत्यः, प्रकृति-इह, प्रत्यय-त्यप्

लौ०वि०–इह भव जातः वा

अलौ०वि०–इह + त्यप्

(वा०) अमेह क्वतासित्रेभ्य एव–

इहत्य । इहत्य सु । इहत्यः

शब्द-क्वत्यः, प्रकृति-क्व, प्रत्यय-त्यप्

लौ०वि०–क्व भव जातः वा

अलौ०वि०–क्व + त्यप्

(वा०) अमेह क्वतासित्रेभ्य

क्व त्यप् । क्वत्य + सु । क्वत्यः ।

शब्द-ततस्त्यः, प्रकृति-ततस्, प्रत्यय-त्यप्

लौ०वि०–ततः आगतः भव वा

अलौ०वि०–ततः + त्यप्

शब्द-तत्रस्य, प्रकृति-तत्र, प्रत्यय-त्यप्

लौ०वि०–तत्र भवः जातः वा

अलौ०वि०—तत्र + त्यप् ।

शब्द-नित्यः, प्रकृति-नि, प्रत्यय-त्यप् ध्रुव (स्थिर) अर्थ में

लौ०वि०–ध्रुव इति

अलौ०वि०–नि + त्यप्

(वा०) त्यप् नेर्ध्रुवे इति वक्तव्यम्–से ध्रुव अर्थ में।

शब्द-शालीयः, प्रकृति-शाला, प्रत्यय-छ

लौ०वि०-शालायां भव: जात: वा

अलौ०वि०-शाला + ङि + छ

शब्द-मालीयः, प्रकृति-माला, प्रत्यय-छ

लौ०वि०-मालायां भव: जात: वा

अलौ०वि०-माला छ।

शब्द-तदीयः, प्रकृति-तद् , प्रत्यय-छ

लौ०वि०-तस्य अयम्

अलौ०वि०-तद् ङ्स + छ

त्यदाऽऽदीनि च-सूत्र से तद् शब्द की वृद्ध संज्ञा—

वृद्धात् छ: से छ प्रत्यय

शब्द-देवदत्तीयः, प्रकृति-देवदत्त , प्रत्यय-छ

लौ०वि०-देवदत्तस्य अयम्

अलौ०वि०-देवदत्त ङस् + छ

(वा०) वा नामधेयस्य वृद्ध संज्ञा वक्तव्या-विकल्प से देवदत्त की वृद्ध संज्ञा

वृद्धात् छः-देवदत्त ङस् छ

देवदत्त छ। देवदत्त ईय् अ। देवदत्त् ईय् अ

देवदत्तीय + सु। देवदत्तीयः।

इकाई- २ समास का समान्य परिचय

५.१ केवल समास

५.२ अव्ययीभाव समास

५.३ तत्पुरुष समास

५.३.१ व्यधिकरणतत्पुरुष समार

५.३.२ तत्पुरुष के उपभेद

५.४ बहुव्रीहि समाज

५.५ द्वन्द्व समास

'समास' शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक 'अस्' धातु से 'धञ्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है, जो संक्षिप्त अर्थ का द्योतक है। **'समसनं समासः'** के अनुसार, अनेक पदों का एक बन जाना ही 'समसन' है: जिस 'समास' कहते है।

विभिन्न प्रकार के समासों को कुल पाँच वर्गों में वर्गीकृत किया गया है-

१. केवल समास

२. अव्ययीभाव समास

३. तत्पुरूष समास

३.१. कर्मधारय समास

३.२. द्विगु समास

४. बहुव्रीहि समास

५. द्वन्द्व समास

उपर्युक्त समासों को निम्नलिखित श्लोक के माध्यम से बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है, जिसमें कोई भक्त (सेवक) प्रार्थना करता हुआ अपने स्वामी से कहता है—

द्वन्द्वो द्विगुरपि चाहं, मदगेहे नित्यमव्ययीभावः ।

तत्पुरूष कर्मधारय, येनाहं स्यां बहुव्रीहिः ।।

अर्थात्— हे पुरूष! मैं द्वन्द्व (पति-पत्नी) हूँ, द्विगु (दो गाय-बछड़ा वाला) हूँ, मेरे घर में नित्य ही अव्ययीभाव रहता है (अर्थात् मैं दरिद्र हूँ) इसलिए मुझे वह कर्म धारण कराइये (कर्मधारयः) जिससे मैं बहुत धनवाला (बहुव्रीहि) हो जाऊँ ।

उपर्युक्त श्लोक में समासों का केवल नामोल्लेख मात्र किया गया है, किन्तु अधोलिखित श्लोक में समासों के विग्रह द्वारा स्वरूपोद्घाटन भी किया गया हैं—

चकारबहुलो द्वन्द्वः स चासौ कर्मधारणः।

यस्य येषां बहुव्रीहिः, शेषस्तत्पुरूषोः मतः ।।

अर्थात् जिसका विग्रह चकारबहुल हो, वह द्वन्द्वसमास होता है, जिसमें से चासौ (सुन्दरश्चासौ बलः) ऐसा विग्रह होता है, उसे कर्मधारय समास कहते है, जिसके विग्रह में यस्य, या येषां, या येन इत्यादि पर कहना पड़े, वह बहुव्रीहि-समास होता है तथा शेष सभी तत्पुरूषसमास कहलाते है।

५.१ केवलसमास

'विशेषसंज्ञाविनिर्मुक्तः केवलसमासः'। अर्थात् ऐसा समास, जिसे किसी संज्ञा-विशेष से अभिहित न किया गया हो; उसे 'केवलसमास' की श्रेणी में परिगणित किया जाता है। यथा— भूतपूर्व (जो पहले हो चुका हो) ।

५.२ अव्ययीभावसमास

'प्रायेण पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः।' अर्थात् जिसमें प्रायः पूर्वपद का अर्थ प्रधान हो, वह अव्ययीभावसमास कहा जाता है। **'अनव्ययः अव्ययः सम्पद्यते इत्यव्ययीभावः'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार, जो शब्द समास होने से पहले तो अव्यय न हो, किन्तु समास होने पर अव्यय हो जाय, वही 'अव्ययीभाव' है।

ध्यातव्य है कि इस समास के दोनों पदों में से पहला पद तो 'अव्यय' होता है, लेकिन दूसरा पद 'सज्ञा' होता है। ये दोनों पद आपस में मिलकर जब समास-रचना करते है, तो सम्पूर्ण पद अव्यय बन जाता है। जैस-'यथाशक्ति=शक्तिम् अनतिक्रम्य। यहाँ पर 'यथा' शब्द अव्यय है तथा 'शक्ति' शब्द संज्ञा है, लेकिन दोनों का सम्मिलित समस्तपद सदैव नपुंसकलिंग एकवचन में प्रयुक्त होगा। यथा—

अधिहरि, अधिगोपम् , उपकृष्णम् , सुमद्रम् , दुर्यवनम्, निर्मक्षिकम् , अतिहिमम् अतिनिद्रम् , इतिहरि, अनुविष्णु, अनुरूपम् , प्रत्यर्थम् , यथाशक्ति, सहरि, अनुज्येष्ठम् सचक्रम् , ससखि, सक्षत्रम्, साग्नि, पंचगंगम् , द्वियमुनम् , उपशरदम् , प्रतिविपाशम् उपजरसम् , उपराजम् , अध्यात्मम् , उपचर्मम् , उपसमिधम् तथा उपसमित् ।

५.३ तत्पुरूष समास

'प्रायेणोत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरूषः' । अर्थात् जिसमें प्रायः उत्तरपद का अर्थ प्रधान हो, वह तत्पुरूषसमास कहा जाता है। **'तस्य पुरूषः'** तथा **'सः पुरूषः तत्पुरूषः'** इस द्विविध विग्रह के अनुसार क्रमशः तत्पुरूष समास के दो मुख्य भेद होते है—

१. व्यधिकरण तत्पुरूष तथा

२. समानाधिकरण तत्पुरूष, या कर्मधारयसमास ।

५.३.१. व्यधिकरणतत्पुरूषसमास

जिस तत्पुरूष समास के दोनों पद परस्पर भिन्न-भिन्न विभक्तियों में हो, उसे 'व्यधिकरण तत्पुरूषसमास' कहते है। यथा—'राज्ञः पुरूषः=राजपुरूषः' में प्रथम पद राज्ञः षष्ठी विभक्ति में तथा दूसरा पद पुरूषः प्रथमा विभक्ति में है। दोनों के भिन्न-भिन्न विभक्तियों में होने से तथा उत्तरपद की प्रधानता होने से यहाँ पर 'व्यधिकरणतत्पुरूषसमास' है। द्वितीय से सप्तमी-पर्यन्त विभक्ति के भेद से व्यधिकरण तत्पुरूष समास के छः भेद होते हैं। कुछ प्रमुख उदाहरण निम्नलिखित हैं—

(१) द्वितीय तत्पुरूष— कृष्णाश्रितः, दुःखातीतः, नरकपतितः, स्वर्गगतः, कूपात्यस्तः, सुखप्राप्तः, संकटापन्नः, आशातीतः, इत्यादि।

(२) तृतीया तत्पुरूष— शंकुलाखण्डः, धान्यार्थः, हरित्रातः, नखभित्रः, नखनिर्भित्रः, इत्यादि ।

(३) चतुर्थी तत्पुरूष— यूपदारूः, द्विजार्थः, भूतबलिः, गोहितम्ः, गोरक्षिप्तम्ः, अलंकुमारिः इत्यादि ।

(४) पञ्चमी तत्पुरूष— चोरभयम् , स्तोकान्मुक्तः, अन्तिकादागतः, अभ्यासादागतः, दूरादागतः, कृच्छ्रादागत, इत्यादि।

(५) षष्ठी तत्पुरूष— राजपुरूषः, पूर्वकायः, राजदन्तः, अपरकायः, अर्धपिप्पली अर्धर्चः इत्यादि।

(६) सप्तमी तत्पुरूष— अक्षशौण्डः, अक्षधूर्तः, इत्यादि ।

५.३.२. समानाधिकरणतत्पुरूष (कर्मधारय) समास

तत्पुरूषसमास का वह भेद, जिसमें दोनों पद समान विभक्ति में हो, उसे समानाधिकरण तत्पुरूष समास कहते है। जैसे-'कृष्णसर्प:='कृष्ण: सर्प:' में कृष्ण: और सर्प: दोनों पद प्रथमा विभक्ति एक वचन में है, अत: यह 'समास' समानाधिकरण्य तत्पुरूष है। कर्मधारय' और द्विगु के भेद से इस समास को दो मुख्य वर्गों में वर्गीकृत किया गया है—

(१) कर्मधारय समास— जिस समानाधिकरण-तत्पुरूष-समास में प्रथमपद विशेषण अथवा उपमान होता है, तथा द्वितीय पद विशेष्य अथवा सामान्यधर्मवाचक शब्द होता है; उसे 'कर्मधारय समास' कहते है। यथा—

पौर्वशाल:, नीलोत्पलम:, कृष्णसर्प:, धनश्याम:, शाकपार्थिक:, देवब्राह्मण:, सर्वरात्र:, संख्यातरात्र:, परमराज:, महाराज:, महाजातीय:, प्राप्तजीविक:, आपत्रजीविक:, इत्यादि।

(२) द्विगुसमास— जिस 'समानाधिकरण तत्पुरूष' का प्रथमपद संख्यावाचक तथा द्वितीयपद संज्ञावाचक हो, उसे 'द्विगुसमास' कहते हैं। यथा—

द्विरात्रम् त्रिरात्रम् नवरात्रम, सप्तर्षय:, पञ्चनापित:, पञ्चगवम् , द्वयंगुलम् पञ्चकपाल:, इत्यादि ।

५.३.३. तत्पुरूषसमास के उपभेद

उपर्युक्त व्यधिकरण' और 'समानाधिकरण' के अतिरिक्त तत्पुरूष समास के कुछ अन्य गौड़भेद भी होते है; जो निम्नलिखित हैं—

(१) नञ् तत्पुरूष-समास— जिसका प्रथमपद नञ् (न=अ) हो तथा द्वितीयपद कोई संज्ञा या विशेषण हो; वह नञतत्पुरूष-समास कहा जाता है। यथा-अब्राह्मण:, अनश्व; इत्यादि ।

(२) प्रादि-तत्पुरूष-समास— जिस तत्पुरूष समास का प्रथमपद गतिसंज्ञक, या प्रादि होता है, उसे प्रादि-तत्पुरूषसमास कहा जाता है। यथा—

कुपुरूष:, सुपुरूष:, प्राचार्य:, अतिमाल:, अवकोकिल:, पर्य्यध्ययन:, निष्कौशाम्बि:, उरीकृत्य:, शुक्लीकृत्य:, पटपटाकृत्य, निरंगुलम् , व्याध्री=व्याजिघ्रति, इत्यादि।

(३) उपपद-तत्पुरूष-समास— जिस तत्पुरूष समास का प्रथमपद उपपद, या द्वितीयपद कृदन्त (कृत् प्रत्ययान्त) होता है; उसे 'उपपद-तत्पुरूष-समास' कहते हैं। यथा- कुम्भकार:, कच्छपी (कच्छेन, पिबति) इत्यादि।

५.४. बहुव्रीहिसमास

'प्रायेणान्यपदार्थप्रधानो बहुब्रीहि:।' अर्थात् जिस समास के दोनों पद किसी अन्यपद के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है; वह 'बहुव्रीहिसमास' कहा जाता है। 'बहुव्रीहि' शब्द का विग्रहजन्य अर्थ है, 'बहु: व्रीहि: यस्य स: कृषक:' अर्थात् जिसके पास बहुत अन्न हो, वह किसान । यहाँ पर बहु (बहुत), 'व्रीहि' (अन्न) का **विशेषण है** और सम्मिलित रूप में दोनों पद एक साथ किसी अन्य पद (किसान) के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है, अत: बहुव्रीहि:' पद स्वयमेव 'बहुव्रीहिसमास' का उदाहरण है।

इस समास के कुछ प्रमुख उदाहरण यहाँ पद दिये जा रहे हैं। यथा-कण्ठेकाल: प्राप्तोदक:, पीताम्बर:, प्रपर्ण:, अपुत्र:, चित्रगु:, रूपवद्भार्य:, द्विमूर्द्ध:, त्रिमूर्द्ध:,अन्र्लोम:, बहिर्लोम:, व्याघ्रपात्:, कुसूलपाद:, द्विपात:, सुपात्:, उत्काकुत्:, विकाकुत्, पूर्णकाकुत् सुहृद्, दुर्हृद्, व्यूढोरस्क: प्रियसार्पिष्क:, युक्तयोग:, महायशस्क:,महायशा:, इत्यादि।

५.५. द्वन्द्वसमास

'प्रायेणोभयपदार्थ-प्रधानो द्वद्वः।'— अर्थात् जिस समास में दोनों पदप्रधान होता है, वह 'द्वन्द्व-समास' कहा जाता है। इसके अन्तर्गत 'च' से जुड़ी हुई दो, या दो से अधिक संज्ञाओं का समास होता हैं— **'द्वे च द्वे च द्वन्द्वे !'** इतरेतर, समाहार तथा एकाकेश के भेद से इस समास के मुख्यतः तीन भेद हैं।

(१) इतरेतरद्वन्द्व— इस समास में आयी हुई सभी संज्ञाएँ एक दूसरे से अपना अलग व्यक्तित्त्व रखती है तथा सभी प्रधान होती हैं। यथा-'शिवकेशवी'=शिवश्च केशवश्च। इसी प्रकार अहोरात्रः द्वादश, अष्टाविशतिः कुक्कुट-मयूर्यौ, मयूरीकुक्कुटौ, धवखदिरौ, अर्थधर्मौ, हरिहरौ, ईशकृष्णौ, प्रावृट्शरदौ, इत्यादि।

(२) समाहारद्वन्द्व— इस समास में आयी हुई संज्ञाएँ अपना अर्थ बतलाने के साथ-साथ प्रधानता समाहार (समूह) बोधक होती है; अतः इसे 'समाहारद्वन्द्व' कहते है। यथा— 'पाणिपादम=पाणी च पादौ च। इसमें समस्त पद सदैव नपुंसकलिग एकवचन में होता है। यथा— संज्ञापरिभाषम् मार्दङ्गिकवैणाविकम् , रथिकाश्वारोहम् वाक्तवचम् , त्वक्स्रजम् शमीदृशदम् , वात्तिवषम् छत्रोपाहनम् इत्यादि।

(३) एकशेषद्वन्द्व—जिस द्वन्द्वसमास में, दो या दो से अधिक पदों में केवल एक ही शेष रह जाता हैं, उसे 'एकशेषद्वन्द्व' समास कहते है। यथा—'पितरौ'=माता च पिता च। यहाँ पर **'पिता मात्रा'** सूत्र से माता के साथ पिता का कथन होने पर 'माता' पद का लोप होने से 'पिता' पद विकल्प से शेष रहता है; अतः यह 'एकशेषद्वन्द्व' कहा जाता है।

सामासिकपद	**लौकिकविग्रह**	**अलौकिकविग्रह**	**समासनिर्देश**
अधिहरि	हरौ अधि	हरि ङि अधि	अव्ययीभाव समास
अधिगोपम्	गोपि अधि	गोपा ङि अधि	अव्ययीभाव समास
उपकृष्णम्	कृष्णास्य समीपम्	कृष्ण ङस् उप	अव्ययीभाव समास
निर्मक्षिकम्	मक्षिकाणामभावः	मक्षिका आम् निर्	अव्ययीभाव समास
अतिहिमम्	हिमस्यात्ययः	हिम ङस् अति	अव्ययीभाव समास
अनुविष्णु	विष्णोःपश्चाद्	विष्णु ङसि अनु	अव्ययीभाव समास
अनुरूपम्	रूपस्य योग्यम्	रूप ङस् अनु	अव्ययीभाव समास
यथाशक्ति	शक्तिमनतिक्रम्य	शक्ति अम् यथा	अव्ययीभाव समास
अनुज्येष्ठन्	ज्येष्ठस्यानुपूर्व्येण	ज्येष्ठ ङस् अनु	अव्ययीभाव समास
पञ्चगङ्गम्	पञ्चानां गङ्गानां समाहारः	पञ्चन् आम् गङ्गा आम्	अव्ययीभाव समास
उपशरदम्	शरदः समीपम्	शरद ङस् उप, टच्? अ	अव्ययीभाव समास
प्रतिविपाशम्	विपाशाम् अभिमुखम्	विपाशा अम् प्रति	अव्ययीभाव समास
उपजरसम्	जरायाः समीपम्	जरा ङस् उप	अव्ययीभाव समास
उपराजम्	राज्ञः समीपम्	राजन् ङस् उप, टच्	अव्ययीभाव समास
अध्यात्मन्	आत्मनि	आत्मन् ङि अधि, टच्	अव्ययीभाव समास
उपचर्मम्	चर्मणः समीपम्	चर्मन् ङस् उप	अव्ययीभाव समास

उपसमिधम्	समिध: समीपे	समिध् ङस् उप	अव्ययीभाव समास
कृष्णाश्रित:	कृष्णं श्रित:	कृष्ण अम् श्रित सु	द्वि० तत्पुरुष समास
सुखप्राप्त:	सुखं प्राप्त:	सुख अम् प्राप्त सु	द्वि० तत्पुरुष समास
शङ्कुलाखण्ड:	सङ्कुलया खण्ड:	शङ्कुला टा खण्ड सु	तृतीया तत्पुरुष समास
धान्यार्थ:	धान्येनार्थ:	धान्य टा अर्थ सु	तृतीया तत्पुरुष समास
हरित्रात:	हरिणा त्रात:	हरि टा त्रात तु	तृतीया तत्पुरुष समास
नखभिन्न:	नखैर्भिन्न:	नख भिस् भिन्न सु	तृतीया तत्पुरुष समास
यूपदारु	यूपाय दारु	यूप ङे दारु सु	चतुर्थी तत्पुरुष समास
द्विजार्थ:	द्विजाय अर्थ:	द्विज ङे अर्थ सु	चतुर्थी तत्पुरुष समास
गोसुखम्	गोभ्य: सुखम्	गो भ्यस् सुख सु	चतुर्थी तत्पुरुष समास
गोहितम्	गोभ्यो हितम्	गो भ्यस् हित सु	चतुर्थी तत्पुरुष समास
गोरक्षितम्	गोभ्यो रक्षितम्	गो भ्यस् रक्षित सु	चतुर्थी तत्पुरुष समास
चोरभयम्	चोराद् भयम्	चोर ङसि भय सु	पञ्चमी तत्पुरुष समास
स्तोकान्मुक्त:	स्तोकाद् मुक्त:	स्तोक ङसि मुक्त सु	पञ्चमी तत्पुरुष समास
राजपुरुष:	राज्ञ: पुरुष:	राजन् ङस् पुरुष सु	षष्ठी तत्पुरुष समास
पूर्वकाय:	पूर्व कायस्य	पूर्व सु काय ङस्	षष्ठी तत्पुरुष समास
अर्धर्च:	अधर्म् ऋच:	ऋच ङस् अर्ध सु	षष्ठी तत्पुरुष समास
अपरकाय:	अपरं कायस्य	अपर सु काय ङस्	षष्ठी तत्पुरुष समास
अर्धपिप्पली	अर्धं पिप्पल्या:	अर्ध सु पिप्पली ङस्	षष्ठी तत्पुरुष समास
राजदन्त:	दन्तानां राज्ञा	दन्त ङस् राजन् सु	षष्ठी तत्पुरुष समास
अक्षशौण्ड:	अक्षेषु शौण्ड:	अक्ष सुप् शौण्ड सु	सप्तमी तत्पुरुष समास
परमराज:	परमश्च असौ राजा	परम सु राजन् सु	समाना०कर्मधारय समास
महाराज:	महान्च असौ राजा	महत् सु राजन् सु	समाना०कर्मधारय समास
सर्वरात्र:	सर्वा रात्रय:	सर्वा जस् रात्रि अस्	समाना०कर्मधारय समास
पञ्चगवम्	पञ्चानां गवां समाहार:	पञ्चन् ङस् गो ङस्	द्विगु समास
नीलोत्पलम्	नीलमुत्पलम्	नील सु उत्पल सु	समाना०कर्मधारय समास
कृष्णसर्प:	कृष्ण: सर्प:	कृष्ण सु सर्प सु	समाना०कर्मधारय समास
घनश्याम:	घन इव श्याम:	घन सु श्याम सु	समाना०कर्मधारय समास
शाकपार्थिव:	शाकप्रिय: पार्थिव:	शाकप्रिय सु पार्थिव सु	समाना०कर्मधारय समास
देवब्राह्मण:	देवपूजको ब्राह्मण:	देवपूजक सु ब्राह्मण सु	समाना०कर्मधारय समास
अब्राह्मण:	न ब्राह्मण:	नञ् ब्राह्मण सु	समाना०कर्मधारय समास
अनश्व:	न अश्व:	नञ् अश्व सु	समाना०कर्मधारय समास

सुपुरुष:	शोभन: पुरुष:	गोभन सु पुरुष सु	प्रादि तत्पुरुष समास
प्राचार्य:	प्रगत आचार्य:	प्रगत सु आचार्य सु	प्रादि तत्पुरुष समास
अवकोकिल:	अवक्रुष्ट: कोकिलयां	अव कोकिल टा	प्रादि तत्पुरुष समास
निष्कौशाम्बि:	निष्क्रान्त: कौशाम्ब्या:	निस् कौशाम्बी ङसि	प्रादि तत्पुरुष समास
कुम्भकार:	कुम्भं करोति	कुम्भ अम् कार सु	उपपद तत्पुरुष समास
द्वयङ्गुलम्	द्वेअङ्गुलीप्रमाणमस्य	द्वि औ अङ्गुलि औ	समानाधि० द्विगु समास
पञ्चगवम्	पञ्चानां गवां समाहार:	पञ्चन् आम् गो आम्	समानाधि० द्विगु समास
अहोरात्र:	अहश्च रात्रिश्च	अहन् सु रात्रि सु	द्वन्द्व समास
द्विरात्रम्	द्वयो: रात्र्यो: समाहार:	द्वि ओस् रात्रि ओस्	समानाधि० द्विगु समास
द्वादश	द्वौ च दश च	द्वि औ दशन् अस्	द्वन्द्व समास
अहोरात्र:	अहश्च रात्रिश्च	अहन् सु रात्रि सु	द्वन्द्व समास
अष्टाविंशति:	अष्ट च विंशतिश्च	अष्टन् जस् विंशति जस्	द्वन्द्व समास
कुक्कुटमयूर्यौ	कुकुटश्च मयूरी च	कुक्कुट सु मयूरी सु	द्वन्द्व समास
कण्ठेकाल:	कण्ठे काल: यस्य स:	कण्ठ ङि काल सु	बहुव्रीहि समास
प्राप्तोदक:	प्राप्तम् उदकम् यम् स:	प्राप्त सु उदक सु	बहुव्रीहि समास
पीताम्बर:	पीतम् अम्बरम् यस्य स:	पीत सु अम्बर सु	बहुव्रीहि समास
प्रपर्ण:	प्रपतितानि पर्णानि यस्मात्	प्रपतित जस् पर्ण जस्	बहुव्रीहि समास
अपुत्र:	अविद्यमानो पुत्र: यस्य	अविद्यमान सु पुत्र सु	बहुव्रीहि समास
चित्रगु:	चित्रा गावो यस्य	चित्रा जस् गो जस्	बहुव्रीहि समास
स्त्रीप्रमाण:	स्त्रीप्रमाणी यस्य	स्त्री सु प्रमाणी सु	बहुव्रीहि समास
जलजाक्षी	जलजे इव अक्षिणी यस्या:	जलज औ अक्षि औ	बहुव्रीहि समास
द्विमूर्द्ध:	द्वौ मूर्द्धानौ यस्य	द्वि और मूर्द्धन् और	बहुव्रीहि समास
बहिर्लोम:	बहिर्लोमानि यस्य	लोम जस् बहि:	बहुव्रीहि समास
द्विपात्	द्वौ पादौ यस्य	द्वि औ पाद् औ	बहुव्रीहि समास
सुहृद्	शोभनं हृदयं यस्य स:	शोभन् सु हृद् सु	बहुव्रीहि समास
व्यूढ़ोरस्क:	व्यूढ़म् उरो यस्य	व्यूढ़ सु उरस् सु	बहुव्रीहि समास
महायशस्क:	महद् यशो यस्य स:	महत् सु यशस् सु	बहुव्रीहि समास
महायशा:	महत् यश: यस्य स:	महत् सु यशस् सु	बहुव्रीहि समास
धवखदिरौ	धवश्च खदिरश्च	धव सु खदिर सु	द्वन्द्व समास
संज्ञापरिभाषम्	संज्ञा च परिभाषा च	संज्ञा सु परिभाषा सु	द्वन्द्व समास
अर्थधर्मौ	अर्थश्च धर्मश्च	अर्थ सु धर्म सु	द्वन्द्व समास
अरिहरौ	हरिश्च हरश्च	हरि सु हर सु	द्वन्द्व समास

ईशकृष्णौ	ईशश्च कृष्णश्च	ईश सु कृष्ण सु	द्वन्द्व समास
पितरौ	माता च पिता च	मातृ सु पितृ सु	द्वन्द्व समास
पाणिपादम्	पाणी च पादौ च	पाणि और पाद् औ	द्वन्द्व समास
रथिकाश्वारोहम्	रथिकाश्च अश्वारोहाश्च	रथिक जस् अश्वारोही जस्	द्वन्द्व समास
वाक्त्वचम्	वाक् च त्वक् च	वाक् सु त्वक् सु	द्वन्द्व समास
त्वक्स्रजम्	त्वक् च स्रक् च	त्वक् सु स्रक् सु	द्वन्द्व समास
वाक्त्विषम्	वाक् च त्विष च	वाक् सु त्विष सु	द्वन्द्व समास
छत्रोपानहम्	छत्रश्च उपानहश्च	छत्र सु उपानह सु	द्वन्द्व समास

Uttar Pradesh Rajarshi Tandon
Open University

MAST -103

लघु सिद्धान्त कौमुदी

(पाठ्यक्रमानुसार नियत अंश-
व्याख्या)

खण्ड
3

अलङ्कार शास्त्र

इकाई- 6

अलंकार शास्त्र का परिचय 149

इकाई- 7

अलङ्कार सम्प्रदाय 167

इकाई- 8

अर्थालङ्कार 182

परामर्श-समिति

प्रो0 नागेश्वर राव	कुलपति - अध्यक्ष
डॉ0 हरीशचन्द्र जायसवाल	वरिष्ठ परामर्शदाता - कार्यक्रम संयोजक
श्री एम0 एल0 कनौजिया	कुलसचिव - सचिव

पाठ्य-सामग्री निर्धारण समिति

प्रो. पी0डी0 सिंह	आचार्य, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रो. जी0 आर0 पाण्डे	आचार्य, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ
प्रो. प्रभुनाथ द्विवेदी	आचार्य, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रो. सोमनाथ नेने	आचार्य, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रो. यू0 पी0 सिंह	आचार्य, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रो. आर0 सी0 पाण्डा	आचार्य, विद्याधर्म विज्ञान संकाय (बी0एच0यू0)
डॉ0 राममूर्ति चतुर्वेदी	रीडर, काशी विद्यापीठ
डॉ0 अच्छे लाल	प्रवक्ता, संस्कृत, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

सम्पादक

प्रो0 मुरली मनोहर पाठक	आचार्य, संस्कृत विभाग, पं0 दीनदयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर
डॉ0 राजेश्वर शास्त्री मुसलगांवकर	विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

लेखक

डॉ0 राजेश्वर शास्त्री मुसलगांवकर	विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्य-सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना, मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से **विनय कुमार, कुलसचिव** द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित 2023.

मुद्रक : के. सी. प्रिन्टिंग एण्ड एलाइड वर्क्स, पंचवटी, मथुरा- 281003.

खण्ड-3 परिचय

इकाई-6 में अलंकार शास्त्र का सामान्य परिचय दिया गया है। इकाई-7 में अलङ्कार शास्त्र का सामान्य परिचय दिया गया है। इकाई-8 में शब्दालंकार तथा अर्थाङ्कार का सामान्य परिचय दिया गया है।

यूनिट - 6 अलङ्कार शास्त्र का परिचय

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 अलङ्कारशास्त्र का नाकरण
6.2 काव्य में अलङ्कार का स्थान
6.3 अलङ्कार सम्प्रदाय का अर्थ
6.4 आचार्य मम्मट और उनका काव्य प्रकाश
6.5 काव्य प्रकाशकार मम्मट का वैशिष्ट्य
6.6 अलङ्कारों का क्रम विकास

सरितामिव प्रवाहाः तुच्छाः प्रथमं यथोत्तरं विपुलाः ।
ये शास्त्रसमारम्भा भवन्ति लोकस्य ते वन्द्याः ।।

नदी के प्रवाह के समान शास्त्र का भी प्रवाह प्रारम्भ में छोटा सा होता है । बढ़ते-बढ़ते वह विशाल बनता जाता है । ऐसे ही शास्त्र लोकादर के भाजन होते हैं । अलङ्कारशास्त्र के लिये भी यह नियम लागू होता है । काव्य का सर्वस्व आत्मभूत है 'रस' और इसी रस के अङ्गो तथा उपाङ्गों का विवेचन अलङ्कार शास्त्र का उद्देश्य है।

वस्तुतः अलङ्कारशास्त्र संस्कृत साहित्य की एक अनुपम निधि है । अलङ्कारशास्त्र के केवल अभिधान पर ही दृष्टि रखने वाले व्यक्ति को यह शास्त्र काव्य के बहिरङ्ग साधनों का ही प्रतिपादक भले ही प्रतीत होता हो, परन्तु इसके अन्तरङ्ग के परीक्षकों से यह बात परोक्ष नहीं है कि यह काव्य के मुख्य अन्तस्तत्त्वों का वैज्ञानिक रीति से विवेचक शास्त्र है । किंबहुना हमारा अलङ्कारशास्त्र पाश्चात्त्यों को 'पोइटिक्स' 'रेटॉरिक' तथा 'एस्थेटिक' का समानभावेन प्रतिनिधित्व करता है । 'पोइटिक्स' में काव्य तथा नाटक की महनीय समीक्षा की गई है, 'रेटॉरिक' में वक्तृत्वकला तथा तदुपयोगी गद्य के गुण-दोषों का सम्यक् विवेचन है । 'एस्थेटिक' में सौन्दर्य के रूप तत्त्व तथा महत्त्व का दार्शनिक रीति से विवरण प्रस्तुत किया गया है। भारतीय अलङ्कारशास्त्र में इन तीनों विभिन्न शास्त्रों के सिद्धान्तों का एकत्र सुन्दर समीक्षण है ।

अलङ्कारशास्त्र भारतीय आचार्यों (आलोचकों) की सूक्ष्म आलोचनापद्धति का पर्याप्त निदर्शन है । यह शास्त्र वेदों से लेकर लौकिक ग्रन्थों तक के पूर्ण ज्ञान के लिए अत्यन्त आवश्यक है । इसी उपकारिता के कारण **राजशेखर** ने अलङ्कार शास्त्र को वेद का सप्तम अङ्ग माना है । उन्होंने साहित्यविद्या को स्वतन्त्र विद्या ही नहीं माना, प्रत्युत उसे प्रसिद्ध चार विद्याओं - तर्क, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति - का निचोड़ स्वीकार किया है । अलङ्काकार शास्त्र की महत्ता नितान्त व्यक्त है । कविता में शब्द तथा अर्थ का सौन्दर्य लाने

तथा उसे हृदयंगम बनाने में अलङ्काकारशास्त्र की भूयसी उपयोगिता है ।

प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार - योग, ज्ञान, सांख्य, विद्याएँ, शिल्प आदि कर्म, वेदशास्त्र और विज्ञान ये सब विष्णु से उत्पन्न हुए है ।

योगो ज्ञानं तथा सांख्यं विद्याः शिल्पादिकर्म च ।

वेदाः शास्त्राणि विज्ञानमेतत्सर्वं जनार्दनात् ।। (विष्णुसहस्त्रनाम 139)

यह भी कहा जाता है कि सब सत्य विद्याओं की उत्पत्ति और विकास वेदों से ही हुआ है । अतः प्रत्येक विषय का बीज ऋग्वेद में खोजने का यत्न किया जाता है । इसी दृष्टि से साहित्यशास्त्र के मूल सिद्धान्तों का वेदों में अन्वेषण करने का यत्न किया गया है । यों साहित्य शास्त्र का वेदों से कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। यद्यपि वेदाङ्गों में छः विद्याओं की गणना की गई है, पर उनमें साहित्य का नाम नहीं आता । फिर भी वेद को 'देव का अमर काव्य' कहा गया हैं । वेद के निर्माता परमात्मा के लिए वेदों में अनेकत्र 'कवि' शब्द का प्रयोग किया गया है । अतः वेद स्वयं काव्यरूप है और उसमें काव्य का सम्पूर्ण सौन्दर्य पाया जाता है। यहाँ तक कि काव्य सौन्दर्य के आधायक सभी तत्त्व गुण, रीति, अलङ्कार, ध्वनि आदि मूल रूप में वेदों में पाये जाते हैं । उपमा और रुपक आदि अलङ्कारों की तो भरमार है । उदाहरणार्थ -

उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचं उतत्वः श्रृण्वन् न श्रृणोत्येनाम् ।

उतो त्व स्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उषती सुवासाः ।।ऋग्वेद 10/71/4

अनेक लोग विद्या पढते हैं, पर उसका रहस्य खुलता नहीं, अनेक लोग महत्त्व की बातें सुनते हैं, पर उनका भाव समझ में नहीं आता । ऐसे ही लोगों के प्रति मन्त्र में कहा गया है, **'उत त्त्वः पश्यन् न ददर्श वाचं ।'** 'त्व' अर्थात् 'एके' कुछ लोग ऐसे हैं जो देखते हुए भी वाणी के स्वरूप को नहीं देख पाते हैं और 'श्रृण्वन्' अपि न श्रृणोत्येनां, सुनकर भी उसको सुन नहीं पाते हैं । ये दोनों विरोधाभास के कितने सुन्दर ओर प्रासादिक, प्रसादगुणयुक्त मनोहर उदाहरण हैं । तीसरे वे लोग हैं जिनके सामने वाणी अपना सारा सौन्दर्य इस प्रकार खोलकर रख देती है, जैसे सुन्दरतम वेश-भूषा में अलङ्कृत होकर पत्नी अपने पति के सामने अपने सौन्दर्य को पूर्ण रूप में प्रदर्शित करती है । **'उतो त्व स्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उषती सुवासा'** इस उपमा का यही भाव है । यह कितनी सुन्दर उपमा है, दूसरी जगह 'उषा हस्नेव निर्णीते अप्सः' में उषा हँसती हुई सी अपने अप्सः रुपाणि अर्थात् सौन्दर्य को प्रकाशित करती है में 'हंसती हुई सी सौन्दर्य को प्रकाशित करती है 'कितनी सुन्दर उत्प्रेक्षा है । इसी प्रकार -**'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।**

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकषीति ।।(ऋग्वेद 1/164-20)

इस मन्त्र में ईश्वर, जीव ओर प्रकृति इन तीनों तत्त्वों को अपने नामों से न कहकर रूपकालङ्कार में दो पक्षियों और एक वृक्ष के रूप में प्रदर्शित किया गया है ।

वेदाङ्ग 'निरुक्त' में उपमा का विवेचन किया गया है । निरुक्तकार ने उपमा का लक्षण इस प्रकार किया है 'यद् अतत् तत्सदृशं तदासां कर्म इति गार्ग्यः' । अर्थात् उपर से भिन्न होने पर उसके सदृश हो वह उपमा का विषय होता है । यह उपमा का सामान्य लक्षण है और उत्तरवर्ती साहित्यशास्त्र में इसी रूप में स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार वेदाङ्ग 'व्याकरण' शास्त्र में भी उपमा का निरुपण किया गया है ।

राजशेखर ने अपने मान्य ग्रन्थ **'काव्य मीमांसा'** में इस शास्त्र के 18 अधिकरणों की रचना 18 उपदेशकों के द्वारा बतलायी है । इसकी सत्यता परखने के लिए आज हमारे पास कोई साधन नही हैं । 'साहित्य शास्त्र' के उद्गम के विषय में राजशेखर ने जो आख्यायिका दी है, वह पौराणिक शैली की जान पडती है । उसमें प्रामाणिक तत्त्व कम हैं ।

6.1 अलङ्काकार शास्त्र का नामकरण

साहित्यशास्त्र - काव्यालङ्कार-काव्यलक्षण-क्रियाकल्प

जिस शास्त्र के लिए आज हम साहित्यशास्त्र का प्रयोग करते हैं, उसका प्राचीन नाम अलङ्काकारशास्त्र है । 'अलङ्कार' शब्द का आधुनिक अर्थ - अनुप्रास, उपमा आदि के लिए ही सीमित हुआ है, किन्तु प्राचीन काल में उसकी व्याप्ति कहीं अधिक थी । रस, रीति, गुण, वक्रोक्ति आदि सभी का अन्तर्भाव 'अलङ्कार' शब्द के अर्थ में होता था । प्राचीन परम्परा के पण्डित आज भी साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों को 'अलङ्काकर' ग्रन्थ तथा उसके अध्येता को 'आलङ्कारिक' कहते हैं । कालान्तर में 'अलङ्कार' शब्द की यह व्याप्ति संकुचित होती गई और उसके स्थान पर 'साहित्य' शब्द रुढ होता गया । काव्य विवेचना के प्राचीन ग्रन्थों के नामों पर केवल दृष्टिक्षेप करने से यह स्पष्ट होता है । कुछ ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं -

1. भामह (सन् 600-700 ईसवी) - काव्यालङ्कार
2. दण्डी (सन् 600-700 ईसवी) - काव्यादर्श
3. उद्भट (सन् 800- ईसवी) - काव्यालङ्कारसारसंग्रह
4. वामन (सन् 800- ईसवी) - काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति
5. रुद्रट (सन् 850 ईसवी) - काव्यालङ्कार

यहाँ विशेष ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त ग्रन्थों में केवल अलङ्कारों की ही विवेचना नहीं

है, अपितु उस समय के सभी साहित्यविषयक प्रश्नों का ऊहापोह किया गया है। उदाहरणार्थं - भामह के ग्रन्थ में काव्यन्याय, शब्दशुद्धि आदि विषयों पर अध्याय है। वामन के ग्रन्थ में रीति पर विवेचना की गई है। रुद्रट के ग्रन्थ में तो रस पर भी विवेचना है। केवल दण्डी का अपवाद छोड दिया ज़ाय तो सभी ने अपने ग्रन्थों के नाम 'काव्यालङ्कार' रखे थे। यद्यपि रुद्रट के बाद ग्रन्थों के नाम उनमें विवेचित विशिष्ट विषय के आधार पर रखे गये हैं। उदाहरणार्थ - काव्य के विविध अङ्गों की चर्चा जिनमें की गई है, उन ग्रन्थों को 'काव्यमीमांसा' 'काव्यप्रकाश' 'काव्यानुशासन' आदि नाम दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ग्रन्थ उनमें चर्चित विषयों के अनुसार नामांकित किये गए हैं। जैसे - ध्वनि की विवेचना जिसमें है, वह ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक'। व्यञ्जना का परीक्षण जिसमें है वह 'व्यक्तिविवेक'। रसास्वाद की प्रक्रिया जिसमें बताई गई है वह 'हृदयदर्पण'। औचित्य की विवेचना जिसमें है, वह 'औचित्य- विचारचर्चा।' इस प्रकार ग्रन्थों के नाम ग्रन्थगत विषय को लक्ष्य करके बनाये मिलते हैं। इस काल के 'अलङ्कार' ग्रन्थों में सामान्यतया अलङ्कारों की ही विवेचना पाई जाती है। रुय्यक के दो ग्रन्थ हैं 'अलङ्कारसर्वस्व' तथा 'साहित्यमीमांसा'। इनमें से प्रथम ग्रन्थ में केवल अलङ्काकारों की विवेचना है तथा दूसरे ग्रन्थ में काव्य के अन्य अङ्गों की विवेचना है।

इसके पूर्व हम देख चुके हैं कि 'काव्यशास्त्र' के लिए प्रारम्भ में 'काव्यालङ्कार' शब्द का प्रयोग किया जाता था। उसमें 'अलङ्कार' शब्द सौन्दर्यपरक था। काव्य और सौन्दर्य में अव्यभिचारीभाव, अभिनवगुप्त ने अन्वयव्यतिरेक से सिद्ध किया। अलङ्कार = काव्यशोभा अथवा काव्यसौन्दर्य इस व्यापक अर्थ में वाच्यवाचक जब तक साहित्य क्षेत्र में रूढ तथा ज्ञात था, तब तक काव्यविवेचना के किसी भी ग्रन्थ को 'अलङ्कार' यही संज्ञा दी जाती थी।

अतः सभी प्राचीन आचार्यों ने उसी आधार पर अपने ग्रन्थों के नाम 'काव्यालङ्कार' रखे थे, किन्तु आचार्य रुद्रट के अनन्तर काव्यविवेचना में 'साहित्य' शब्द धीरे-धीरे रूढ होता गया। नवीनयुग में तो यह शब्द 'काव्यशास्त्र' के अन्य सभी नामों की अपेक्षा अधिक प्रचलित है और इसका श्रेय सम्भवतः चौदहवीं शताब्दी के आचार्य विश्वनाथ को हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम 'साहित्यदर्पण' रखा। फिर भी इस शब्द के प्रयोग के आदि प्रवर्तक वे नहीं कहे जा सकते। इसका मूल तो काव्यशास्त्र के आदि आचार्य भामह के 'काव्यालङ्कार' में ही पाया जाता है। भामह ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही **'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'** इस प्रकार काव्य का लक्षण उल्लिखित किया है। अर्थात् - शब्द और अर्थ के 'साहित्य' का नाम ही काव्य है। आचार्य रुद्रट भी **'ननु शब्दार्थौ काव्यम्'** कहकर भामह का केवल अनुवाद मात्र करते हैं, परन्तु राजशेखर के समय में (सन् 900 ईसवी के लगभग) 'साहित्य' शब्द काव्यमीमांसा का शास्त्र अथवा विद्या के अर्थ में रूढ़ हुआ

प्रतीत होता है । राजशेखर ने तो साहित्यविद्या को पञ्चमी साहित्यविद्या कहकर इसे आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति इन विधाओं की श्रेणी में स्थान दिया है । इस काल में अनेक ग्रन्थकारों ने काव्यशास्त्र के अर्थ में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग किया है। उन ग्रन्थकारों में श्रीकण्ठचरित काव्य के कर्ता मंखक कवि, मुकुलभट्ट, प्रतिहारेन्दुराज क्षेमेन्द्र आदि प्रसिद्ध हैं । कुन्तक तथा भोज ने भी 'साहित्यमीमांसा' नाम से एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की, साथ ही व्यक्तिविवेक की अपनी टीका में 'साहित्य' शब्द का निर्वचन भी किया । इससे प्रतीत होता है कि 'काव्यालङ्कार' संज्ञा के स्थान पर 'काव्यविवेचनशास्त्र' के अर्थ में 'साहित्य' संज्ञा राजशेखर के पहले से ही रूढ़ होने लगी थी। 10 वीं शताब्दी के आचार्य कुन्तक ने काव्य में सौन्दर्याधान के लिए शब्द और अर्थ दोनों की एक सी मनोहारिणी स्थिति को 'साहित्य' कहा है ।

कालान्तर में अनेक स्थलों पर इस शास्त्र के लिए 'काव्यलङ्कार' के स्थान पर 'अलङ्कारशास्त्र' का प्रयोग देखने को मिलता है । 'प्रतापरुद्रीय' की टीका में 'अलङ्कारशास्त्र' नाम के प्रतिपादन के लिए 'छत्रिन्याय' का आश्रय ग्रहण किया गया है । उन्होंने लिखा है कि इस शास्त्र में यद्यपि रस, गुण, दोष, अलङ्कार आदि अनेक विषयों का विवेचन किया गया है, परन्तु 'छत्रिन्याय' से उसे केवल 'अलङ्कारशास्त्र' के नाम से जाना जाता है । परन्तु हमें उक्त प्रतापरुद्रीय के टीकाकार का यह मत समुचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि काव्य में अलङ्कार की प्रधानता नहीं है । वह काव्य की आत्मा भी नहीं है । काव्य की आत्मा तो 'रस' है, अलङ्कार तो केवल कटक कुण्डल की तरह गौण हैं, जीवनाधायक नहीं । अतः जीवनाधायक 'रस' के रहते उसे गौण करके अलङ्कारों को प्रधान मानकर इस शास्त्र को अलङ्कारशास्त्र कहना उचित प्रतीत नहीं होता । हमारे विचार में आचार्य वामन के मतानुसार अलङ्कारशास्त्र को सौन्दर्यपरक मानकर इसे सौन्दर्यशास्त्र या काव्य सौन्दर्यशास्त्र मानना अधिक सङ्गत और उचित भी प्रतीत होता है ।

जैसा कि हम देख चुके हैं, प्रारम्भ में इस शास्त्र का नाम केवल 'काव्यालङ्कार' था । शास्त्र का प्रयोग उस के साथ नहीं होता था । आगे उसका और अधिक विकास होने पर महत्त्व बढाने के लिए उसके साथ 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग होने लगा । सामान्यतः 'शास्त्र' शब्द 'शासनात् शास्त्रम्' शासन करने वाला होने से 'शास्त्र' कहलाता है । शासन का अर्थ मनुष्य को किसी कार्य में प्रवृत्त करना या किसी कार्य से निवृत्त करना होता है । अतः प्रवृत्ति-निवृत्ति करने वाले ग्रन्थ 'शास्त्र' कहलाते हैं । काव्य का मुख्य प्रयोजन प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं, रसास्वान है । अर्थात् कर्तव्याकर्तव्य का उपदेश काव्य का गौण प्रयोजन है, किन्तु इतना अवश्य है कि काव्य के साथ 'शास्त्र' शब्द का सम्बन्ध जुड जाने से उसका महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया है ।

ग्यारहवीं शताब्दी में 'सरस्वतीकण्ठाभरण' के रचयिता भोजदेव ने मुख्य रूप से

इस शास्त्र के लिए 'काव्यशास्त्र' पद का प्रयोग किया है। वस्तुतः भोज ने काव्य का मुख्य प्रयोजन प्रवृत्ति-निवृत्ति को ही माना है। पर यह उनका मत बहुजन समादृत नहीं है। अधिकांश विद्वानों की दृष्टि में उपदेश काव्य का मुख्य प्रयोजन नहीं है, अपितु गौण प्रयोजन है। भोज ने काव्य के साथ 'शास्त्र' शब्द जोड़कर उसकी गौरव वृद्धि करने का प्रयत्न तो किया है, पर उस यत्न में वे काव्य के आत्मा को भूल गये हैं।

ऐसा प्रतीत होता है, अलङ्कार एवं साहित्य के समान 'काव्यलक्षण' शब्द भी काव्य विवेचना के लिए एक पर्याय था। भामह ने काव्यालङ्कार के अर्थ में 'काव्यलक्ष्म' शब्द का एक स्थान पर प्रयोग किया है। दण्डी ने भी -**यथासामर्थ्यमस्माभिः क्रियते काव्यलक्षणम्** इस प्रकार काव्यलक्षण शब्द का स्पष्ट रूप में प्रयोग किया है। काव्य के विवेचक के अर्थ में अलङ्कार शब्द से आलङ्कारिक शब्द बना। ध्वन्यालोक में विदित होता है कि ठीक इसी प्रकार 'काव्यलक्षण' शब्द से 'काव्यलक्षणकारी' 'काव्यलक्षणविधायी' एवं 'काव्यलक्ष्मविधायी' आदि शब्द भी बने हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि काव्य सौन्दर्य की परख करने वाले इस शास्त्र के लिए (1) काव्यालङ्कार (2) काव्यशास्त्र (3) अलङ्कारशास्त्र (4) साहित्यशास्त्र (5) साहित्यविद्या आदि अनेक नामों का प्रयोग होता आया है। उक्त संज्ञाओं से भिन्न एक और संज्ञा भी इस शास्त्र के लिए थी, वह है, 'क्रियाकल्प' क्रियाकल्प का अर्थ है - काव्यकरण के नियम। हमारे विचार में यह संज्ञा काव्यालङ्कार तथा काव्यलक्षण संज्ञाओं से पूर्वकालिक है और साहित्यशास्त्र के विकास के आरम्भकालीन प्रायोगिक अवस्था की द्योतक है।

इसका निर्देश वात्स्यायन के (सन् 250 ईसवी के लगभग) 'कामसूत्र' में 64 कलाओं की सूची में प्राप्त होता है। उसमें 'संपाठ्य' 'मानसी काव्यक्रिया' 'अभिधानकोष' 'छन्दोज्ञान' 'क्रियाकल्प' - इस क्रम से कलाओं के नाम दिये गये हैं। कामसूत्र के टीकाकार 'यशोधर' ने लिखा है कि अभिधानकोष, छन्दोज्ञान तथा क्रियाकल्प- ये तीनों कलाएँ काव्यक्रिया की अङ्गभूत हैं एवं इन तीनों का ज्ञान काव्यनिर्माण तथा काव्यपरिशीलन के लिए आवश्यक है। यशोधर ने काव्यक्रिया, काव्यनिर्माण तथा क्रियाकल्प 'काव्यकरणविधि - अर्थात् 'काव्यालङ्कार' - इस प्रकार पर्याय दिये हैं। केवल 'कामशास्त्र' में ही नहीं, अपितु 'ललितविस्तर' नामक बौद्धग्रन्थ में भी 'क्रियाकल्प' शब्द का प्रयोग किया गया है। रामायण में भी 'क्रियाकल्प' का निर्देश है। रामायण के कवि ने कहा है कि रामसभा में लव और कुश के रामायण गान के समय श्रोताओं में पौराणिक, शब्दवेत्ता, गान्धर्व वेत्ता, कलावान्, छन्दशास्त्रज्ञ तथा 'क्रियाकल्पविद्' उपस्थित थे। (रामायण उ.का.94/5-7) काव्य के समीक्षक जिस सभा में हों वहाँ शब्दज्ञ तथा छन्दशास्त्रज्ञों के साथ सिवा आलङ्कारिकों के कौन आसनग्रहण कर सकता है ? इसलिए यहाँ भी 'क्रियाकल्पविद्' का

अर्थ 'काव्यरचनाशास्त्र' ही करना पडता है । क्रियाकल्प का 'काव्यलङ्कार' अर्थ स्वीकार करने से क्रिया = काव्य *यह अर्थ भी क्रमप्राप्त होता है । कालिदास ने भी मालविकाग्निमित्र* में अपनी नाट्य कृति के लिए 'क्रिया' शब्द का प्रयोग किया है ।

इस प्रकार 'काव्यशास्त्र' के लिए (1) काव्यालङ्कार (2) काव्यशास्त्र (3) अलङ्कारशास्त्र (4) साहित्यशास्त्र और (5) क्रियाकल्प, इन पांच नामों का प्रयोग प्रायः होता रहा है । भामह, उद्भट, रुद्रट, वामन और कुन्तक ने इनमें से 'काव्यालङ्कार' शब्द को अधिक पसन्द क्रिया है, इसलिए अपने ग्रन्थों के *नाम 'काव्यालङ्कार' रखे हं। कुन्तक का ग्रन्थ यद्यपि 'वक्रोक्तिजीवित'* नाम से प्रसिद्ध है, तथापि उसने अपने ग्रन्थ के दूसरे भाग - 'वृत्तिभाग' का नाम 'वक्रोक्तिजीवित' रखा है और मूलकारिकाभाग का नाम 'काव्यालङ्कार'। कुन्तक ने प्रारम्भ में ही लिखा है - **लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये । काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते । व क्रोक्ति जीवित 1-2**

नाट्यशास्त्र और अग्निपुराण में अलङ्कारों का निरूपण किया गया है । *अग्निपुराण के बाद जो साहित्य के लक्षणग्रन्थ भामह दण्डी वामन*, उद्भट और रुद्रट द्वारा लिखे गये हैं, उन सभी में अलङ्कारों का पर्याप्त विवेचन ही नही, अपितु उन ग्रन्थो के नामों में भी, एक दण्डी के काव्यादर्श को छोडकर काव्यालङ्कार का प्रयोग किया गया है । इसे हम आगे देखेंगे इसके द्वारा अलङ्कारों का महत्त्व निस्सन्देह सिद्ध होता है । नाट्यशास्त्र और अग्निपुराण के बाद यद्यपि सबसे *प्रथम अलङ्कारों का अधिक* विवेचन हमको भामह के *काव्यालङ्कार* में ही मिलता है, किन्तु भामह द्वारा जो अलङ्कार लिखे गये हैं, वे प्रायः विभिन्न स्रोतों से एकत्र किये गये हैं । भामह स्वयं अपने को काव्यालङ्कार (5/69) में अलङ्कारसिद्धान्त का प्रवर्तक नहीं, किन्तु परिपोषक और परिवर्धक मात्र बताता है। ऐसी स्थिति में उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर भामह को अलङ्कारसम्प्रदाय *का प्रधान प्रतिनिधि कहा जा सकता है। भामह के पश्चात् इस सम्प्रदाय के उल्लेखनीय* प्रतिनिधि दण्डी, उद्भट, रुद्रट और उद्भट के व्याख्याकार प्रतिहारेन्दुराज हैं, जिनके द्वारा प्रारम्भिक काल में इस सिद्धान्त पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है । इन आचार्यों के ग्रन्थों में एक रुद्रट को छोड़कर, जिसने रस विषय पर भी विवेचन किया है, अलङ्कार-विषय का ही प्राधान्य है , किन्तु इसका *अर्थ यह* नहीं कि भामहादि, *काव्य में अन्य पदार्थ*- रस, *भाव*, *गुण आदि* की आवश्यकता नहीं मानते थे, क्योंकि इन सभी आचार्यों ने रसादिक का भी न्यूनाधिक उल्लेख किया है और भामह एवं दण्डी ने तो गुणों का भी निरूपण किया है, किन्तु इन आचार्यों ने काव्य में प्रधानता अलङ्कारों को ही दी है अतएव इनके मतों के निष्कर्ष रूप में रुय्यक ने कहा है - 'अलङ्कारा एवं काव्ये प्रधानमितिप्राच्यानां मतम्' । (अलङ्कार सर्वस्व) *तात्पर्य यह कि भामह*, दण्डी, और *उद्भट के बाद साहित्याचार्यों* का रस, अलङ्कार और रीति आदि की प्रधानता के विषय में मतभेद होने पर भी प्रायः सभी आचार्यों ने अलङ्कारों को काव्य में महत्त्वपूर्ण पदार्थ समझा

है और अलङ्कारों का मनोविज्ञान के आधार पर अत्यन्त सूक्ष्मदृष्टि से गम्भीरतापूर्वक विवेचन किया है ।

अतः प्रायः साहित्य के ग्रन्थों के अधिक भाग में अलङ्कार विषय का निरूपण ही देखा जाता है, यहाँ तक कि किसी किसी ग्रन्थ में तो केवल अलङ्कार विषय ही दृष्टिगत होता है । इसके द्वारा भी अलङ्कार सम्प्रदाय का महत्त्व स्पष्ट सिद्ध होता है । अब यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि **अलङ्कार पदार्थ क्या है ?**

लोक में जिस प्रकार रत्नादि के निर्मित आभूषण शरीर को अलङ्कृत करने के कारण अलङ्कार कहे जाते है, उसी प्रकार काव्य को शब्दार्थ द्वारा अलङ्कृत करने वाली रचना को काव्यशास्त्र में अलङ्कार कहते हैं । काव्य शब्द और अर्थ उभयात्मक है, अतः अलङ्कार भी शब्द और अर्थ में विभक्त हैं । शब्द रचना के वैचित्र्य द्वारा जो काव्य को अलङ्कृत करते हैं वे अनुप्रास आदि शब्दालङ्कार और अर्थ वैचित्र्य द्वारा जो काव्य को सुशोभित करते हैं, वे उपमा आदि अलङ्कार कहे जाते है । आचार्य भामह और दण्डी लोकोत्तर उक्तिवैचित्र्य या अतिशयोक्ति पर ही अलङ्कारत्व निर्भर बताते हैं, निष्कर्ष यह है कि उक्तिवैचित्र्य को ही काव्य में अलङ्कार कहते हैं ।

6.2 काव्य में अलङ्कार का स्थान

अब यह विचारणीय है कि काव्य में अलङ्कारों का क्या स्थान है । इसके लिये प्रथम यह द्रष्टव्य है कि काव्य में काव्यत्व की स्थिति किस पदार्थ पर निर्भर है । इस पर आचार्यों के विभिन्न मत है । ध्वचन्यालोक के पूर्व के साहित्य के ग्रन्थों में रस, गुण और अलङ्कार ही काव्य में चमत्कारक पदार्थ माने जाते थे । इस विषय में ध्वन्यालोक के पूर्ववर्ती आचार्यों के मत पर विचार करने पर विदित होता है कि

1. प्राचीनतम नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने काव्य में सर्वोपरि चमत्कारक पदार्थ रस को ही बताया है । उनके विचार में रसयुक्त होना ही काव्यत्व के लिये पर्याप्त है ।

2. अग्निपुराणकार ने काव्य में रस को जीवन सर्वस्व के रूप में स्वीकार कर, अलङ्कार और गुण की स्थिति भी काव्य में आवश्यक बतलाई है । उन्होंने कहा कि जिस प्रकार रस को काव्य का जीवनाधार बताया गया है, उसी प्रकार अलङ्काररहित काव्य को निधवास्त्री के समान चमत्कारहीन और गुणहीन काव्य को कुरुपा स्त्री के समान चित्ताकर्षक नहीं माना गया है । अर्थात् अग्निपुराण के मतानुसार काव्य में रस, अलङ्कार और गुण तीनों का ही होना परम आवश्यक हैं ।

3. भामह, अलङ्कार सम्प्रदाय के प्रधान प्रतिनिधि होने पर भी महाकाव्य में रस की स्थिति का होना आवश्यक बताने के पक्ष में है। उन्होंने रसों को रसवत् अलङ्कार के नाम से और भावों को 'प्रेय' अलङ्कार के नाम से अलङ्कारों के अन्तर्गत ही बतला दिया है।

4. दण्डी ने भी भामह के अनुसार अलङ्कारों में ही रसों और भावों का समावेश कर दिया है। (काव्यादर्श 2/75)

5. उद्‌भट ने भी रस और भावादि विषयों को अलङ्कारों के अन्तर्गत ही माना है। अतएव भामह, दण्डी और उद्‌भट के मतानुसार अलङ्कार की स्थिति ही प्रधानतया काव्यत्व के लिय पर्याप्त है।

6. वामन ने रसों को 'दीप्तरसत्वं कान्तिः' 3/2/15 के अनुसार गुणों के अन्तर्गत ही माना है और रीति को ही काव्य आत्मा माना है।

7. रुद्रट ने अलङ्कारों को शब्द और अर्थ को अलङ्कृत करने वाला कहा है। यहाँ स्मरणीय है कि रुद्रट ने रस को महत्त्व अवश्य दिया है, पर रस को काव्य का जीवन नहीं कहा है, और अलङ्कारों को अपने ग्रन्थ में प्रथम स्थान देकर तथा विस्तृत विवेचन करके अलङ्कारों को भी रस से कम महत्त्व नहीं दिया है। अत एव रुद्रट के मतानुसार केवल रस युक्त और केवल अलङ्कार युक्त रचना में भी काव्यत्व हो सकता है।

8. ध्वनिवादी आचार्यों ने रस को काव्य में सर्वोपरि पदार्थ मानते हुए भी ध्वनि सिद्धान्त के अन्तर्गत रस का समावेश करके अपने चिन्तन द्वारा रस को ध्वनि का ही एक प्रधान भेद नियत कर दिया। उन्हें वाच्यार्थरूप अलङ्कारों की स्थिति में भी काव्यत्व अभीष्ट है।

9. ध्वनिवादियों के बाद भोज ने रस को प्रधानता अवश्य दी है पर वक्रोक्ति अर्थात् स्वतन्त्र अलङ्कारों की स्थिति में भी काव्यत्व स्वीकार किया है।

10. आचार्य मम्मट ने दोष रहित, गुण एवं अलङ्कारयुक्त और कहीं स्फुट अलङ्कार न भी हो, ऐसे शब्द अर्थ को काव्य कहा है। अर्थात् मम्मट को नीरस और अस्फुट अलङ्कार वाली रचना में भी काव्यत्व स्वीकृत है।

11. जयदेव ने अलङ्कार को अधिक महत्त्व दिया है। उन्होंने अलङ्कार रहित रचना को चाहे वह रस, ध्वनि आदि युक्त भी हो, काव्य नहीं माना है।

12. विश्वनाथ ने ध्वनिकार और मम्मट का ही अनुसरण किया है। उन्होंने काव्य के 'वाक्यं रसात्मकं काव्य' इस लक्षण में काव्य को एकमात्र रस में ही मर्यादित कर

दिया है।

13. पण्डितराज जगन्नाथ ने रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य माना है। रमणीयता, चमत्कार पर निर्भर है। उनके अनुसार रस, रसातिरिक्त वस्तुध्वनि और अलङ्कार प्रत्येक में स्वतन्त्ररूप से काव्यत्व माना जा सकता है। उनकी शैली भिन्न होने पर भी प्रायः ध्वनिकार और मम्मट के मत के अनुकूल ही है।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार यह स्पष्ट है कि प्रायः सभी सुप्रसिद्ध आचार्यों ने काव्य में अलङ्कारों को महत्त्वपूर्ण माना है तथा उनके क्रमिक विकास पर भामह, दण्डी, उद्‌भट, रुद्रट, भोज, मम्मट, रुय्यक, जयदेव, विश्वनाथ, अप्यय्य दीक्षित और पण्डितराज जगन्नाथ ने उल्लेखनीय प्रकाश डाला है। अतएव अलङ्कार सम्प्रदाय के मुख्य परिपोषक ये ही आचार्य हैं।

6.3 अलङ्कार सम्प्रदाय का अर्थ

रस सम्प्रदाय के बाद दूसरा स्थान अलङ्कार सम्प्रदाय का आता है। जैसा कि हमने इस के पूर्व कहा है कि नाट्यशास्त्र और अग्निपुराण के बाद यद्यपि सबसे प्रथम अलङ्कारों का अधिक विवेचन हमको भामह के काव्यालङ्कार में ही मिलता है, किन्तु भामह द्वारा जो अलङ्कार लिखे गये हैं, वे प्रायः विभिन्न स्रोतों से एकत्र किये गये हैं। भामह स्वयं अपने को अपने ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' (5/69) में अलङ्कार सिद्धान्त का प्रवर्तक नहीं, अपितु परिपोषक और परिवर्धक मात्र बताता है। ऐसी स्थिति में उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर भामह ही अलङ्कार सम्प्रदाय का प्रधान प्रतिनिधि कहा जा सकता है। उनके मत के पोषक हैं - भामह के टीकाकार रुद्रट तथा उद्‌भट। दण्डी को भी अलङ्कार की प्रधानता किसी न किसी रूप में स्वीकृत थी। यह स्मरणीय है कि इस सम्प्रदाय के अनुसार अलङ्कार ही काव्य का जीवातु है। जिस प्रकार अग्नि को उष्णतारहित मानना हास्यास्पद है, उसी प्रकार काव्य को अलङ्कारहीन मानना अस्वाभाविक है।

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥

अलङ्कार मत को मानने वाले आचार्यों को 'रस' का तत्त्व अज्ञात न था, परन्तु उन्होंने इसे स्वतन्त्र स्थान न देकर उसे अलङ्कार का ही एक प्रकार माना है। 'रसवत्' 'प्रेय' 'उर्जस्वी' और 'समाहित' इन चारों अलङ्कारों के भीतर रस और भाव का समग्र विषय भामह के द्वारा अन्तर्निविष्ट किया गया है। दण्डी भी रसवत् अलङ्कार से परिचित हैं। उन्होंने आठ रस और आठ स्थायी भावों का निर्देश किया है। इस प्रकार अलङ्कार मत के ये आचार्य 'रसतत्त्व' को भली-भाँति जानते हैं, पर उसे अलङ्कार का ही एक प्रकार मानते हैं। ये 'प्रतीयमान' अर्थ से भी परिचित हैं, जिसे उन्होंने समासोक्ति, 'आक्षेप' आदि

अलङ्कारों के भीतर माना है । अलङ्कार के विशिष्ट अनुशीलन तथा व्याख्यान करने से वक्रोक्ति तथा ध्वनि की कल्पना प्रादुर्भूत हुई । इस प्रकार साहित्यशास्त्र के इतिहास में अलङ्कार मत की बड़ी विशेषता है । अलङ्कार को काव्य का जीवातु माने जाने के कारण यह विचारधारा अलङ्कार सम्प्रदाय के नाम से साहित्यशास्त्र के इतिहास में प्रसिद्ध है । काल क्रम में भरत के बाद होने वाले दूसरे आचार्य, भामह इस अलङ्कार-सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं । उद्भट, दण्डी, रुद्रट, प्रतिहारेन्दुराज तथा जयदेव आदि अनेक आचार्य इस अलङ्कारसम्प्रदाय के अन्तर्गत आते हैं ।

आचार्य भामह का परिचय

भामह के व्यक्तिगत परिचय के लिये उनके काव्यालङ्कार (6/64) के **'सुजनावगमाय भामहेन ग्रथितं रक्रिलगोमिनसूनुनेदम्'** इस अन्तिम पद्य के अतिरिक्त अन्य कोई साधन प्राप्त नही है । इसके द्वारा इतना ही ज्ञात होता है कि वह रक्रिलगोमिन् के पुत्र थे तथा काश्मीर के निवासी प्रतीत होते हैं। भामह का काव्यालङ्कार ही भरतपश्चात् युग का सर्वप्रथम मान्य ग्रन्थ है, जिसमें अलङ्कारशास्त्र नाट्यशास्त्र की परतन्त्रता से अपने को उन्मुक्त कर एक स्वतन्त्रशास्त्र के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होता है । भामह दण्डी के पूर्ववर्ती है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इनका समय षष्ठशतक का मध्य भाग माना है।

भामह के ग्रन्थ का नाम काव्यलङ्कार है । इसमें 6 परिच्छेद है । इन 6 परिच्छेदों तथा 400 सौ श्लोकों में अलङ्कारशास्त्र के समस्त प्रधान तथ्यों का समावेश किया गया है । भामह के सिद्धान्त समस्त आलङ्कारिकों को मान्य है । इनके कतिपय विशिष्ट सिद्धान्त है - क) शब्द अर्थ युगल का काव्य होना । शब्दार्थौ काव्यम् । ख) भरत प्रतिपादित दश गुणों का ओज, माधुर्य तथा प्रसाद इन गुणत्रय के भीतर ही समावेश । ग) वक्रोक्ति का समस्त अलङ्कारों का मूल होना । घ) दशविध दोषों का सुन्दर विवेचन ।

दण्डी

ये दक्षिण भारत के निवासी थे । इनका समय है सप्तम शतक । इनका काव्यादर्श पण्डितों में सदा लोकप्रिय रहा है । इस ग्रन्थ का अनुवाद कन्नड भाषा में, सिंघली ग्रन्थ 'सिय बसलकर' में तथा तिब्बती भाषा में उपलब्ध होता है । इस ग्रन्थ के चार परिच्छेद हैं तथा श्लोक 660 हैं । प्रथम परिच्छेद में काव्य का लक्षण, उसके भेद, वैदर्भी तथा गौडीरीति, दशगुणों का विस्तार बताया गया है। दूसरे में अलङ्कारों के लक्षण तथा उदाहरण दिए हुए हैं। दण्डी ने उपमा अलङ्कार के अनेक प्रकार दिखलाये हैं। तीसरे में शब्दालङ्कारों का, विशेषतः यमक अलङ्कार का व्यापक वर्णन है। चतुर्थ में दशविध दोषों का लक्षण तथा उनके उदाहरण दिये गये हैं । दण्डी ने भामह के सिद्धान्तों का खण्डन स्थान स्थान पर किया है । ये अलङ्कारसंप्रदाय के अनुयायी थे, पर वैदर्भी और गौडी रीतियों का पारस्परिक

भेद प्रथम बार दिखलाने का श्रेय इन्हे ही प्राप्त है । इस कारण ये रीति सम्प्रदाय के भी मार्गदर्शक माने जा सकते हैं ।

आचार्य वामन तथा उद्भट

काश्मीर नरेश जयापीड (अष्टमशतक) की सभा के पण्डित रत्न थे, जिनमें वामन ने अपने ग्रन्थ काव्यालङ्कारसूत्र में अलङ्कार तत्त्वों को नवीन सूत्र पद्धति से प्रस्तुत किया तथा उद्भट ने केवल अलङ्कारों का विस्तृत विवेचन अपने 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' ग्रन्थ में बड़ी प्रौढता के साथ निबद्ध किया । वामन रीतिसम्प्रदाय के संस्थापक थे, तो उद्भट अलङ्कारसम्प्रदाय के उन्नायकं थे । दोनों ही अपने विषय के मौलिक सिद्धान्तों के आविष्कर्ता आचार्य हैं । रीति काव्य की आत्मा है । इस सिद्धान्त के प्रतिपादन का श्रेय वामन को ही प्राप्त है। इनके विशिष्ट सिद्धान्त ये हैं-

1. गुण और अलङ्कार का परस्पर विभेद 2. वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली त्रिविध रीतियाँ 3.वक्रोक्ति का विशिष्ट लक्षण (सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः) 4. विशेषोक्ति का विचित्र लक्षण 5. आक्षेप की द्विविध कल्पना 6. समग्र अर्थालङ्कारों को उपमाप्रपञ्च मानना ।

उद्भट के काव्यालङ्कारसारसंग्रह ग्रन्थ में 41 अलङ्कारों का वर्णन है । ग्रन्थ का विषय अलङ्कार ही है। उद्भट, भामह के समान अलङ्कारसम्प्रदाय के अनुयायी होने पर भी भामह से अनेक सिद्धान्तों में भिन्नता रखते हैं । इनके कतिपय विशिष्ट सिद्धान्त ये है -

1. अर्थभेद से शब्दभेद की कल्पना (अर्थभेदेन तावत् शब्दाः भिद्यन्ते) 2. शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेषभेद से श्लेष के दो प्रकार और दोनों का अर्थालङ्कार होना जिसका विशिष्ट खण्डन मम्मट ने नवम उल्लास में किया है। 3. अन्य अलङ्कारों के योग में श्लेष की प्रबलता 4. तीन प्रकार से वाक्य का अभिधा व्यापार 5.अर्थ की द्विविध कल्पना-विचारित सुस्थ तथा अविचारित रमणीय । 6. गुणों को संघटना का धर्म मानना ।

रुद्रट

रुद्रट नवम शती के आचार्य हैं । ये काश्मीर के रहने वाले थे । इनका 'काव्यालङ्कार' कारिकाओं के द्वारा काव्यशास्त्र के समग्र विषयों का विस्तार से बोधक ग्रन्थ है । अलङ्कार का विस्तृत तथा सुव्यवस्थित वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है । अलङ्कारों की समीक्षा ही इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है । इस में पद्यों की संख्या 734 है और उदाहरण उनकी निजी रचनाएँ है। रुद्रट अलङ्कार सम्प्रदाय के अनुयायी हैं । इन्होंने सर्वप्रथम अलङ्कारों का वैज्ञानिक विभाग किया है तथा अलङ्कारों के लिए चार मूल तत्त्व खोज निकाले हैं - 1. वास्तव 2. औपम्य 3. अतिशय और 4. श्लेष ।

भामह और उद्भट के द्वारा व्याख्यात अनेक अलङ्कारों को रुद्रट ने छोड दिया है और कहीं-कहीं उनके लिए नये नामों का उल्लेख किया है । यथा - रुद्रट का व्याजश्लेष (10/11) भामह की व्याजस्तुति है। कहीं-कहीं इन्होंने नये अलङ्कारों की भी कल्पना की है । रसों का भी इन्होंने विस्तार के साथ वर्णन किया है । पर इनका आग्रह अलङ्कार के ऊपर ही है ।

भोजराज -

11 वें शतक के आचार्य हैं । इनके के दोनों ग्रन्थ 'सरस्वतीकण्ठाभरण' तथा 'शृङ्गारप्रकाश' अलङ्गार के तत्त्वों की जानकारी के लिए विश्वकोष हैं । ये दोनों ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं । पहले में अलङ्कार, गुण, दोष का विस्तृत विवेचन है, तो दूसरे में रस का निरूपण मार्मिक ढंग से किया गया है ।

रुय्यक

ये भी काश्मीर के निवासी थे । इनका समय 11 वीं शताब्दी का मध्य भाग है। इनकी प्रसिद्ध रचना अङ्कारसर्वस्व है । जिसमें 75 अर्थालङ्कार तथा 6 शब्दालङ्कारों का पाण्डित्य पूर्ण वर्णन है । यह राजानक तिलक के पुत्र थे ।

6.4 आचार्य मम्मट और उनका काव्यप्रकाश

काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट कश्मीर निवासी थे, परन्तु इनके जीवनवृत्तादिक का अधिक परिचय नहीं मिलता । ध्वनिविरोधियों के मत का खण्डन आचार्य मम्मट ने इतने सुचारु रूप से किया है कि उनके अनन्तर किसी को ध्वनि का विरोध करने का साहस न रहा । इसी कारण मम्मट को 'ध्वनिप्रस्थापन परमाचार्य' की उपाधि दी गई है । कहा जाता है कि महाभाष्य प्रदीप के रचयिता कैयट तथा वेदभाष्यकार उव्वट इनके अनुज थे । भोजराज की दानशीलता की इन्होंने प्रशंसा की है । अतः इनका समय एकादश शतक का उत्तरार्ध है । मम्मट बडे भारी विद्वान् थे और वे बहुश्रुत वैयाकरण भी प्रतीत होते हैं । इनकी लेखन शैली सूत्रात्मक है, तभी तो इनके काव्यप्रकाश की विपुल टीकाओं के होने पर भी यह आज भी वैसा ही दुर्गम माना जाता है।

काव्यप्रकाश के तीन अंश है - कारिका (142 कारिकाएँ) वृत्ति (गद्यात्मक) तथा उदाहरण । कुछ कारिकाएँ भरत से ली गई हैं । समग्र कारिकाएँ भरत मुनि के द्वारा निर्मित हैं, यह प्रवाद मात्र है । मम्मट ही दोनों (कारिका तथा वृत्ति) के रचयिता हैं । इसमें दश उल्लास हैं, जिनमें क्रमशः काव्यरूप, वृत्तिविचार, ध्वनि भेद, गुणीभूतव्यङ्ग्य, चित्रकाव्य, दोष, गुण, शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार का विवेचन है । यह ग्रन्थ नितान्त प्रौढ़, सारगर्भित तथा पाण्डित्यपूर्ण है । ध्वनिमार्ग का इससे सुन्दर विवेचन अन्यत्र नहीं उपबल्ध होता।

इसके ऊपर टीका लिखना पाण्डित्य की कसौटी समझी जाती थी । भगवद्गीता के बाद काव्यप्रकाश पर ही सर्वाधिक टीकाएँ लिखी गई हैं । काव्यप्रकाश पर अब तक लगभग 75 टीकाएँ संस्कृत में ही लिखी जा चुकी है । हिन्दी में भी अनेक टीकाएँ लिखी गयी हैं। अंग्रेजी भाषा में भी उसका अनुवाद हो चुका है । काव्यप्रकाश के विषय में प्रसिद्ध है कि उसकी टीकाएँ घर-घर में विद्यमान है, किन्तु ग्रन्थ आज भी वैसा ही दुरुह बना हुआ है।

काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे, टीकास्तथाप्येष तथैव दुर्गमः ।।

काव्यप्रकाश पर टीका लिखना गौरवास्पद कार्य समझकर ही विश्वनाथ कविराज जैसे मौलिक ग्रन्थों के रचयिता विद्वानों ने भी इस पर व्याख्या लिखना परम प्रतिष्ठा माना है । दशम उल्लास के परिकर अलङ्कार तक ग्रन्थ मम्मट की रचना है । अगला भाग अलक या अल्लट नामक किसी काश्मीरी विद्वान् ने लिखकर ग्रन्थ पूरा किया है ।

काव्यप्रकाश का विषय विवरण

काव्यप्रकाश में 142 कारिकाएँ 10 उल्लासों में विभक्त हैं और 603 पद्य उदाहरणों के हैं । विषयक्रम इस प्रकार है -

1. प्रथम उल्लास में काव्यप्रयोजन, काव्य हेतु काव्य का सामान्य लक्षण और उसके तीन भेद - उत्तम, मध्यम और अधम अर्थात् ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य और अलङ्कार के सामान्य लक्षण और उदाहरण ।
2. द्वितीय में शब्द के वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य इन तीन अर्थों का और चौथे तात्पर्यार्थ का स्पष्टीकरण है। तदनन्तर लक्षणा और व्यञ्जना का निरूपण ।
3. तृतीय में पूर्वोक्त वाच्य आदि तीन अर्थों की व्यञ्जकता का निदर्शन है ।
4. चतुर्थ में ध्वनि के भेद और रसों एवं स्थायी भावों, विभावों तथा व्यभिचारी भावों की स्पष्टता और ध्वनि भेद का निरूपण है ।
5. पञ्चम में काव्य के द्वितीय भेद गुणीभूतव्यङ्ग्य और व्यञ्जना का प्रतिपादन है महिमभट्ट के ध्वनिविषयकमत का खण्डन हैं ।
6. छठे में काव्य के तीसरे चित्र अर्थात् शब्द के भेद और अर्थ के अलङ्कारों का विभाजन ।
7. सप्तम में दोष प्रकरण ।
8. अष्टम में गुण और अलङ्कार का स्वरूप और गुण एवं रीति के विवेचन में अन्य आचार्यों की आलोचना
9. नवम में शब्दालङ्कार के वक्रोक्ति आदि 8 विशेष भेद निरूपित है ।

10. दशम में उपमा, आदि 62 अलङ्कारों के विशेष भेद जिनमें अतद्गुण, मालादीपक, विनोक्ति, सामान्य और सम ये पांच अलङ्कार सम्भवतः मम्मट द्वारा नवाविष्कृत हैं, जो मम्मट के पूर्वाचार्यों ने नहीं लिखे हैं ।

6.5 काव्यप्रकाशकार मम्मट का वैशिष्ट्य

काव्य का लक्षण - लक्षण दो प्रकार के होते है - 1.बहिरङ्ग निरूपक और 2. अन्तरङ्ग-निरूपक । बहिरङ्गनिरूपक लक्षण में उस वस्तु के स्वरूप का बोध कराने के लिए वस्तु के बाहरी चिह्नों का वर्णन किया जाता है तथा अन्तरङ्गनिरूपण लक्षण में वस्तु के भीतरी चिह्नों का वर्णन किया जाता है । काव्य के दोनों प्रकार के लक्षण संस्कृत आलोचना शास्त्र में मिलते हैं । प्रथम में काव्य के बाहरीरूप का, उसके अवयवों का, उसके अङ्गों के संघटन का वर्णन किया जाता है और दूसरे में वह विशेषता दिखाई जाती है, जो केवल काव्य में ही प्राप्त होती है । अन्यत्र नहीं । आचार्य मम्मट का काव्यलक्षण प्रथम प्रकार का है और विश्वनाथ तथा पं. जगन्नाथ का काव्यलक्षण दूसरे प्रकार का ।

आचार्य मम्मट की दृष्टि में काव्य का लक्षण है - **'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।**

अर्थात् काव्य होता है, शब्द और अर्थ - जो दोष से रहित हो, गुण से मण्डित हों तथा कहीं पर अलङ्कार से हीन भी हो सकते हैं । इस लक्षण में काव्य के अङ्ग तथा उपांगों की विशिष्टता का वर्णन किया गया है । काव्य में शब्द तथा अर्थ का मञ्जुल समन्वय होता है । अतः शब्द तथा अर्थ को काव्य शब्द से विभूषित किये जाने के लिए तीन विशिष्टताओं की आवश्यकता होती है, इसलिए वे दोषरहित होने चाहिए । श्रुतिकटुता, संस्कार हीनता, भग्नप्रक्रमता आदि दोष शब्द और अर्थ में होने पर काव्य की सिद्धि नहीं होती । क्या ऐसा होने पर उसे काव्य नहीं कह सकते ? वह काव्य अवश्यमेव रहता है परन्तु वह दुष्टकाव्य हो जाता है । केवल दोष के होने पर काव्य त्याज्य नहीं होता । क्योंकि सब दोष, दोष नहीं होते । रस के दोष ही काव्य के मुख्य दोष होते है। जिन्हें दूर करना परम आवश्यक होता है । क्षुद्र दोष काव्य में भले ही बने रहें यदि रसदोष उसमें नहीं है, तो वह सच्चा काव्य होता है । अतः 'शब्दार्थौं' के लिए मम्मट ने जो अदोषौ - दोष रहित विशेषण दिया है, वह सर्वथा उचित है । गुण युक्त होने चाहिए और अलङ्कार युक्त भी, कभी-कभी अलङ्कार विरहित होने पर भी शब्द तथा अर्थ को काव्य कहते हैं । मम्मट काव्य में अलङ्कार की अनिवार्यता नहीं मानते । उनके विचार में काव्य में रस होने पर अलङ्कार का होना आवश्यक नहीं अपितु काव्य में चमत्कार होना आवश्यक है । यह चमत्कार दो प्रकार से हो सकता है । 1. अलङ्कार के द्वारा अथवा 2. रस के द्वारा । उनके विचार में अलङ्कार की अपेक्षा गुण का होना आवश्यक है, काव्य में अलङ्कार से विहीन शब्दार्थ हो सकते हैं,

परन्तु शब्दार्थ गुणविहीन नहीं हो सकते, क्योंकि काव्य में रस आदि वर्णनीय विषय के अनुकूल माधुर्यादि गुणों की व्यञ्जक रचना का होना भी परमावश्यक है। इसलिये वर्णनीय रस के प्रतिकूल शब्दार्थरचना के होने मे दोष माना गया है । अतएव यहाँ सगुणौ का प्रयोग गुण व्यञ्जक शब्दार्थ के लिए किया गया है । जैसा कि प्रदीपकार ने सगुणौ की व्याख्या में स्पष्ट कहा है - **गुणस्य रसनिष्ठत्वेऽपि तद्व्यञ्जकपरं गुणपदम्** । इस प्रकार मम्मट का यह काव्यलक्षण काव्य का वर्णनात्मक लक्षण कहा जा सकता है । उनके विचार में काव्य में ऐसे शब्दार्थ होने चाहिए, जिनमें दोष का परिहार हो और गुणों की सम्पत्ति हो, अलङ्कार अनिवार्य नहीं होता । अलङ्कार से रहित होने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं होती।

मम्मट के पूर्ववर्ती भामह, दण्डी, उद्‌भट और वामन आदि सभी ने अलङ्कार, गुण, रीति विषयक न्यूनाधिक निरूपण किया है और रुद्रट एवं भोज ने रस विषय का भी, किन्तु इनमें से किसी ने भी इस रहस्य पर प्रकाश नहीं डाला कि काव्य के रस, अलङ्कार, गुण और रीति आदि जो पदार्थ हैं उनका काव्य में क्या-क्या स्थान है, यद्यपि वामन ने रीति को काव्य की आत्मा बतलाकर प्रधानता दी थी, किन्तु आचार्य मम्मट ने रीति को इस अधिकार के अयोग्य बतलाकर वामन के इस मत का बहुत ही मार्मिक खण्डन किया है।

ध्वनिकारों ने काव्य में ध्वनि का साम्राज्य स्थापित करके भी अन्य काव्य विषयों का स्थान स्पष्टतया निर्दिष्ट नहीं किया था, किन्तु आचार्य मम्मट ने ही सर्वप्रथम ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य और अलङ्कारों को, उत्तम, मध्यम और अधम काव्य की संज्ञा निर्दिष्ट करके इस जटिल समस्या की पूर्ति की है । यही नहीं, ध्वनिकारों ने जिस व्यङ्ग्यार्थ और व्यञ्जना के आधार पर ध्वनि सिद्धान्त का विशाल भवन खडा किया था, उस पर महिम भट्ट ने तीव्र प्रहार करके उसके अस्तित्व को ही समूल नष्ट करने की चेष्टा की थी, आचार्य मम्मट ने अपनी मार्मिक विवेचना के शिल्पचातुर्य द्वारा ध्वनिसिद्धान्त के उस भवन को और अधिक परिष्कृत करके उसे अधिक चमत्कृत और चित्ताकर्षक भी बना दिया । यह आचार्य मम्मट द्वारा की गई मार्मिक विवेचना का ही फल है कि मम्मट के परवर्ती हेमचन्द्र, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ जैसे सभी सुप्रसिद्ध आचार्यों को ध्वनि सिद्धान्त पर आक्षेप करने का साहस न हो सका । मम्मट के सम्मुख पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थ थे। उन सभी को उन्होंने सम्मान की दृष्टि से देखा, किन्तु किसी का भी दासवत् अनुसरण नहीं किया । मम्मट ने जिसका जो मत उचित प्रतीत हुआ उसे अपने प्रतिपाद्य विषय में उद्‌धृत किया है और जो मत प्रतिकूल प्रतीत हुआ उसकी आलोचना भी की है पर क्रूर शब्दों में नहीं । दण्डी और वामनादि ने शब्द के 10 गुण बताये हैं, किन्तु मम्मट ने केवल तीन गुण ही स्वीकार किये है । शेष सात गुणों में किसी को अपने स्वीकृत उक्त तीन गुणों के अन्तर्गत, किसी को दोष का अभाव और किसी को रस - विशेष में दोषरूप प्रतिपादन करके युक्तिपूर्वक अस्वीकार किया है। वामनादि ने और श्री भरत मुनि ने भी अर्थ के 10

गुण बताए हैं। इस मत को भी मम्मट ने विस्तृत विवेचन के उपरान्त अस्वीकार कर दिया है। रुद्रट के बहुत से पद्य काव्यप्रकाश के उदाहरणों में उद्धृत हैं। श्लेष प्रकरण में मम्मट ने अपने मत के समर्थन में रुद्रट के मत को उद्धृत किया है, किन्तु रुद्रट के व्यधिकरण और एक देश में समुच्चय अलङ्कार का खण्डन किया है। उद्भट की कुछ कारिकाओं के अंश काव्यप्रकाश में लिये गये हैं, किन्तु उनके श्लेषविषयक मत का मम्मट ने खण्डन किया है। अन्यत्र गुण और अलङ्कार के भेद का प्रतिपादन करते हुए भी मम्मट ने उद्भट के मत का खण्डन किया है।

ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य, मम्मट के अत्यन्त श्रद्धेय थे अतएव उनके मतों को मम्मट ने अपने प्रतिपाद्य विषयों के समर्थन में अनेक स्थलों पर उधृत किया है, किन्तु उनकी आलोचना करने में भी मम्मट ने संकोच नहीं किया है। इसके अतिरिक्त काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास में तो दोषों के उदाहरणों में कालिदास आदि प्रायः अनेक सुप्रसिद्ध महाकवियों की कृतियों में से दोष प्रदर्शित किये गये हैं। अतएव स्पष्ट है कि मम्मटाचार्य एक अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न उत्कट विद्वान् होने के सिवा स्वतन्त्र विचार के समालोचक भी थे। इसी से अल्पसमय के पश्चात् भी लगभग एक शताब्दी के बाद ही इनकी वाग्देवी सरस्वती के अवतार के रूप में प्रसिद्धि हो गई। मम्मट का एक ग्रन्थ शब्दव्यापारविचार भी निर्णयसागर प्रेस से मुद्रित हुआ है। उसमें शब्दवृत्ति, लक्षणा, व्यञ्जनादि का विस्तृत विवेचन है।

6.6 अलङ्कारों का क्रम विकास

अलङ्कारों के क्रम विकास पर दृष्टिपात करने पर विदित होता है कि महामुनि भरत ने नाट्यशास्त्र में सबसे प्रथम चार ही अलङ्कार माने हैं - यमक, उपमा, रूपक तथा दीपक, जिनमें यमक शब्दालङ्कार का प्रतिनिधि है तथा अन्य तीन अर्थालङ्कार के। इन्हीं चार अलङ्कारों का विकास होते-होते अलङ्कारों की संख्या 'कुवलयानन्द' (17वीं शती) में 125 तक पहुँच गई है। संख्या में वृद्धि का क्रम इस प्रकार देखा जा सकता है-

नाट्यशास्त्र के बाद अग्निपुराण में 16 अलङ्कारों की संख्या अलङ्कारों के आंशिक क्रम विकास की प्रथमावस्था सूचित करती है। उसके बाद लगभग ईसा की छठी शताब्दी के पूर्व के ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। फिर भी भामह और भट्टि के ग्रन्थों में जो अलङ्कारों की संख्या 38 है, वह भामह या भट्टि द्वारा ही परिवर्द्धित नहीं की गई है। अतः अलङ्कारों का विकास शनैः शनैः होता रहा है। भामह और भट्टि के बाद (छठीशती के बाद) दण्डी, उद्भट और वामन के समय (8 वीं शती ईस्वी) तक अलङ्कारों की संख्या लगभग 52 हो गई है। यह अलङ्कारों के क्रम-विकास का द्वितीय काल है। उसके बाद ईसा की नवीं शताब्दी के रुद्रट से लेकर महाराजा भोज, आचार्य मम्मट और रुय्यक इन चार आचार्यों के समय तक (सन् 1150 ई तक) अलङ्कारों की संख्या 103 तक पहुँच गई है। अलङ्कारों के क्रम-

विकास का यह काल महत्त्वपूर्ण है । उसके बाद जयदेव, विश्वनाथ, अप्पय्य दीक्षित तथा कुछ अन्य लेखक और पण्डितराज जगन्नाथ के समय तक (18 वीं शती ई.) अलङ्कारों की संख्या यद्यपि 191 (लगभग) तक पहुँच गई है, किन्तु इस संख्या में बहुत से अलङ्कार ऐसे भी हैं जो आचार्यों ने स्वतन्त्र लिख दिये है । जिनमें चमत्कार न होने के कारण उनका अन्य अलङ्कारों के अन्तर्गत समावेश हो जाता है । इसी प्रकार कुछ अलङ्कार ऐसे भी हैं जिनमें चमत्कार सर्वथा न होने के कारण आचार्यों द्वारा स्वीकार नहीं किये गये है । यहाँ स्मर्तव्य है कि अलङ्कारों की उक्त संख्या में ही विकास नहीं है, अलङ्कारों के स्वरूप में भी पर्याप्त विकास होता गया है । यहाँ तक कि पुराने अलङ्कारों को हम नये अलङ्कार के रुप में ही नहीं पाते, प्रत्युत उन्हें नये काव्यतथ्य के रूप में भी पाते हैं । 'वक्रोक्ति' इसका स्पष्ट उदाहरण है । यह भामह आदि प्राचीन आलङ्कारिकों में केवल अलङ्कार है, परन्तु कुन्तक ने इसे ऊपर उठाकर काव्य के व्यापक सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया है । अलङ्कारों के स्वरूप में महान् भेद भी है । 'स्वभावोक्ति' सर्वत्र एक नहीं है । सामान्यतः यह एक अलङ्कार ही है, परन्तु कुन्तक और महिमभट्ट इसे अलङ्कार न मानकर 'अलंकार्य' मानते है। दण्डी ने इसे 'आद्यालंकृति' (प्रथम अलंकार) माना है । रुद्रट ने भी इसके आधार पर वास्तव को अलंकार के विभाजन में एक मुख्य साधन माना है । भोजराज भी 'स्वभावोक्ति' को एक पृथक् अलङ्कार के रूप में मानते हैं, परन्तु कुन्तक ने इस पर बड़ा ही मार्मिक विचार कर इसे अलङ्कार न मानकर अलंकार्य माना है, वस्तु के स्वभाव का कथन प्रथमतः मुख्य रूप से होना चाहिए और तभी आगे चलकर उसे अलङ्कारों से सजाया जाता है । 'स्वभावोक्ति' भित्ति के समान है और चित्रों की कल्पना अलङ्कार के समान है । इस प्रकार 'स्वभावोक्ति' की कल्पना स्थूल से सूक्ष्म होती गई है ।

सूक्ष्म विभाजन इस विकास का अन्यतम रूप है । प्राचीनों ने जहाँ किसी अलङ्कार का एक या दो भेद माना है, पिछले आलंकारिकों ने वहाँ अपनी बुद्धि से नये-नये प्रकारों को खोज निकाला है । 'तुल्ययोगिता' का एक ही प्रकार काव्यप्रकाश में वर्णित तथा विवेचित है, परन्तु अप्पय्य दीक्षित ने इसके चार विभिन्न रूपों का वर्णन किया है । 'निदर्शना'के केवल दो प्रकारों का लक्षण काव्यप्रकाश में मिलता है, परन्तु कुवलयानन्द में उसके पाँच प्रकारों की मीमांसा है । 'भाविक' कभी प्रबन्ध का एक सर्वातिशायी व्यापक तत्त्व माना जाता था । वही पिछले युग में केवल सामान्य अलङ्कार के रूप में दिखायी पडता है । किसी अलङ्कार के महत्त्व घटने का यह अच्छा उदाहरण है ।

000

इकाई - 7 अलङ्कार सम्प्रदाय

इकाई की रूपरेखा -

7.1 अलङ्कारों के विभाजक तत्व

7.2 शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार का भेद

7.3 अलङ्कारों की संख्या

7.4 अनुप्रास अलंकार

7.4.1 छेकानुप्रास अलङ्कार

7.4.2 वृत्यनुप्रास

7.4.3 लाटानुप्रास

7.5 यमक अलङ्कार

7.5.1 लाटानुप्रास और यमक का भेद

7.5.2 सन्दंश यमक

7.5.3 युग्म यमक

7.5.4 महायमक

7.5.5 पादभागावृत्ति 'सन्दाष्टक' यमक

7.5.6 आद्यान्तिक यमक

7.6 श्लेष-श्लेषरूप शब्दालङ्कार

7.6.1 वर्ण श्लेष

7.6.2 पदश्लेष

7.6.3 लिङ्गश्लेष तथा वचन श्लेष

7.6.4 भाषा श्लेष

7.6.5 प्रकृति श्लेष

7.6.6 प्रत्यय श्लेष

7.6.7 विभक्ति श्लेष

7.6.8 अभङ्ग श्लेष

7.6.9 श्लेष शब्दालङ्कार है या अर्थालङ्कार

पिछले यूनिट अलङ्कारसम्प्रदाय के परिचय में हमने यह देखा कि अलङ्कारसम्प्रदाय ने अलङ्कारों को काव्य का अपरिहार्य स्थिरतत्त्व माना है । उनके मत में अलङ्कार रहित काव्य की कल्पना, उष्णता रहित अग्नि की कल्पना के समान ही उपहासयोग्य है । अतः काव्य में इस तत्त्व की प्रधानता स्वीकार करने वाली विचारधारा को अलङ्कार सम्प्रदाय

के नाम से जाना जाता है । अतः प्रश्न उठता है कि वह कौन सा पदार्थ तत्त्व है ? जिसके कारण उस तत्त्व को अलङ्कार शब्द से जाना जाता है ? अतः इस द्वितीय यूनिट में सर्वप्रथम अलङ्कार के लक्षण पर विचार किया जाना अपेक्षित है।

अलङ्करोति इति अलङ्कारः यह है अलङ्कार शब्द की व्युत्पत्ति है । प्रायः सभी आचार्यों ने शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर माना है । अलङ्कार, शरीर के शोभाधायक पदार्थ होते है । यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि अलङ्कार, अलङ्कार्य का केवल उत्कर्षाधायक तत्त्व है, जीवनाधायक तत्त्व नहीं । इसीलिए मम्मट ने उन्हें काव्य के अस्थिर धर्म माना है । वे काव्य में रहने पर उसकी शोभा बढाते है, किन्तु न रहने पर काव्य की कोई हानि नहीं होती है । इसलिए काव्य में शब्द और अर्थ के उत्कर्षाधायक तत्त्व का ही नाम अलङ्कार है । अर्थात् अलङ्कार का आधार शब्द और अर्थ है । जिस प्रकार रत्नादि के निर्मित आभूषण शरीर को अलङ्कृत करने के कारण अलङ्कार कहे जाते है । उसी प्रकार काव्य को शब्दार्थ द्वारा अलङ्कृत करने वाली रचना को काव्यशास्त्र में अलङ्कार कहा जाता है।

7.1 अलङ्कारों के विभाजक तत्त्व

काव्य, शब्द और अर्थ उभयात्मक है, अतः अलङ्कार भी शब्द और अर्थ में विभक्त है । इसी आधार पर शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और उन दोनों के मिश्रण से बने हुए उभयालङ्कार इन तीन प्रकार के अलङ्कारों की कल्पना की गई है ।

7.2 शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार का भेद

शब्द रचना के वैचित्र्य द्वारा जो काव्य (रूप शरीर) को अलङ्कृत करते हैं वे अनुप्रास आदि शब्दालङ्कार होते है और अर्थवैचित्र्य द्वारा जो काव्य को सुशोभित करते हैं, वे उपमा आदि अर्थालङ्कार कहे जाते है ।

वस्तुतः शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार का भेद, शब्द के परिवर्तन सहत्व या परिवर्तनासहत्व के ऊपर निर्भर है । अर्थात् अलङ्कारों का शब्द और अर्थगत विभाजन अन्वय और व्यतिरेक पर निर्भर है । जहाँ शब्द का परिवर्तन करके उसका पर्यायवाचक दूसरा शब्द रख देने पर अलङ्कार नहीं रहता है, वहाँ यह समझना चाहिये कि उस अलङ्कार की स्थिति, विशेष रूप से उस शब्द के कारण ही थी । इसलिए उसे शब्दालङ्कार कहा जाता है । जहाँ शब्द का परिवर्तन करके दूसरा पर्यायवाचक शब्द रख देने पर भी उस अलङ्कार की सत्ता बनी रहती है, वहाँ अलङ्कार, शब्द के आश्रित नहीं, अपितु अर्थ के आश्रित रहता है, इसलिए उसको अर्थालङ्कार कहा जाता है । इस प्रकार जो अलङ्कार शब्द परिवर्तन को सहन नहीं करता है वह शब्दालङ्कार है, और जो शब्द परिवर्तन को सहन करता है, वह

अर्थालङ्कार होता है । दूसरे शब्दों में हम उक्त अलङ्कारों को इस प्रकार समझ सकते है - शब्द को चमत्कृत करने वाले अनुप्रास आदि अलङ्कार शब्द के आश्रित रहते है,अतः वे शब्दालङ्कार कहे जाते है । अर्थ को चमत्कृत करने वाले उपमा आदि अलङ्कार अर्थ के आश्रित रहते हैं, अतः वे अर्थालङ्कार कहे जाते है और जो अलङ्कार शब्द ओर अर्थ दोनों के आश्रित रहकर दोनों को चमत्कृत करते हैं, वे उभयालङ्कार कहे जाते हैं ।

7.3 अलङ्कारों की संख्या

शब्दालङ्कारों तथा अर्थालङ्कारों की संख्या के विषय में भी बड़ा मतभेद है । जैसें - प्राचीन आचार्यों वामन आदि ने केवल अनुप्रास और यमक दो की ही शब्दालङ्कारों में गणना की है, परन्तु मम्मट ने उनके साथ वक्रोक्ति, श्लेष, चित्र और पुनरुक्तवदाभास को भी शब्दालङ्कार माना है , परन्तु रुय्यक आदि पुनरुक्तवदाभास को अर्थालङ्कार मानते हैं। मम्मट आदि कुछ आचार्य सभङ्ग और अभङ्ग दोनों प्रकार के श्लेषों को शब्दालङ्कार ही मानते है । हालाँकि मम्मट ने श्लेष की गणना अर्थालङ्कार में भी की है पर वह श्लेष उक्त दोनों से भिन्न है ।

इस प्रकार आचार्य मम्मट ने 6 शब्दालङ्कार, 61 अर्थालङ्कार और 1 उभयालङ्कार माना हैं । शब्दालङ्कारों में मम्मट ने (1) वक्रोक्ति (2) अनुप्रास (3) यमक (4) श्लेष (5) चित्र और (6) पुनरुक्तवदाभास - ये 6 अलङ्कार माने है ।

7.4 अनुप्रास अलङ्कार

लक्षण - वर्णसाम्यमनुप्रासः

अर्थ - वर्णों के साम्य को अनुप्रास कहते हैं ।

'अनुप्रास' पद 'अनु' 'प्र' और 'आस' से मिलकर बना है । अनु का अर्थ है बार-बार 'प्र' का अर्थ है - 'प्रकर्ष' और 'आस' का अर्थ है न्यास (रखना) । वर्णों का (रस भाव आदि के अनुकूल) बार-बार प्रकर्षत के पास रखा जाना । वर्णों के साम्य कहने का अभिप्राय यह है कि स्वर और वर्ण दोनों के साम्य में तो अधिक चमत्कार होने के कारण अनुप्रास होता ही है, किन्तु स्वरों की समानता न होने पर भी केवल वर्णों के साम्य में भी अनुप्रास हो सकता है ।

भेद - अनुप्रास के प्रधान दो भेद हैं - वर्णानुसार और शब्दानुप्रास । वर्णानुप्रास में निरर्थक वर्णों की आवृत्ति होती है और शब्दानुप्रास में सार्थक वर्णो की आवृत्ति होती है । शब्दानुप्रास को ही पदानुप्रास या लाटानुप्रास भी कहते है । उसमें वर्णानुप्रास के छेकानुप्रास और वृत्यनुप्रास ये दो भेद होते हैं । यह (1) अनेक पदों की आवृत्ति रूप (2)

एक पद की आवृत्ति रूप (3) एक समास में आवृत्ति रूप (4) भिन्न समास में आवृत्ति रूप और (5) समास तथा असमास दोनों में आवृत्ति रूप, इस तरह से पाँच प्रकार का होता है ।

7.4.1 छेकानुप्रास

लक्षण - सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः ।

अर्थ - अनेक वर्णों के एक बार सादृश्य होने को छेकानुप्रास कहते है ।

छेक का अर्थ है -चतुर । चतुर जनों को प्रिय होने के कारण इसे छेकानुप्रास कहते हैं । यहाँ ध्यातव्य है कि 'रस सर' ऐसे प्रयोगों में छेकानुप्रास नहीं हो सकता । छेकानुप्रास में वर्णों का उसी क्रम से प्रयोग होना चाहिए, जैसे - 'सर सर' । उदाहरण

ततोऽरुणपरिस्पन्दमन्दीकृतवपुः शशी ।
दध्रे कामपरिक्षामकामिनीगण्डपाण्डुताम् ।।

अर्थ - तब प्रातः काल के समय सूर्य के सारथि अरुण के गतिशील होने से मलिन स्वरूपवाला चन्द्रमा काम के उपभोग से दुर्बल कामिनी के कपोल स्थल के समान सफेद हो गया ।

अन्विति - इसमें न्द् और ण्ड् इन संयुक्त व्यंजनों की अनेक बार आवृत्ति हुई है।

7.4.2 वृत्त्यनुप्रास

लक्षण - एकस्याप्यसकृत्परः ।

अर्थ - वृत्तिगत अनेक वर्णों की अथवा एक वर्ण की अधिक बार आवृत्ति किये जाने को वृत्त्यनुप्रास कहते हैं। वृत्ति से तात्पर्य यह है कि भिन्न-भिन्न रसों के वर्णन में भिन्न-भिन्न वर्णों का प्रयोग । ऐसे नियमबद्ध वर्णों की रचना को वृत्ति कहते हैं । वृत्ति तीन प्रकार की होती है - उपनागरिका, परुषा और कोमला । आचार्य वामन आदि ने इन वृत्तियों को क्रमशः वैदर्भी, गौडी और पाँचाली के नाम से लिखा है । उन वृत्तियों में होने से यह वृत्त्यनुप्रास कहलाता है ।

7.4.3 लाटानुप्रास

लक्षण - पदानां सः

अर्थ - शब्द और अर्थ दोनों की आवृत्ति में तात्पर्य की भिन्नता होने को लाटानुप्रास

कहते हैं

इसमें शब्द और अर्थ की पुनरुक्ति होती है । केवल तात्पर्य (अन्वय) में भिन्नता होती है । इसमें शब्द या पदों की आवृत्ति होने के कारण इनकी शब्दानुप्रास या पदानुप्रास संज्ञा है । यह पाँच प्रकार का होता है । यह लाट देशियों को प्रिय होने के कारण लाटानुप्रास के नाम से जाना जाता है ।

विशेष - इसके पूर्व वर्णसाम्यरूप 'वर्णानुप्रास' का और छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास नामक उसके दो भेदों का वर्णन किया गया था । अनुप्रास का दूसरा भेद 'पदानुप्रास' होता है, उसको ही 'लाटानुप्रास' कहा जाता है। लाटानुप्रास में वर्णों की नहीं अपितु पदों की आवृत्ति होने पर पुनरुक्ति दोष तथा पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार भी हो सकते हैं । इसलिए लाटानुप्रास को उनसे भिन्न करने के लिए लाटानुप्रास स्थल में आवृत्त पद में तात्पर्य मात्र का भेद होना आवश्यक माना गया है । यमक अलङ्कार में भी शब्द या पदों की आवृत्ति होती है, किन्तु यमक में जिन शब्दों की आवृत्ति होती है उनका अर्थ भिन्न-भिन्न होता है ।

भेद - लाटानुप्रास के पाँच भेद होते हैं - प्रथम भेद में अनेक पदों की आवृत्ति होती है । दूसरे भेद में केवल एक ही पद की आवृत्ति होती है । एक ही समास में पद की आवृत्ति होने पर तीसरा भेद होता है, दो अलग-अलग समासों में एक ही पद की आवृत्ति होने पर लाटानुप्रास का चौथा भेद होता है, और आवृत्त होने वाला पद यदि एक ओर समास में और दूसरी ओर असमास में हो तो वह लाटानुप्रास का पाँचवाँ भेद होता है । उदाहरण-

यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ।
यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ।।

अर्थ - जिसके समीप में (उसकी) प्रियतमा नहीं है, उसके लिए (तुहिन दीधिति अर्थात्) चन्द्रमा दावानल (के समान सन्तापदायक) है और जिसके समीप में (उसकी) प्रियतमा विद्यमान है, उसके लिए दावानल भी चन्द्रमा (के समान शीतल और आनन्ददायक हो जाता है)

अन्विति - यहाँ अनेक पदों की आवृत्ति है । पूर्वार्ध में 'तुहिनदीधिति' में 'दवदहनत्व' विधेय है और उत्तरार्ध में 'दवदहन' में 'तुहिनदीधित्व' विधेय है । इसलिए उद्देश्य-विधेयभाव में भेद होने से तात्पर्यमात्र का भेद हो जाता है । अतः यह लाटानुप्रास का उदाहरण है ।

एक पद की आवृत्ति होने पर भी लाटानुप्रास सम्भव होता है । जैसे -

वदनं वरवर्णिन्यास्तस्याः सत्यं सुधाकरः ।
सुधाकरः क्व नु पुनः कलङ्कविकलो भवेत् ।।

अर्थ - उस वरवर्णिनीका मुख सचमुच चन्द्रमा है । अथवा (वह चन्द्रमा नहीं, अपितु चन्द्रमा से भी अधिक सुन्दर है क्योंकि सुधाकर) चन्द्रमा कलंक से रहित कहाँ हो सकता है ?

अन्विति - यहाँ केवल एक सुधाकर पद की आवृत्ति होने पर भी लाटानुप्रास है। प्रथम सुधाकर पद विधेय है और द्वितीय सुधाकर पद उद्देश्य है, इसलिए तात्पर्य भेद माना जाता है ।

(1) एक समास में, अथवा (2) भिन्न समासों में अथवा (3) समास और असमास में 'नाम' अर्थात् प्रातिपदिक की (सुबन्त) पद की ही नहीं, आवृत्ति होने पर भी 'लाटानुप्रास' होता है । जैसे -

सितकरकररुचिरविभा विभाकराकार ! धरणिधर ! कीर्तिः ।
पौरुषकमला कमला साऽपि तवैवास्ति नान्यस्य ।।

अर्थ - हे सूर्य के समान प्रतापशाली (विभाकराकार) राजन् ! (सितकर) चन्द्रमा की किरणों के समान (शुभ्र) 1. कीर्ति और 2. पराक्रम लक्ष्मी (पौरुष कमला) तथा 3 वह (प्रसिद्ध) लक्ष्मी (ये तीनों लक्ष्मियाँ) भी आपकी ही हैं, अन्य किसी की नहीं ।

अन्विति - प्रकृत में 'कर' इस प्रातिपदिक की (1) एक ही समास में 'कर' 'कर' रूप में (2) 'विभा' इस प्रातिपदिक की विभा-विभा रूप में दो भिन्न समासों में और (3) 'कमला' इस प्रातिपदिक की पहिली बार समास तथा दूसरी बार असमास अर्थात् स्वतन्त्रपद के रूप में आवृत्ति हुई है । अतः यही श्लोक तीनों भेदों का उदाहरण है । इस प्रकार (लाटानुप्रास) पाँच प्रकार का माना जाता है ।

7.5 यमक - अलङ्कार

लक्षण - अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः । यमकम् ....

अर्थ - निरर्थक वर्णों की अथवा भिन्न-भिन्न अर्थवाले सार्थक वर्णों की क्रमशः आवृत्ति या उनके पुनः श्रवण को यमक कहते हैं ।

विशेष - 'यमक में स्वर सहित निरर्थक और सार्थक दोनों प्रकार के वर्णों की आवृत्ति होती है । यमक के सम्बन्ध में जहाँ-जहाँ 'आवृत्ति' शब्द का प्रयोग किया गया है, वहाँ-वहाँ इसके साथ पुनः श्रवण ही समझना चाहिए । यमक में वर्णों का प्रयोग तीन प्रकार से होता है ।

1. सर्वत्र अर्थात् जितनी बार आवृत्ति हो वह निरर्थक वर्णों की हो ।
2. एक बार निरर्थक वर्णों की और दूसरी बार सार्थक (अर्थवाले) वर्णों की आवृत्ति हो ।
3. सर्वत्र सार्थक (अर्थवाले) वर्णों की आवृत्ति हो, जहाँ सार्थक वर्णों की आवृत्ति में यमक होता है, वहाँ भिन्न-भिन्न अर्थवाले वर्णों की आवृत्ति होती है, न कि एकार्थक वर्णों की ।

लक्षण में 'क्रमशः' इसलिए कहा गया है कि यमक में वर्णों की आवृत्ति उसी क्रम से होनी चाहिए, जैसे 'सर सर' । जहाँ वर्णों की आवृत्ति क्रमशः नहीं होती है, जैसे 'सर रस' वहाँ यमक नही होता है ।

'यमक' और 'चित्र' अलङ्कार में 'ड' और 'ल' तथा 'व' और 'ब' एवं 'ल' और 'र' वर्ण अभिन्न समझे जाते हैं । जैसे 'भुजलता जडतामबलाजनः' इसमें एक बार 'जलता' और दूसरी बार 'जडता' का प्रयोग है । पर इनकी ध्वनि एक समान सुनी जाती है । इसलिए लक्षण में 'पुनः श्रवण' कहा गया है , अर्थात् वर्णों की आवृत्ति के सिवा जहाँ आवृत्ति न होकर वर्णों का समान श्रवण होता है, वहाँ भी यमक होता है ।

7.5.1 लाटानुप्रास और यमक का भेद

लाटानुप्रास में पदों की आवृत्ति होती है और उन आवृत्त पदों में पद या प्रातिपदिक का अर्थ भेद नहीं, केवल तात्पर्यमात्र में भेद होता है । 'यमक' में वर्णों की आवृत्ति होती है । वे आवृत्त वर्ण यदि सार्थक हों तो उनके अर्थ का भेद होना आवश्यक है । अन्यथा कहीं एक सार्थक दूसरा अनर्थक भी हो सकता है, परन्तु जहाँ दोनों भाग सार्थक हो वहाँ उनका भिन्नार्थकत्व अनिवार्य है । यही लाटानुप्रास से यमक का भेद है ।

यमक 'पदावृत्ति' और 'भागावृत्ति' दो प्रकार का होता है और इनके अनेक उपभेद होते हैं ।'पदावृत्ति' अर्थात् छन्द के चौथे भाग को पाद कहते हैं । ऐसे पूरे पाद की आवृत्ति को पदावृत्ति कहते हैं। पाद के आधे विभाग की अथवा तीसरे या चौथे विभाग की या इससे भी छोटे विभाग की आवृत्ति को 'भागावृत्ति' कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है और इनके अनेक भेद होते हैं ।

अर्थात् - श्लोक के चरण या पाद की आवृत्ति के नौ भेद तथा श्लोकार्ध की आवृत्ति एवं सम्पूर्ण श्लोक की आवृत्ति ये दो भेद मिलाकर पादावृत्तिरूप यमक के 11 भेद हो जाते हैं । यमक के प्रथम पाद द्वितीय, तृतीय या चतुर्थ चरण में आवृत्त हो सकता है। इस प्रकार तीन भेद हो जाते हैं । प्रथम पाद द्वितीय पाद के स्थान आवृत्त होने पर (1) **'मुख'** नामक यमक होता है । उसी के तृतीय पाद के स्थान पर आवृत्त होने पर (2) **'सन्दंश'** नामक यमक होता है और उसी प्रथम पाद के चतुर्थ पाद के स्थान पर आवृत्त होने पर (3) **'आवृत्ति'** नामक यमक भेद होता है । द्वितीय पद तृतीय तथा चतुर्थ पाद के स्थान में आवृत्त हो सकता है । उससे दो भेद बनते हैं । द्वितीय पाद यदि तृतीय स्थान में आवृत्त होता है, तो (4) **'गर्भ'** नामक यमक होता है और वही द्वितीय पाद जब चतुर्थ पाद के स्थान पर आवृत्त होता है, तब (5) **'सन्दष्ट'** नामक यमक होता है । तृतीय पाद चतुर्थ पाद के स्थान में आवृत्त होने पर (6) **'पुच्छ'** नामक यमक का छठा (6) भेद बनता है । प्रथम पाद द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ स्थानों में आवृत्त होता है, तो (7) **'पंक्ति'** नामक सप्तम यमक भेद बनता है । प्रथम पाद द्वितीय के स्थान में और तृतीय पाद चतुर्थ के स्थान में आवृत्त होने पर (8) **'युग्मक'** नामक अष्टम यमक भेद बनता है । प्रथम पाद चतुर्थ स्थान में और द्वितीय पाद तृतीय स्थान में आवृत्त होने पर (9) **'परिवृत्ति'** नामक नवम यमक भेद बनता है । ये दो-दो पादों की आवृत्ति मिलाकर एक-एक भेद बनता है । इस प्रकार पाद की आवृत्ति से होने

वाले नौ भेद होते है और श्लोकार्ध की आवृत्ति तथा सम्पूर्ण श्लोक की आवृत्ति ये दो भेद और मिलाकर पादगत या पदावृत्ति रूप यमक के 11 भेद हो जाते हैं ।

पाद के आवृत्ति के समान पाद के भागों की आवृत्ति होने पर भी यमक होता है। पादावृत्तिगत यमक के 11 भेद बतलाये हैं । इनमें से श्लोकावृत्तिरूप ग्याहरवें भेद को पादभागवृत्ति में नहीं माना जाता है । इसलिए उसमें 11 कें स्थान पर 10 भेद ही रह जाते हैं । अब यदि पाद को दो भागों में बाँटा जाय, तो 'पादभागावृत्ति' के 20 भेद बन जायँगे और यदि तीन भागों में बाँटा जाय तो 30 भेद बन जायँगे तथा उसको चार भागों में विभक्त किया जाय तो पादभागावृत्ति रूप यमक के 40 भेद हो जायँगे ।

7.5.2 सन्दंश यमक

सर्वप्रथम पादावृत्ति में प्रथम पाद की तृतीय पाद के स्थान पर आवृत्ति होने पर **'सन्दंश'** नामक यमक का उदाहरण देखिए -

सन्नारीभरणोमायमाराध्य विधुशेखरम् ।
सन्नारीभरणोऽमायस्ततस्त्वं पृथिवीं जय ।।

अन्विति - उपर्युक्त पद्य में 'सन्नारीभरणोमाय' यह प्रथम चरण तृतीय पाद के स्थान पर आवृत्त हुआ हैं। अतः सन्दंश यमक है ।

7.5.3 युग्म यमक

दो पादों की आवृत्ति में प्रथम पाद के द्वितीय पाद के स्थान पर तथा तृतीय पाद के चतुर्थ पाद के स्थान आवृत्ति होने पर 'युग्म' नामक यमक होता है ।

विनायमेनो नयताऽसुखादिना विना यमेनोनयता सुखादिना ।
महाजनोऽदीयत मानसादरं महाजनोदी यतमानसादरम् ।।

अन्विति- यहाँ प्रथम पाद, द्वितीय पाद के स्थान पर तथा तृतीय पाद चतुर्थ के स्थान पर आवृत्त हुआ है अतः यह 'युग्म यमक' का उदाहरण है।

7.5. 4 महायमक

स त्वारम्भरतोऽवश्यमबलं विततारवम् । सर्वदा रणमानैषीदवानलसमस्थितः ।।
सत्त्वारम्भरतोऽवश्यमवलम्बिततारवम् ।सर्वदारणमानैषी दवानलसमस्थितः ।।

अन्विति - यहाँ प्रथम एवं द्वितीय पद्य ज्यों के त्यों आवृत्त हुए हैं । इसलिए यह श्लोकावृत्तिरूप 'महायमक' का उदाहरण है । इन दोनों श्लोकों में राजा का वर्णन है । उन दोनों का स्वरूप अर्थात् शब्द विन्यास एक सा ही है, परन्तु अर्थ भेद है । अतः यह श्लोकावृत्तिरूप 'महायमक' का उदाहरण है ।

7.5.5 पादभागावृत्ति 'सन्दष्टक' यमक

अनन्तमहिमव्याप्तविश्वां वेधा न वेद याम् ।

याच मातेव भजते प्रणते मानवे दयाम् ।।

अन्विति - प्रकृत पद्य में प्रथम पाद के दो खण्ड करके द्वितीय पाद के अन्तिम अर्ध भाग की चतुर्थ पाद के अन्तिम अर्ध भाग के स्थान पर आवृत्ति हुई है अतः यह 'सन्दष्टक' नामक यमक का उदाहरण है ।

7.5.6 आद्यान्तिक यमक

यदानतोऽयदानतो नयात्ययं न यात्ययम् ।

शिवेहितां शिवे हितां स्मरामितां स्मरामि ताम् ।।

अन्विति - उपर्युक्त पद्य में एक ही पाद की भागावृत्ति में आदि भाग के अन्तभाग के स्थान पर आवृत्ति हुई है अतः 'आद्यान्तिक' नामक यमक का उदाहरण है ।

सरस्वति प्रसादं मे स्थिति चित्तसरस्वति ।

सर स्वाति । कुरु क्षेत्र कुरुक्षेत्र सरस्वति ।

इस प्रकार यमक के अनेक भेदों एवं उपभेदों का निदर्शन किया जा सकता है ।

7.6 श्लेष - श्लेषरूप शब्दालङ्कार

लक्षण - वाच्यभेदेन भिन्नं यद् युगपद्भाषणस्पृशः ।

श्लिष्यन्ति शब्दाः, श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा ।।

अर्थ - अर्थ का भेद होने से भिन्न-भिन्न शब्द एक साथ उच्चारण के कारण जब परस्पर मिलकर एक हो जाते हैं, तब श्लेष होता है और वह अक्षर आदि के भेद से आठ प्रकार का होता है । अर्थात् श्लिष्ट शब्दों से अनेक अर्थों का अभिधान (कथन) किये जाने को श्लेष कहते हैं ।

श्लेष शब्द श्लिष् धातु से बना है । श्लिष् का अर्थ है चिपकना या मिलना । श्लिष्ट शब्द में एक से अधिक अर्थ चिपटे रहते हैं । अर्थात् - अर्थ विचार की दृष्टि से वहाँ दो भिन्न अर्थों के बोधक दोनों शब्द जतुकाष्ठन्याय से मिलकर या चिपककर एक हो गये होते हैं । जैसे - लाख और लकड़ी दो अलग-अलग वस्तुएँ है, परन्तु कभी-कभी लाख लकड़ी के साथ चिपक कर एक हो जाती है । इसी प्रकार दो समानाकार शब्द एक बार उच्चारण किये जाने के कारण जहाँ एक शब्द के रूप में प्रतीत होते हैं । वहाँ शब्दों का श्लेष होने से उसको श्लेषनामक शब्दालङ्कार कहा जाता है और वह (1) वर्ण श्लेष (2) पदश्लेष (3) लिङ्ग श्लेष (4) भाषा श्लेष (5) प्रकृति श्लेष (6) प्रत्यय श्लेष (7) विभक्ति श्लेष और (8) वचन श्लेष भेद से आठ प्रकार का होता है ।

7.6 1. वर्ण श्लेष

अलङ्कारः शङ्काकरनरकपालं परिजनो विशीर्णाङ्गो भृङ्गी वसु च वृष एको बहुवयाः।

अवस्थेयं स्थाणोरपि भवति सर्वामरगुरोर्विधौ वक्रे मूर्ध्नि स्थितवति वयं के पुनरमी।

अर्थात् - (दर्शक के हृदय में) भय को उत्पन्न करने वाली, मनुष्यों की खोपड़ी उनका अलङ्कार है । गलित अङ्गोवाला भृङ्गी उनका सेवक है और एक अत्यन्त बूढा बैल उनकी सम्पत्ति है । समस्त देवताओं के मान्य गुरु शिवजी की भी, टेढे चन्द्रमा के मस्तक पर स्थित होने पर जब यह दुरवस्था है, तब हमारी तो गिनती ही क्या है ?

अन्विति - उक्त श्लोक वर्ण श्लेष का उदाहरण है । इसमें **'विधौ' पद में वर्ण श्लेष** है । 'विधि' और 'विधु' दो अलग-अलग शब्द हैं, विधि का अर्थ भाग्य और विधु का अर्थ चन्द्रमा है । इन दोनों शब्दों (वर्णों) का सप्तमी के एक वचन में 'विधौ' यह समानाकार एक ही रूप बनता है । केवल इकार और उकार वर्णों के भेद से अर्थ भेद होता है, इसलिए यह वर्ण श्लेष का उदाहरण है । भाग्य के विपरीत होने पर बड़े से बड़े व्यक्ति की दुरवस्था हो जाती है । साधारण पुरुषों की बात ही क्या है ? इस बात को कवि ने शिवजी के उदाहरण द्वारा प्रतिपादित किया है । शिवजी के मस्तक पर चन्द्र की ढेढी कला स्थित है, इसलिए वक्र विधु अर्थात् - वक्रविधि के मस्तक पर स्थित होने के कारण उनकी यह दुरवस्था है ।

7.6 2. पदश्लेष

पृथुकार्त्तस्वरपात्रंभूषितनिःशेषपरिजनं देव ।
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम् ।।

अर्थ - कोई याचक किसी राजा के सामने कह रहा है कि इस समय मेरा और आपका घर एक समान अवस्था में है । दोनों के घर की समता वही तीन शिलष्ट पदों द्वारा दिखला रहा है । इसमें 1.**'पृथुकार्त्तस्वरपात्रं'** 2. **'भूषितनिःशेषपरिजनं'** तथा 3. **'विलसत्करेणुगहनं'** इन तीन पदों में श्लेष है । इसमें से पहले पद का अर्थ, दोनों पक्षों में भिन्न-भिन्न होता है । याचक के पक्ष में प्रथम पद का अर्थ होता है - पृथुकानां बालानां आर्तस्वरस्य पात्रमं अर्थात् मेरा (याचक का) घर बालकों के रोने का स्थान है और राजा के पक्ष में राजा का घर कार्त्तस्वरस्य सुवर्णस्य पात्राणि पृथूनि यस्मिन् तत्-सोने के बड़े-बड़े (पृथुनी) बर्तनों से युक्त है । दूसरा पद है - 'भूषितनिः शेष परिजनं' इसका राजा के पक्ष में 'भूषित' अर्थात् सारे परिजन अलंकृत हैं और याचक के पक्ष में 'भुवि पृथिव्यां उषिताः सर्वे परिजना यस्मिन् - जिसमें परिवार के सारे लोग जमीन पर पड़े हुए हैं । इस समस्त पद को शिलष्ट मानकर पदश्लेष कहा गया है । इसी प्रकार 'विलसत्करेणु गहनं' यह तीसरा पद है । राजा के पक्ष में झूमती हुई हथिनियों से युक्त यह अर्थ होता है और याचक के पक्ष में चूहों के खोदे हुए बिलों की धूल से भरा हुआ घर है 'बिले सीदन्ति इति विलसत्काः मूषकाः तेषां रेणुः धूलिः तस्याः सदनं ।' अतः यह पदश्लेष का उदाहरण है ।

7.6 3. लिङ्गश्लेष तथा वचन श्लेष

भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी नीलोत्पलस्पर्धिनी ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतैर्नीते हितप्राप्तये ।

लावण्यस्य महानिधी रसिकतां लक्ष्मीदृशोस्तन्वती युष्माकं कुरुतां भवार्तिशमनं, नेत्रे तनुर्वा हरेः ।।

इस श्लोक का मुख्य वाक्य "हरेः नेत्रे तनुर्वा युष्माकं भवार्तिशमनं कुरुतां" विष्णु के नेत्र अथवा शरीर तुम्हारे संसार के दुःखों का नाश करें यह चतुर्थ चरण है । शेष तीन चरणों में उन 'नेत्रे' तथा 'तनुः' के विशेषण है इनमें से 'नेत्र' यह नपुंसक लिङ्ग 'नेत्र' शब्द के प्रथमा विभक्ति के द्विवचन का रूप है और 'तनुः' यह स्त्रीलिंग 'तनु' शब्द का प्रथमा विभक्ति का एक वचन है । ये दोनों ही वाक्य के कर्ता हैं । शेष तीनों चरणों में जो विशेषण दिये गये हैं, वे एक बार नपुंसक लिंग के प्रथमा के द्विवचन के रूप में और दूसरी बार स्त्रीलिंग के प्रथमा के एक वचन के रूप में अन्वित होते हैं । अतः यह 'लिंग श्लेष' का उदाहरण तो है ही, परन्तु साथ ही इसको वचन श्लेष का भी उदाहरण कहा जा सकता है ।'कुरुतां' यह परस्मैपद में प्रथम पुरुष का द्विवचन का रूप होता है और 'तनुः' इस एक वचनान्त कर्ता के साथ अन्वित होने पर, यह आत्मनेपद के प्रथम पुरुष के एक वचन का रूप होता है। इस प्रकार इस एक उदाहरण में अनेक प्रकार के श्लेष पाये जाते हैं। ग्रन्थकार ने इसे यहाँ लिंग श्लेष तथा वचन श्लेष, दोनों के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है । यही श्लेष के आठवें भेद वचन श्लेष का भी उदाहरण है ।

7.6.4 भाषाश्लेष

महदेसुरसन्धम्मे तमवसमाङ्गमागमाहरणे ।
हरबहुसरणं तं चित्तमोहमवसरउभे सहसा ।।

इस प्राकृत श्लोक का संस्कृत तथा प्राकृत दोनों भाषाओं में अर्थ होता है, अतः यह 'भाषाश्लेष का उदाहरण है । संस्कृत भाषा में उसको निम्नलिखित प्रकार से पढ़ा जायगा।

महदे सुरसन्धं मे, तम् अव समासङ्गम् आगमाहरणे ।
हर बहुसरणम् तम् चित्तमोहम् अवसरे उभे सहसा ।।

अर्थ - हे आनन्ददायिनी (महदे) गौरि! (आगमाहरणे) वेद विद्या के उपार्जन में मेरे उस अनुराग (समासंगम्) को बनाये रखो, और अवसर पर उस प्रसिद्ध चित्त के अज्ञान या मोह को तुरन्त मिटा दो ।

प्राकृत भाषा के पक्ष में उक्त श्लोक की संस्कृत छाया और अर्थ निम्नलिखित प्रकार से होगा -

मम देहि रसं धर्मे तमोवशाम् गमागमात् हर नः ।।
हरवधु शरणं त्वं चित्तमोहोऽपसरतु मे सहसा ।।

अर्थ - हे (हरवधु) पार्वति । आप मेरी शरण हो, आप (सदा) धर्म में मेरा प्रेम बनाये रहो और (गमो गमनं मरणं, आगमः आगमनं पुनर्जन्म यस्मिन् तस्मात् गमागमात् संसारात्) संसार की ओर से हमारी अज्ञानमयी आशा को मिटा दो, जिससे मेरा चित्त का अज्ञान

तुरन्त दूर हो जाय ।

अन्विति - इस प्रकार उक्त प्राकृत श्लोक का दोनों भाषाओं संस्कृत तथा प्राकृत अर्थ होने से यह भाषा श्लेष का उदाहरण है ।

7.6.5 प्रकृति श्लेष

अयं सर्वाणि शास्त्राणि हृदि ज्ञेषु च वक्ष्यति ।
सामर्थ्यकृदमित्राणां मित्राणां च नृपात्मजः ।।

अर्थ - यह राजा का पुत्र समस्त शास्त्रों को (अपने) हृदय में (वक्ष्यति) धारण करेगा, और (ज्ञेषु) विद्वानों मे (वक्ष्यति) कहेगा तथा शत्रुओं (अमित्राणां) की शक्ति का नाश करने वाला एवं मित्रों की शक्ति की वृद्धि करने वाला होगा ।

अन्विति - उक्त श्लोक में 'वक्ष्यति' यह रूप 'वह्' धातु तथा 'वच्' धातु दोनों का लृट्लकार में एक सा ही बनता है। इसलिए 'धारण करेगा' और 'कहेगा' ये दोनों अर्थ इसके होते हैं । इसी प्रकार 'सामर्थ्यकृत्' इस पद में सामर्थ्य के उपपद रहते डुकृञ् करणे और 'कृती' छेदने दोनों धातुओं से 'सामर्थ्यं करोति इति सामर्थ्यकृत्' तथा सामर्थ्य कृन्तति इति सामर्थ्यकृत यह एक सा ही रूप बनता है । दोनों जगह लट्लकार के प्रथम पुरुष के एक वचन के तिप् प्रत्यय के समान होने पर भी केवल धातुओं का भेद होने से यह प्रकृति श्लेष का उदाहरण है ।

7.6.6 प्रत्यय श्लेष

कोई शिव का उपासक शिव की उपासना करते हुए अपने भविष्य के विषय में यह कामना करता है।

रजनि रमणमौलेः पादपद्मावलोकक्षणसमयपराप्तापूर्वसम्पत्सहस्रम् ।
प्रमथनिवहमध्ये जातुचित् त्वत्प्रसादादहमुचितरुचिः स्यान्नन्दिता सा तथा मे ।।

अर्थ - आपकी कृपा से कभी मैं (रजनी रमणमौलि, चन्द्रमौलि) शिवजी के चरण कमलों के (अवलोकन) दर्शन के साथ ही अपरिमित अपूर्व आनन्द को प्राप्त कर (उनके) गणों के मध्य में उचित अनुराग युक्त और (नन्दिता नन्दकः स्याम्) आनन्द प्राप्त करने वाला होऊँ, तथा वही मेरे लिए (नन्दिनो भावो 'नन्दिता') नन्दी पद की प्राप्ति के समान् (स्यात्) हो ।

अन्विति - उक्त श्लोक में 'स्यान्नन्दिता' पदों मे प्रत्यय श्लेष है । यह सन्धि किया हुआ रूप है । सन्धि का विच्छेद करने पर दो प्रकार के पदच्छेद निकलते हैं, एक 'स्यात् नन्दिता' और दूसरा 'स्याम् नन्दिता' । 'अहं नन्दिता स्याम्' और 'सा मे नन्दिता स्यात्' ये दो प्रकार के उसके अन्वय होते हैं । अर्थात् 'स्याम्' ओर 'स्यात्' पदों में उत्तम पुरुष होते हैं । अर्थात् 'स्याम्' और 'स्यात्' पदों में उत्तम पुरुष तथा प्रथम पुरुष के प्रत्यय भाग मात्रका भेद होने से प्रत्यय श्लेष है । इसी प्रकार 'नन्दिता' पद में 'नन्दिनो भावः नन्दिता'

इस विग्रह में तद्धित का 'तल्' प्रत्यय होता है, और 'नन्दकः स्याम्' इस अर्थ वाले पक्ष में कृत् संज्ञक तृच् प्रत्यय होता है । इसलिए इन दोनों पदों में प्रत्यय मात्र का भेद होने से यह प्रत्यय श्लेष का उदाहरण है ।

7.6.7 विभक्ति श्लेष

सर्वस्वं हर सर्वस्य त्वं भवच्छेदतत्परः ।
नयोपकारस्याम्मुख्यमायासि तनुवर्तनम् ।।

अर्थ - शिव का कोई भक्त डाकू, अन्य लोगों के सामने शिवजी की प्रार्थना करते हुए समीप में ही उपस्थित अपने पुत्र को दस्यु कर्म का उपदेश इस श्लोक से देते हुए कहता है - हे हर । आप सबके सर्वस्व हैं और भव (बन्धन) का नाश करने वाले हैं । नीति (सदाचार) और (साधुओं के परित्राणरूप) उपकार के अनुकूल शरीरव्यवहार (अवतारधारणरूप व्यापार) को प्राप्त होते हैं ।

(पक्षान्तर में उक्त श्लोक का अर्थ) - हे पुत्र (त्वं सर्वस्य सर्वस्वं हर) तू (किसी को मत छोड) सबका सब कुछ छीन ले, और (केवल माल छीनकर ही सन्तोष न कर, अपितु उन सबको जान से मारकर, उनके गलों को) काटने में तत्पर हो जा । (उपकारसाम्मुख्य नय) किसी के साथ उपकार मत कर पीडा देने वाला व्यवहार कर।

अन्विति - उक्त श्लोक में 'हर' तथा 'भव' पदों में विभक्ति श्लेष है । ये दोनों पद शिव के पर्यायवाचक है । इसलिए शिवपक्ष में ये दोनों सम्बोधन विभक्ति में सुबन्त पद हैं । दूसरे डाकू (दस्यु) की शिक्षा देने वाले पक्ष में ये दोनों तिडन्त क्रिया पद हैं । इसलिए इन दोनों में विभक्ति श्लेष है । यद्यपि विभक्ति श्लेष भी प्रत्यय श्लेष के अन्तर्गत हो सकता है, फिर भी उसके विशेष चमत्कार जनक होने से उसको अलग कहा गया है ।

विशेष - उपर्युक्त श्लेष के जो आठ भेद प्रस्तुत किये गये हैं, उनका प्रतिपादन मुख्यरूप से रुद्रट ने अपने काव्यलङ्कार में किया है । अन्य आचार्यों ने उसी के आधार पर आठ भेदों का वर्णन किया है । इन सब में प्रकृति प्रत्यय आदि का भेद होने से इस प्रकार के श्लेष को 'सभङ्ग श्लेष' कहते हैं । इन सब के उदाहरण में दोनों पक्षों में अर्थ करतें समय पदों का भिन्न-भिन्न विश्लेषण करना होता है । इसलिए भी इसको सभङ्ग श्लेष कहा जाता है, परन्तु इन आठ प्रकार के श्लेषों के अतिरिक्त 'अभङ्ग श्लेष' भी हो सकता है । जिसमें प्रकृति प्रत्यादिक भेद के बिना भी स्वर भेद के कारण भिन्न प्रयत्न के उच्चारण अथवा उस स्वर भेदादिका भी अभाव होने पर अभिन्न प्रयत्न उच्चार्य अनेक पदों का श्लेष हो । उस श्लेष को अभङ्ग श्लेष कहते हैं । संक्षेप में शिलष्ट शब्द दो प्रकार के होते हैं सभङ्ग और अभङ्ग । जिस पूरे शब्द के दो अर्थ होते हैं - वह अभङ्ग शिलष्ट शब्द कहा जाता है । ऐसे शब्दों का प्रयोग अभङ्ग श्लेष कहा जाता है । जिस पूरे शब्द का अर्थ और होता है और शब्द के भङ्ग (खण्डित) करने का दूसरा अर्थ होता है वह सभङ्ग श्लेष कहलाता है।

7.6.8 अभङ्ग श्लेष

योऽसकृत्परगोत्राणां पक्षच्छेदक्षणक्षमः ।
शतकोटिदतां बिभ्रद्विबुधेन्द्रः स राजते ।।

अर्थ - जो (राजा) अनेक बार (परगोत्राणां) शत्रुवंशों के (पक्षच्छेदःक्षणक्षमः) अर्थात् - सहायकों के तनिक सी देर में नाश कर देने में समर्थ है, शतकोटि अपरिमित धनको देने वाला (विबुधेन्द्र) वह विद्वच्छिरोमणि देवराज के समान शोभित होता है ।

उक्त श्लोक में अभङ्ग श्लेष द्वारा देवराज इन्द्र के साथ साम्य दिखलाकर राजा पर इन्द्रत्व का आरोप करते हुए कवि राजा का वर्णन कर रहा है -

इन्द्र के पक्ष में - (शतकोटिदता) वज्र से नाश करने की शक्तिवाला, असकृत् अनेकों बार परगोत्राणां उत्तम पर्वतों के (पक्षच्छेद अर्थात्) पंखों के काटने में क्षणभर में समर्थ है, वह देवराज इन्द्र शोभित होता है ।

अन्विति - प्रकृत में प्रकरणादिके द्वारा अनेकार्थक परगोत्रादि शब्दों में एकार्थ में नियमन के न होने से (राजा परक और इन्द्रपरक) दोनों ही अर्थ वाच्य हैं, अतः यहाँ श्लेष अलङ्कार है और यह अभङ्गश्लेष का उदाहरण है ।

विशेष - जहाँ प्रकरणादिवश अनेकार्थक शब्द का एकार्थ में नियन्त्रण हो जाने पर भी अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, वहाँ द्वितीय अर्थ वाच्य नहीं, अपितु व्यङ्ग्य होता है और जहाँ प्रकरणादि नियामक न हो, वहाँ दोनों अर्थ वाच्यरूप से उपस्थित होते हैं । उसी स्थल में श्लेषालङ्कार होता है ।

7.6.9 श्लेष शब्दालङ्कार है या अर्थालङ्कार ?

इस विषय में आचार्यों का मतभेद है । अलङ्कारसूत्र के प्रणेता रुय्यक का मत है कि सभङ्गश्लेष शब्दालङ्कार है और अभङ्गश्लेष अर्थालङ्कार । आचार्य उद्भट ने सभङ्ग को शब्दश्लेष और अभङ्ग को अर्थश्लेष बताकर भी दोनों को अर्थालङ्कार माना है । किन्तु आचार्य मम्मट ने अभङ्ग और सभङ्ग दोनों प्रकार के श्लेषों को शब्दालङ्कार माना है । उनका कहना है कि गुण, दोष और अलङ्कारों का शब्द और अर्थगत विभाग अन्वय और व्यतिरेक पर निर्भर है । अभङ्ग श्लेष जहाँ अर्थ के आश्रित होगा, वहीं अर्थालङ्कार माना जाएगा और जहाँ शब्दाश्रित होगा वहाँ नहीं । अर्थात् जहाँ शब्दाश्रित अभङ्ग श्लेष होगा वहाँ शब्दालङ्कार ही माना जायगा । अभङ्गश्लेष अर्थालङ्कार वहाँ हो सकता है, जहाँ शब्दपरिवर्तन कर देने पर भी दो अर्थ बने रहते हैं । शेष स्थलों में अभङ्गश्लेष भी शब्दालङ्कार ही होता है । वस्तुतः श्लेष का विषय बहुत व्यापक है, क्योंकि श्लेष की स्थिति बहुत से अलङ्कारों में रहती है अतएव श्लेष का विषय बड़ा महत्त्वपूर्ण और विवादग्रस्त भी है । आचार्य उद्भट आदि का मत है कि जहाँ श्लेष होता है, वहाँ कोई दूसरा अलङ्कार अवश्य रहता है अन्य अलङ्कार से विविक्त (स्वतन्त्र) शुद्ध श्लेष का उदाहरण नहीं हो सकता ।

किन्तु आचार्य मम्मट उक्त मत को स्वीकार नहीं करते । उनका कहना है कि शुद्ध

श्लेष के उदाहरण हो सकते है, 'श्लेष' शुद्ध भी होता है और अन्य अलङ्कार से मिश्रित भी। किन्तु जहाँ श्लेष के साथ कोई अन्य अलङ्कार सम्मिलित होता है, वहाँ उन दोनों में जो प्रधान होता है, उसे ही मानना चाहिए, न कि सर्वत्र श्लेष ही। निष्कर्ष यह है कि जहाँ एक से अधिक अलङ्कारों की स्थिति होती है, वहाँ जिस अलङ्कार की प्रधानता होती है, वहाँ वही माना जाता है । अलङ्कारसर्वस्वकार कहते है कि श्लेष, अन्य अलङ्कारों के बिना नहीं रह सकता और अन्य अलङ्कार श्लेष के बिना भी रह सकते हैं । इसलिए जहाँ श्लेष के साथ अन्य अलङ्कार की उपस्थिति हो, वहाँ अन्य अलङ्कारों की उपेक्षा कर श्लेष को ही प्रधान अलङ्कार मानना चाहिये । अन्यथा यदि उन स्थलों पर भी अन्य अलङ्कार ही माने जायँ तो श्लेष के लिए कोई अवसर ही नहीं रहेगा । अलङ्कार सर्वस्वकार के इस मत के खण्डन के लिए मम्मट ने ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया है, जिसमें किसी अन्य अलङ्कार के साहचर्य के बिना केवल श्लेष अलङ्कार ही स्वतन्त्ररूप से स्थित है ।

देव ! त्वमेव पातालमाशानां त्वं निबन्धनम् ।
त्वं चामरमरुद्भूमिरेको लोकत्रयात्मकः ।।

अर्थ - हे (विष्णु) देव ! आप ही पाताल (लोक ओर दूसरे पक्ष में 'पाता अलं' संसार के सदा रक्षक) हैं आप ही संसार की आशाओं के केन्द्र (दूसरे पक्ष में आशा अर्थात् दिशाओं के व्यवहार के केन्द्र अर्थात् भूलोक) है और आप ही (ऊपर) देवताओं तथा मरुद्गणों के निवास स्थान (स्वर्गलोक, दूसरे पक्ष में चामर अर्थात् राजचिह्नरूप चामर के डुलाने से उत्पन्न मरुत्) हो । इस प्रकार आप ही तीनों लोकस्वरूप हैं ।

000

इकाई - 8 अर्थालङ्कार

इकाई के प्रकार

8.0 उद्देश्य

8.1 उपमा

8.1.1 वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा

8.1.2 वाक्यगा आर्थी उपमा

8.1.3 समासगा श्रौती

8.1.4 समासगा आर्थी उपमा

8.1.5 तद्धितगा श्रौती तथा आर्थी पूर्णोपमा

8.2 रूपकालङ्कार

8.3 उत्प्रेक्षालङ्कार

8.4 अर्थान्तरन्यास अलङ्कार

8.5 अतिशयोक्ति अलङ्कार

8.6 भ्रान्तिमान अलङ्कार

8.7 दृष्टान्त अलङ्कार

8.8 विभावना अलङ्कार

8.9 विशेषोक्ति अलङ्कार

8.10 ससन्देहालङ्कार

8.11 निदर्शना अलङ्कार

8.12 काव्यलिङ्ग अलङ्कार

8.0 उद्देश्य

हमने इसके पूर्व देखा कि अलङ्कारों के शब्दालङ्कार अर्थालङ्कार और उभयालङ्कार नाम से तीन भेद किये गये है। जो अलङ्कार शब्दपरिवृत्यसह होते हैं, अर्थात् किन्हीं विशेष शब्दों के रहने पर ही जो अलङ्कार रहते हैं और उन विशेष शब्दों को बदलकर यदि उनके स्थान पर उनके पर्यायवाचक दूसरे शब्द रख दिये जायँ तो उन अलङ्कारों की स्थिति नहीं रहती है, वे अलङ्कार उन विशेष शब्दों के ही आश्रित होने से शब्दालङ्कार कहलाते हैं और जो अलङ्कार शब्दपरिवृत्तिसह होते हैं अर्थात् यदि उन शब्दों का परिवर्तन करके उनके समानार्थक दूसरे शब्द प्रयुक्त कर दिये जायँ तो भी अलङ्कार की कोई हानि नहीं होती है, वे अलङ्कार शब्दाश्रित न होकर अर्थ के आश्रित होते हैं, इसलिए अर्थालङ्कार कहलाते हैं। इस प्रकार इसके पूर्व छः शब्दालङ्कारों में से (पाठ्यक्रम में निर्धारित) अनुप्रास, यमक, श्लेष (भेद सहित) इन तीनों अलङ्कारों का निरूपण किया गया। अब पाठ्यक्रम में निर्धारित - उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा अर्थान्तरन्यास अतिशयोक्ति, भ्रान्तिमान्, दृष्टान्त,

विभावना, विशेषोक्ति, सन्देह, निदर्शना तथा काव्यलिङ्ग (भेद सहित) इन 12 प्रकार के अर्थालङ्कारों का निरूपण किया जा रहा है।

8.1 उपमा

अलङ्करणमर्थानामलङ्कार इष्यते

तं बिना शब्दसौन्दर्यमपिनास्ति मनोहरम् ।।

अर्थालङ्कारों में सादृश्यमूलक अलङ्कार प्रधान हैं । सादृश्य मूलक सभी अलङ्कारों का प्राणभूत उपमा अलङ्कार है । राजशेखर ने कहा है - उपमेयोपमा, अनन्वय, प्रतीप, रूपक, स्मरण, भ्रान्तिमान्, सन्देह, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति और समासोक्ति आदि सादृश्यमूलक सभी अलङ्कार 'उपमा' अलङ्कार पर निर्भर हैं । इन अलङ्कारों में सादृश्य कहीं तो उक्तिभेद से वाच्य होता है और कहीं व्यङ्ग्य और सादृश्य ही 'उपमा' है, इसलिए 'उपमा' अनेक अलङ्कारों का उत्पादक है ।

अलङ्कार शिरोरत्नं सर्वत्र काव्यसम्पदम् ।

उपमा कविवंशस्य मातेवेति मतिर्मम ।।

अलङ्कारशास्त्र में उपमा को समस्त अलङ्कार की जननी स्वीकार किया गया है । पण्डितराज जगन्नाथ इसे 'विपुलालङ्कारान्तर्वर्तिनी' मानते हैं तथा कुवलयानन्द के टीकाकार श्री वैद्यनाथ तत्सत् इसे 'बहलालङ्कारघटक' कहते हैं । चित्र मीमांसा में आचार्य अप्पय लिखते हैं -

उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान् ।

रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः ।।

लक्षण - साधर्म्यमुपमा भेदे

अर्थ - उपमान तथा उपमेय का भेद होने पर उनके साधर्म्य का वर्णन उपमा कहलाता है । अर्थात् दो पदार्थों के साधर्म्य को उपमान उपमेय भाव से कथन करने को 'उपमा' कहते हैं । तात्पर्य यह है कि उपमेय और उपमान में सादृश्य की योजना करने वाले समानधर्म का सम्बन्ध उपमा है ।

'सादृश्यप्रयोजकसाधारणधर्मसम्बन्धो ह्युपमा' (काव्यप्रकाश वामनाचार्य की बाल बोधिनी, पृ. 654)

उपमा का अर्थ है - 'उपसामीप्यात् मानं इत्युपमा' अर्थात् समीपता से किया गया 'मान' एक वस्तु के समीप में दूसरी वस्तु के स्वरुप का तुलनात्मक ज्ञान कराना । उपमा अलङ्कार में उपमेय में उपमान के स्वरूप की समानता का ज्ञान कराया जाता है । जैसे - 'चन्द्रमा के समान मुख है ।' इसमें मुख में चन्द्रमा की समानता का ज्ञान कराया गया है , किन्तु 'उपमान और उपमेय का ही साधर्म्य होता है, कार्य - कारण आदि का नहीं ।

इसलिए उनका ही समान धर्म से सम्बन्ध उपमा (कहलाता है)

उपमा के चार प्रमुख अङ्ग है - उपमेय, उपमान, साधारणधर्म और वाचक शब्द ।

'उपमेय' - उपमातुं योग्यम् उपमेयम् - जो उपमा देने योग्य है । अर्थात् जिसको उपमा दी जाती है जिसको किसी के समान कहा जाता है । तात्पर्य यह है कि उपमेय उसे कहते है जो उपमा के यौग्य हो, जिसका साम्य प्रस्तुत किया जाये, जो सादृश्य का अनुयोगी हो अथवा निकृष्टगुणवत्ता द्वारा सम्भाव्यमान हो । उपमेय को वर्ण्य, वर्णनीय, प्रस्तुत, प्रकृत और विषय आदि भी कहते हैं । यह न्यूनगुणवाला होता है ।

उपमान - उपमीयतेऽनेनेति उपमानम् - जिसकी उपमा दी जाती है, अर्थात् उपमेय को जिसकी समता दी जाती है, तात्पर्य यह है कि उपमान उसे कहते है जो उपमा का साधनभूत पदार्थ, जिसके द्वारा उपमेय की समता प्रस्तुत की जाय, जो सादृश्य का प्रतियोगी हो अथवा जो अधिक गुणवत्ता द्वारा सम्भाव्यमान हो । उपमान को अवर्ण्य, अवर्णनीय, अप्रस्तुत, अप्रकृत और विषयी आदि भी कहते हैं । यह अधिक गुणवाला होता है ।

समान धर्म - उपमेय और उपमान दोनों में समानता से रहने वाले गुण, क्रिया आदि धर्म को समानधर्म या साधारण धर्म कहते हैं ।

उपमावाचक शब्द - उपमावाचक शब्द, उपमेय और उपमान की समानता को बताने वाले सादृश्य वाचक शब्द को कहते है । इसलिए यथा, इव आदि शब्द उपमा के वाचक शब्द होते हैं ।

इन उपमान तथा उपमेय के समानधर्म के सम्बन्ध का वर्णन ही 'उपमा' अलङ्कार कहलाता है, परन्तु उपमा में उपमान तथा उपमेय का भेद होना आवश्यक है । **'रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव'** इत्यादि स्थलों में भी सादृश्य का वर्णन किया गया है, परन्तु इसमें उपमान तथा उपमेय दोनों एक ही हैं, अलग-अलग नहीं, इसलिए यहाँ उपमा नहीं, अपितु 'अनन्वय अलङ्कार होता है । यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि अनन्वय अलङ्कार में भी 'उपमेय' और 'उपमान' का साधर्म्य होता है, किन्तु 'अनन्वय' में 'उपमेय' और 'उपमान' दो वस्तु नहीं होते, एक ही वस्तु होती है । उक्त उदाहरण में राम और रावण का युद्ध ही उपमेय है और वही उपमान है । जब कि उपमा में उपमेय और उपमान दो पदार्थ होते है, उपमेय भिन्न वस्तु है, और उपमान भिन्न वस्तु ।

वह उपमा दो प्रकार की होती है । 1) पूर्णोपमा और (2) लुप्तोपमा

1) पूर्णोपमा - जहाँ उपर्युक्त उपमेय आदि चारों अङ्गों अर्थात् (1) उपमान (2) उपमेय (3) साधारण धर्म (4) उपमावाचक (इव, यथा, आदि पद इन चारों) का कथन शब्दों द्वारा होता है, वहाँ पूर्णोपमा होती है और उन चारों में से एक या दो या तीन अङ्गों का लोप होने पर या एक या दो या तीन अङ्गों का कथन न होने पर लुप्ता उपमा होती है ।

इस पूर्णोपमा के दो भेद होते हैं - 1) श्रौती ओर (2) आर्थी

उपमा वाचक शब्दों में यथा, इव, वा आदि शब्दों तथा तुल्य, सदृश आदि शब्दों के अर्थबोधन में कुछ भेद पाया जाता है। यथा, इव, वा आदि शब्द उपमान पद के विशेषण होते है और सुनने के साथ ही साधारण धर्म के सम्बन्धरूप सादृश्य का बोध करा देते है, इसलिए उनके प्रयोग में श्रौती या शाब्दी उपमा कहलाती है। इसके विपरीत तुल्य, सदृश आदि दूसरे प्रकार के उपमानवाचक शब्द कभी उपमान के साथ, कभी उपमेय के साथ, कभी दोनों के साथ अन्वित होते है। इसलिए उनमें विचार करने के बाद साधारण धर्म के सम्बन्ध की प्रतीति होती है, इसलिए उनके प्रयोग में 'आर्थी' उपमा मानी जाती है। वाक्यगत ओर समासगत श्रौती तथा आर्थी उपमा का भेद इन यथा, इव, वा, आदि तथा तुल्य, सदृश आदि शब्दों के प्रयोग के आधार पर ही होता है।

तेन तुल्य क्रिया चेद्वतिः (अष्टा 5.1,115) तथा तत्र तस्यैव (5,5,16) इन दो सूत्रों से 'वति' प्रत्यय होने पर तद्धित गत उपमा बनती है। इनमें 'तत्र तस्यैव' से इवार्थ में 'वति' प्रत्यय होने से 'श्रौती' तथा 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वति' से तुल्यार्थ में वति प्रत्यय होने से 'आर्थी' उपमा होती है। 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्धतिः' से जो वति प्रत्यय होता है, वह उपमान तथा उपमेय के क्रिया सम्बन्ध में ही होता है और तृतीयान्त शब्द से होता है। गुण और द्रव्यादिके साम्य होने पर 'तत्र' 'तस्य' अर्थात् सप्तम्यन्त तथा षष्ठ्यन्त शब्द से 'वति' प्रयत्य 'तत्र तत्यैव' इस सूत्र से होता है और उस दशा में 'श्रौती' उपमा होती है। 'मथुरावत् पाटिलिपुत्रे प्राकारः' यहाँ 'मथुरायाँ इव' इस सप्तम्यन्त से 'वति' प्रत्यय होकर प्राकार रूप के सादृश्य में 'मथुरावत्' प्रयोग हुआ है। मथुरावत् पाटलिपुत्र विस्तारः' यहाँ विस्ताररूप गुण के सादृश्य में 'मथुराया इव' इस षष्ठ्यन्त से 'वति' प्रत्यय होकर 'मथुरावत् ' शब्द बना है। इस प्रकार श्रौती उपमा में द्रव्य तथा गुण का सादृश्य विवक्षित होता है और षष्ठी या सप्तमी विभक्ति वाले पद से 'वति' प्रत्यय होता है। इसके विपरीत आर्थी उपमा में क्रियामात्र का साम्य विवक्षित होता है और तृतीयान्त पद से वति प्रत्यय होता है। इसी आधार पर श्रौती तथा आर्थी उपमा का भेद होता है।

इन दोनों उपमाओं श्रौती तथा आर्थी में से प्रत्येक की तीन प्रकार की वाक्यगत, समासगत और तद्धित गत 3 x 2 = 6 कुल छ प्रकार की उपमा होती है। अब श्रौती तथा आर्थी उपमा के उक्त छः भेदों के क्रमशः उदाहरण प्रस्तुत करते हैं -

8.1.1 वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा

स्वप्नेऽपि समरेषु त्वां विजयश्रीर्न मुञ्चति।
प्रभावप्रभवं कान्तं स्वाधीनपतिका यथा।।

अर्थ - स्वाधीनपतिका नायिका के समान विजयश्री प्रभावकारणभूत प्रभव आपको स्वप्न में भी युद्धों में नहीं छोड़ती है।

अन्विति - उक्त श्लोक में 'स्वाधीनपतिका यथा' यह वाक्यगता श्रौती उपमा मानी

है । स्वाधीनपतिका उपमान है 'विजयश्री' उपमेय, 'न मुञ्चति' यह अपरित्यागरूप साधारण धर्म, और 'यथा' यह उपमानवाचक शब्द है । अतः यह पूर्णोपमा भी है । वाक्यगा आर्थी पूर्णोपमा का उदाहरण

8.1.2 वाक्यगा आर्थी उपमा

चकितहरिणलोललोचनायाः क्रुधि तरुणारुणतारहारिकान्ति ।
सरसिजमिदमाननं च तस्याः सममिति चेतसि सम्मदं विधत्ते ।।

अर्थ - चकित (भयभीत) हरिणी के समान चञ्चल नेत्रवाली उस (नायिका) का क्रोध में प्रातः कालीन (तरुण) अरुण (सूर्यसारथि) का सुन्दर कान्तिवाला (क्रोध से आरक्त) मुख और यह (हाथ में लिया हुआ) कमल दोनों एक से (सम) हो रहे हैं । इसलिए (क्रोध से आरक्त नायिका का मुख भी नायक के) मन में आनन्द उत्पन्न करता है ।

अन्विति - प्रकृत श्लोक में 'सरसिज' उपमान है, 'आनन' उपमेय है, अरुण के समान 'कान्तिमत्त्व' साधारण धर्म और 'समम्' यह उपमान वाचक शब्द है । 'सम' के साथ समास न होने से वाक्यागा श्रौती पूर्ण उपमा है ।

विशेष - पूर्णोपमा में उपमान, उपमेय, साधारण धर्म तथा उपमावचक शब्द इन चारों का शब्दतः उपादान होता है । ये चारों जब अलग-अलग कहे जाते है तब वाक्यगा उपमा होती है और जब इनमें से किन्ही दो का समास हो जाता है, तब समासगा पूर्णोपमा बन जाती है ।

8.1.3 समासगा श्रौती

अत्यायतैर्नियमकारिभिरुद्धतानां दिव्यैः प्रभाभिरनपायमयैरुपायैः ।
शौरिर्भुजैरिव चतुर्भिरदः सदा यो लक्ष्मीविलासभवनैर्भुवनं बभार ।।

उक्त श्लोक का मुख्यार्थ है श्री कृष्ण जिस प्रकार (विष्णुरूप में) अपनी चार भुजाओं से संसार को धारण करते हैं, इस प्रकार राजा चार उपायों से सदा संसार का पालन करता था ।

अन्विति - प्रकृत में 'भुजैः' उपमान है, 'उपायैः' उपमेय है, 'अत्यायतत्वादि' साधारण धर्म तथा 'इव' उपमा प्रतिपादक शब्द है । यहाँ 'भुजः' इस उपमान पद के साथ 'इव' इस उपमानवाचक पद का नित्य समास होने से यह समासगा श्रौती उपमा का उदाहरण है ।

8.1.4. समासगा आर्थी उपमा

अवितथमनोरथपथप्रथनेषु प्रगुणगरिमगीतश्रीः ।
सुरतरुसुदृशः स भवानभिलषणीयः क्षितीश्वर ! न कस्य ।।

अर्थ - हे राजन् । आपके पास आने वाले याचकों के मनोरथ कभी व्यर्थ नहीं जाते, उन्हें अपने मनोरथ के अनुसार धन-धान्यादि अवश्य प्राप्त होता है, ऐसी आपकी लक्ष्मी की प्रसिद्धि है । इसलिए कल्पवृक्ष के समान हे राजन् ! आप किसके अभिलाष या कामना के विषय नहीं हैं अर्थात् हर एक व्यक्ति आपको चाहता है ।

अन्विती - प्रकृत श्लोक में 'सुरतरु' उपमान, 'क्षितीश्वर' उपमेय, 'प्रगुणगरिमगीतश्रीत्व' तथा 'अभिलषणीयत्व' साधारण धर्म एवं 'सदृश' उपमावाचक शब्द है । 'सुरतरुसदृशः' में उपमान तथा उपमानवाचक पदों का समास होने से यह समासगा आर्थी उपमा का उदाहरण है ।

8.1.5 तद्धितगा श्रौती तथा आर्थी पूर्णोपमा

गाम्भीर्यगरिमा तस्य सत्यं गङ्गाभुजङ्गवत् ।

दुरालोकः स समरे निदाघाम्बररत्नवत् ।।

अर्थ - उस राजा की गाम्भीर्य की गरिमा सचमुच (गङ्गा के उपपति अर्थात्) समुद्र (गङ्गा के वास्तविक पति शन्तनु थे, इसलिए समुद्र गङ्गा का भुजङ्ग - उपपति हुआ) के समान है और युद्ध भूमि में यह ग्रीष्मकाल के सूर्य के समान बडी कठिनाई से देखा जा सकता है ।

अन्विति - यहाँ श्लोक के पूर्वार्ध में 'गङ्गाभुजङ्ग' अर्थात् 'समुद्र' उपमान, 'तस्य' उपमेय, 'गाम्भीर्यगरिमा' साधारण धर्म तथा 'गङ्गाभुजङ्गस्य इव इति गङ्गाभुजङ्गवत्' इस विग्रह में 'तत्र तस्यैव' सूत्र द्वारा षष्ठ्यन्त 'गङ्गाभुजङ्गस्य' पद से इवार्थ में वति प्रत्यय होने से यह तद्धितगाश्रौती उपमा का उदाहरण होता है ।

तथा श्लोक के उत्तरार्ध में 'निदाघाम्बररत्न' उपमान, 'सः' उपमेय, 'दुरालोकत्व' साधारण धर्म तथा 'निदाघाम्बररत्नवत्' में 'निदाघाम्बररत्नेन तुल्यं इति निदाघाम्बररत्नवत्' इस विग्रह में 'तृतीयान्त' निदाघाम्बररत्नेन' पद से 'तेन तुल्य क्रिया चेद्वतिः' इस सूत्र द्वारा 'वति प्रत्यय' होने से यह तद्धितगा आर्थी पूर्णोपमा का उदाहरण भी होता है ।

लुप्तोपमा के उन्नीस (19) भेद

पूर्णोपमा में उपमान, उपमेय, साधारण धर्म तथा उपमावचाक पद, चारों शब्दतः उपात्त होते हैं । इस प्रकार उपमा की सारी सामग्री के शब्दतः उपस्थित होने के कारण ही इसको पूर्णोपमा कहते हैं । लुप्तोपमा में उक्त चारों सामग्री शब्दतः उपात्त नहीं होती है । उपमान आदि चारों में से किसी न किसी का लोप अवश्य होता है । अर्थात् उपमा आदि वाचक शब्द में किसी एक, दो अथवा तीन के लोप हो जाने से अर्थात् कथन नहीं किये जाने से लुप्तोपमा होती है । 'लोप' का अर्थ है - कहा नहीं जाना । इसलिए 'लुप्तोपमा' के 19 भेद हो जाते हैं ।

1. पाँच प्रकार की धर्मलुप्ता- (क) वाक्यगत श्रौती धर्मलुप्ता (ख)

वाक्यगत आर्थी धर्मलुप्ता (ग) समासगा श्रौती धर्मलुप्ता (घ) समासगा आर्थी धर्मलुप्ता (ङ) तद्धितगा आर्थी धर्मलुप्ता ।

2. छः (6) प्रकार की वाचकलुप्ता - (क) समासगा वाचक लुप्ता (कामिनीगणपाण्डुना) (ख) कर्म में क्यच् प्रत्यय होने पर वाचक लुप्ता (सुतमिवाचरित सुतीयति) (ग) आधार में क्यच् प्रत्यय होने पर (अन्तः पुरे इवाचरित अन्तःपुरीयति) (घ) क्यङ् प्रत्यय होने पर वाचकलुप्ता (नारी इव आचरति नारीयते) (ङ) कर्म में णमुल् प्रत्यय होने पर वाचकलुप्ता (निदाघधर्मांशुदर्शं पश्यति) (च) कर्ता में णमुल् प्रत्यय होने पर वाचकलुप्ता (पार्थसंचारम संचरति)

3. दो प्रकार की उपमानलुप्ता - (अ) वाक्यगा उपमानलुप्ता (ब) समासगा उपमान लुप्ता

4. धर्म तथा वाचक दो के लोप में दो प्रकार- (अ) क्विप्गता धर्मवाचकलुप्ता (ब) समासगा धर्मवाचकलुप्ता

5. धर्म तथा उपमान के लोप में दो प्रकार (अ) वाक्यगा धर्मोपमान लुप्ता (ब) समासगा धर्मोपमान लुप्ता

6. वाचक तथा उपमेय दो के लोप में एक भेद -(अ) क्यच् प्रत्यय होने पर वाचकोपमेय लुप्ता

7. उपमान, उपमावाचक तथा साधारण धर्म, तीनों का लोप - तीनों का लोप होने पर समासगा

• इस प्रकार लुप्तोपमा के 19 भेद होते हैं ।

विशेष - साधारण धर्म का लोप होने पर 'कल्पप्' आदि तद्धित प्रत्ययों के होने पर तो आर्थी धर्मलुप्ता ही होती है । श्रौती धर्मलुप्ता नहीं होती है । इसलिए श्रौती धर्मलुप्ता उपमा का तद्धितगत भेद न होने से धर्मलुप्ता उपमा 6 प्रकार की नहीं, अपितु केवल पाँच प्रकार की होती है । जैसे - प्रथम वाक्यगता श्रौती धर्मलुप्ता का उदाहरण -

धन्यस्यानन्यसामान्यसौजन्योत्कर्षशालिनः ।
करणीयं वचश्चेतः । सत्यं तस्यामृतं यथा ।।

अर्थ - असाधारण सौजन्य के उत्कर्ष से शोभायमान उस साधु महात्मा का अमृत के समान वचन, है चित्त ! वस्तुतः पालन करना चाहिए ।

अन्विति - उक्त श्लोक में 'अमृत' उपमान, और 'वचन' उपमेय है । 'परिणाम सुरसत्व' आदि उनका साधारण धर्म है, परन्तु अत्यन्त प्रसिद्ध होने के कारण यहाँ उसका ग्रहण नहीं किया गया है । इसलिए यह धर्मलुप्ता का उदाहरण है । 'यथा' शब्द उपमावाचक है । उसके साथ समास न होने से यह वाक्यगा का उदाहरण हुआ । और 'यथा' शब्द के प्रयोग के कारण 'श्रौती' उपमा हुई । इस प्रकार यह श्लोक 'वाक्यगा श्रौती धर्मलुप्ता' उपमा का उदाहरण है ।

वाक्यगा आर्थी धर्मलुप्ता का उदाहरण -

आकृष्टाकरवालोऽसौ संपराये परिभ्रमन् ।
प्रत्यर्थिसेनया दृष्टः कृतान्तेन समः प्रभुः ।।

अर्थ - हाथ में नंगी तलवार लिये हुए और संग्राम में घूमते हुए इस राजा को शत्रु की सेना ने यमराज के समान देखा (समझा) ।

अन्विति - उक्त श्लोक में 'यमराज' उपमान और 'राजा उपमेय है । उन दोनों का साधारण धर्म अत्यन्तक्रूरत्व, प्रसिद्ध होने के कारण शब्दतः उपात्त' नहीं हुआ है । 'आकृष्टकरवालत्व' को उन दोनों का साधारण धर्म नहीं कहा जा सकता । क्योंकि यमराज का आयुध करवाल नहीं, अपितु दण्ड माना जाता है और 'दृष्टः' को भी यमराज के अदृष्ट होने से, साधारण धर्म नहीं कहा जा सकता । 'सम' शब्द उपमा वाचक है,परन्तु उसके साथ समास न होने से यह वाक्यगा आर्थी धर्मलुप्ता का उदाहरण है ।

प्रकृत प्रसंग में आचार्य मम्मट ने धर्मलुप्ता के पाँच भेदों में से दो भेदों के अलग-अलग उदाहरण प्रस्तुत करने के पश्चात् शेष तीनों भेदों के एक ही श्लोक में प्रयोग का उदाहरण प्रस्तुत किया है -

करवाल इवाचारस्तस्य वागमृतोपमा ।
विषकल्पं मनो वेत्सि यदि जीवसि तत्सखे !।।

अर्थ - हे मित्र, (उस दुष्ट के चक्कर में पडकर भी) यदि जीवित रहते हो, तो तुम देखोगे कि उसका आचरण तलवार के समान, वाणी अमृत के समान और मन विष के समान है ।

अन्विति - उक्त श्लोक के पूर्वार्ध में समासगा श्रौती तथा समासगा आर्थी धर्मलुप्ता का तथा उत्तरार्ध में तद्धितगा धर्मलुप्ता का प्रयोग पाया जाता है । इस प्रकार यह एक ही श्लोक तीन भेदों का उदाहरण है ।

1. 'करवाल इवाचारः' इसमें 'करवाल' उपमान और 'आचार' उपमेय है । 'घातुकत्व' उनका साधारण धर्म है, परन्तु प्रसिद्ध होने के कारण शब्दतः उपात्त नहीं किया गया है । 'इव' के साथ समास है । इसलिए यह समासगा श्रौती धर्मलुप्ता का उदाहरण है ।
2. 'वागमृतोपमा' इसमें 'वाक्' उपमेय, 'अमृत' उपमान और 'माधुर्य' उनका साधारण धर्म है, परन्तु वह शब्दतः नहीं कहा गया है । 'उपमा' शब्द सदृशार्थक और उपमावाचक है । उसके साथ समास होने से यह समासगा आर्थी धर्मलुप्ता का उदाहरण है ।
3. 'विषकल्पं मनः' इसमें 'विष' उपमान, 'मन' उपमेय और तद्धित का कल्पप प्रत्यय उपमावाचक है। 'नाशकत्व' साधारण धर्म शब्दतः नहीं कहा गया है । इसलिए यह तद्धितगा आर्थी धर्मलुप्ता का उदाहरण हुआ ।

उपमान लुप्ता के दो भेद -

उपमा का ग्रहण न करने पर (1) वाक्यगा तथा (2) समासगा (दो प्रकार की उपमान लुप्ता उपमा) होती है।

विशेष - (धर्मलुप्ता के पाँच भेद दिखलाये गये थे, परन्तु उपमानलुप्ता के कवेल दो ही भेद रह गये। इसका कारण यह है कि उपमा प्रतिपादक 'वति' आदि 'तद्धित प्रत्यय' उपमानवाचक पद से होते हैं। इसलिए उपमान का लोप होने पर उपमान लुप्ता के तद्धितगत दोनों भेद नही बन सकते है। इसी प्रकार श्रौती उपमा में भी 'इव' आदि उपमावाचक पदों का उपमानवाचक पद के साथ ही अन्वय होता है। इसलिए उपमानवाचक पद के न रहने पर श्रौती के भी वाक्यगत तथा समासगत दोनों भेद नहीं बन सकते है। उपमानलुप्ता के केवल वाक्यगत तथा समासगत आर्थी रूप दो ही भेद हो सकते है। उन दोनों भेदों के उदाहरण -

सकलकरणपरविश्रामश्रीवितरणं न सरसकाव्यस्य।

दृश्यतेऽथवा निशम्यते सदृशमंशाशमात्रेण ।। (संस्कृत छाया)

अर्थ - सरस काव्य के समान समस्त इन्द्रियों की परम विश्रान्तिश्री का वितरण (अन्यत्र कहीं) लेशमात्र भी न देखा और न सुना जाता है।

अन्विति - उक्त श्लोक में वर्णनीय होने से 'काव्य' उपमेय है, उमान का उपादान नहीं किया गया है। 'सकलकरणपरविश्रामश्रीवितरण' साधारण धर्म तथा 'सदृश' उपमावाचक पद है। उसका किसी के साथ समास न होने से, यह 'वाक्यगा' आर्थी 'उपमानलुप्ता' का उदाहरण हुआ है। 'काव्यस्य के स्थान पर 'काव्यसमम्' तथा 'सरिसम्' के स्थान पर 'नूनं' पाठ कर देने से यही 'समासगा' का उदाहरण हो सकता है।

वाचकलुप्ता उपमा के 6 भेद

'वा' शब्द उपमा का द्योतक शब्द है, इसलिए 'वा' इत्यादि उपमाप्रतिपादक (पदों) का लोप होने पर (1) समास में (2) कर्म में विहित क्यच् तथा (3) अधिकरण में उत्पन्न क्यच् (4) कर्ता में क्यङ् (5) कर्म उपपद रहते णमुल् तथा (6) कर्ता उपपद रहते णमुल् प्रत्यय के होने से छ (6) प्रकार की (वाचक लुप्ता उपमा) होती है।

उदाहरण जैसे -

ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना।

नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलंकृता।।

अर्थ - (1 अ) तब कामिनी के कपोल स्थल के सदृश पीतवर्ण, कुमुदों के स्वामी, नेत्रों को आनन्द प्रदान करने वाले, चन्द्रमा ने पूर्व दिशा को अलंकृत किया।

अन्विति - उक्त श्लोक में 'कामिनी गण्ड इव पाण्डु' अथवा 'कामिनीगण्डवत् पाण्डु' इस विग्रह में 'उपमानानि सामान्यवचनैः' इस सूत्र से उपमान तथा साधारण धर्म

वाचक दोनों पदों का समास होने पर यह 'समासगा वाचकलुप्ता' का उदाहरण होता है। इसमें समासविधायक सूत्र में 'उपमानानि' इत्यादि कथन से साधर्म्य की प्रतीति हो जाने के कारण उपमा वाचक इवादि के प्रयोग की आवश्यकता नहीं रहती है, इसलिए यह वाचकलुप्ता उपमा कहलाती है। प्रकृत उदाहरण में उपमान तथा साधारण धर्म वाचक दो पदों का समास हुआ है। इसलिए यह 'द्विपद समासगा' का उदाहरण है। अगले उदाहरण में उपमान, उपमेय, तथा साधारण धर्म तीनों के वाचक पदों का समास होने से 'बहुपदसमासगा वाचकलुप्ता' होती है। जैसे -

असितभुजगभीषणासिपत्रो रुहरुहिकाहितचित्ततूर्णचारः।
पुलकिततनुरुत्कपोलकान्तिः प्रतिभटविक्रमदर्शनेऽयमासीत् ।।

अर्थ - काले नाग के समान भीषण तलवारवाला यह वीर शत्रु को सम्मुख देखकर उत्साह (रुहरुहिका) से चित्त के व्याप्त हो जाने से त्वरित गति, पुलकित शरीर और गालों पर विकसित कान्तिवाला हो गया।

अन्विति - इसमें 'असितभुजग' पद उपमानवाचक 'भीषण' पद साधारण धर्म वाचक और 'असिपत्र' पद उपमेय वाचक है। इन तीनों पदों का समास हो गया है। इसलिए वह 'बहुपदसमासगा' वाचकलुप्ता' का उदाहरण है।

तीन प्रकार की वाचकलुप्ता का उदाहरण -

पौरं सुतीयति जनं समरान्तरेऽसावन्तःपुरीयति विचित्रचरित्रचुञ्चुः।
नारीयते समरसीम्नि कृपाणपाणेरालोक्य तस्य चरितानि सपत्नसेना ।।

अर्थ - यह राजा अपने प्रजाजनों को पुत्र के समान समझता है। विचित्र चरित्र से प्रसिद्ध यह राजा युद्ध क्षेत्र में अन्तःपुर के समान आचरण करता है और युद्ध क्षेत्र में तलवार हाथ में लिये हुए उसके चरित्र को देखकर शत्रुसेना स्त्री के समान आचरण करती है।

अन्विति - उक्त श्लोक में (1) 'पौरं जनं सुतीयति' में कर्म में 'क्यच्' प्रत्यय, (2) 'समरान्तरे अन्तः पुरीयति' में आधार में 'क्यच्' प्रत्यय, तथा (3) 'नारीयते' में 'क्यङ्' प्रत्यय के प्रयोग से तीन प्रकार की वाचकलुप्ता होती है।

कर्म और कर्ता में *'णमुल्' प्रत्यय* के होने पर दो प्रकार की वाचकलुप्ता -

मृधे निदाघघर्मांशुदर्शं पश्यन्ति तं परे।
स पुनः पार्थसंचारं संचरत्यवनीपतिः ।।

अर्थ - युद्ध में शत्रु उस राजा को ग्रीष्मकाल के सूर्य के समान देखते हैं और वह राजा (रणक्षेत्र में) अर्जुन के समान विचरण करता है।

अन्विति - उक्त श्लोक में 'निदाघघर्मांशुदर्शं' पद में 'निदाघघर्मांशुमिव' पश्यन्ति

इस विग्रह में 'उपमाने कर्मणि च' के अनुसार णमुल् प्रत्यय हुआ है और 'पार्थसंचारं संचरति' में 'उपमानादाचारे' के अनुसार कर्ता में णमुल् प्रत्यय हुआ है।

द्विलुप्ता उपमा के पाँच भेद -

धर्म तथा वादि (उपमावाचक पदों) के लोप होने पर दो प्रकार की लुप्तोंपमा होती है -

सविता विधवति विधुरपि सवितरति तथा दिनन्ति यामिन्यः।
यामिनयन्ति दिनानि च सुखदुःखवशीकृते मनसि।।

अर्थ - मन के सुखाधीन होने पर (प्रचण्ड) सूर्य भी चन्द्रमा के समान (आनन्ददायक हो जाता है) और दुःखाधीन होने पर चन्द्रमा भी सूर्य के समान (दुःख दायक) हो जाता है। रात्रियाँ भी दिन बन जाती है और दिन भी रात्रि में परिणत हो जाता है।

अन्विति - उक्त श्लोक में (1) 'विधवति' (2) 'सवितरित' (3) 'दिनन्ति' तथा 'यामिनयन्ति' ये चार क्विबन्त प्रयोग पाये जाते हैं। इन चारों प्रयोगों में 'विधुरिव आचरति विधवति' आदि विग्रह में 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' सूत्र के अनुसार 'सर्व प्रातिपदिकेभ्य आचारे क्विवा वक्तव्यः' इस वार्तिक से आचारार्थ में क्विप् प्रत्यय होकर 'विधवति' 'सवितरित' आदि प्रयोग बनते हैं। यहाँ आचार अर्थ में क्विप् प्रत्यय होता है, उसी आचार को समान धर्म कहा जा सकता है। इसलिए यह धर्मलोप का उदाहरण नहीं हो सकता, यह शंका की जा सकती है, परन्तु यहाँ उस आचारार्थ के सूचक क्विप् प्रत्यय का 'वेरपृक्तस्य' सूत्र से सर्वापहारी लोप हो जाता है। उसका कोई अंश शेष नहीं रह जाता है, इसलिए इसको 'धर्मलोप' का उदाहरण माना गया है।

धर्म तथा इवादिके लोप में समासगा लुप्तोपमा का उदाहरण -

परिपन्थिमनोराज्यशतैरपि दुराक्रमः।
संपरायप्रवृत्तोऽसौ राजते राजकुञ्जरः।।

अर्थ - शत्रुगण जिस पर सैकड़ों मनोरथों से भी विजय नहीं प्राप्त कर सकते हैं, इस प्रकार का युद्ध में लगा हुआ यह श्रेष्ठ राजा शोभित हो रहा है।

अन्विति - प्रकृत में 'राजा कुञ्जर इव राजकुञ्जरः' इस प्रयोग में 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' सूत्र से समास होकर 'राजकुञ्जर' प्रयोग बनता है। यद्यपि यहाँ 'राजते' इसको सामान्य धर्म कहा जा सकता है, तथापि समासविधायक सूत्र में 'सामान्याप्रयोगे' सामान्य धर्म का प्रयोग न होने पर ही समास का विधान किया गया है। इसलिए 'राजते' रूप सामान्य धर्म को अविवक्षित मानकर, धर्म तथा वादि के लोप में यह समासगा लुप्तोपमा का उदाहरण होता है।

धर्म तथा उपमान का लोप होने पर समासगा तथा वाक्यगा दो प्रकार की द्विलुप्ता उपमा जैसे -

टुण्टुणायमानो मरिष्यसि कण्टककलितानि केतकीवनानि ।

मालतीकुसुमसदृशं भ्रमर! भ्रमन् न प्राप्स्यसि ।। (संस्कृत छाया)

अर्थ -काँटों से भरे हुए केतकी के वनों में 'टुन-टुन' (याचना) करते हुए घूम-घूम कर मर जाओगे पर हे भ्रमर ! मालती के कुसुम के सदृश (सुन्दर अन्य पुष्प) न पाओगे।

अन्विति - उक्त श्लोक में 'मालती कुसुम' उपमेय तथा 'सदृश' उपमावाचक शब्द दो का ग्रहण किया गया है । धर्म तथा उपमान का प्रयोग नहीं हुआ है । इसलिए यह द्विलुप्ता उपमा का उदाहरण है । 'मालती कुसुम सदृश' यह समास पद है । इसलिए यह समासगा का भी उदाहरण है । इसी श्लोक में यदि 'कुसुमसदृश' के स्थान पर 'कुसुमेन समं' यह पाठ कर दिया जाय तो 'वाक्यगा' का उदाहरण हो जायगा ।

वादि (उपमावाचक शब्द) तथा उपमेय (इन दो) का लोप होने पर 'क्यच् गत' (एक प्रकार की द्विलुप्तोपमा) होती है । जैसे -

अरातिविक्रमालोकविकस्वरविलोचनः ।

कृपाणोदग्रदोर्दण्डः स सहस्रायुधीयति ।।

अर्थ - शत्रुओं के पराक्रम को देखने से जिसकी आँखे चमक उठी है, इस प्रकार का तलवार के कारण भयंकर हाथवाला वह राजा सहस्रायुध के समान प्रतीत होता है ।

अन्विति - यहाँ 'सहस्रायुधमिव आत्मानमाचरति सहस्रायुधीयति' यह 'उपमानादाचारे' इस सूत्र से आचारार्थं में 'क्यच्' प्रत्यय होकर रूप बनता है । इसमें 'आत्मा' उपमेय है । उसका तथा उपमावाचक 'वादि' का लोप होने से यह भी द्विलुप्ता उपमा का उदाहरण है।

विशेष - रुद्रट ने अपने काव्यालङ्कार में उपमा के उक्त भेदों के अतिरिक्त 2 प्रकार की मालोपमा तथा 2 प्रकार की रशनोपमा और मानी है, किन्तु मम्मट इन भेदों का उक्त भेदों में ही अन्तर्भाव मानते हैं, इसलिए उन्होंने उसके लक्षण आदि नहीं किये हैं ।

उपमा के प्रकारों को हृदयंगम करने की दृष्टि से अधोलिखित तालिका महत्त्वपूर्ण हैं - जिसमें तत्तत् भेदों को उदाहरणों के द्वारा समझाया गया है ।

उपमा के प्रकार

पूर्णोपमा

क) **श्रौती**	(1) वाक्यगा	1. मुखं रम्यं यथा पद्मम् ।
	(2) समासगा	2. पद्ममिव रम्यं मुखम् ।
	(3) तद्धितगा	3. मुखस्य रम्यता पद्मवत् ।
ख) **आर्थी**	(1) वाक्यगा	4. आरक्तं मुखं पद्मं च समम् ।
	(2) समासगा	5. रम्यं मुखं पद्मसदृशम् ।
	(3) तद्धितगा	6. मुखं पद्मवत् शोभते ।

लुप्तोपमा

अ. धर्मलुप्ता

क) **श्रौती**	(1) वाक्यगा	7. पद्मं व मुखं सुलोचनम् ।
	(2) समासगा	8. पद्ममिव एतत् मुखम् ।
ख) **आर्थी**	(1) वाक्यगा	9. पद्मेन समं मुखं सुलोचनम् ।
	(2) समासगा	10. पद्मसमम् एतद् मुखम् ।
	(3) तद्धितगा	11. पद्मकल्पम् एतत् मुखम् ।

आ. उपमानलुप्ता

क) **श्रौती**	भेद सम्भव नहीं	
ख) **आर्थी**	1) वाक्यगा	12. मुखस्य सदृशं रम्यं न दृश्यते।
	2) समासगा	13. मुखसदृशं रम्यं न दृश्यते ।

इ. वादिलुप्ता

क) **श्रौती**	भेद सम्भव नहीं	
ख) **आर्थी**	1) समासगा	14. पद्मारक्तं मुखं भाति । पद्मारक्तमुखी बाला।
	2) कर्मक्यच्-गा	15. रमणीमुखं पद्मीयति विदग्धः ।
	3) आधारक्यच्-गा	16. रमणीमुखे पद्मीयति विदग्धदृक्।
	4) क्यङ्-गा	17. मुखं पद्मायते तस्याः ।
	5) कर्मणमुल्गा	18. पद्मदर्श पश्यति जनः कान्तामुखम् ।
	6) कर्तृणमुल्गा	19. मुखं पद्मोल्लासम् उल्लसति ।

ई. धर्मवादिलुप्ता

क) **श्रौती**	भेद सम्भव नहीं	
ख) **आर्थी**	1) क्विप्-गा	20. मुखं पद्मति कामिन्याः ।
	2) समासगा	21. मुखपद्मं सुलोचनम् ।

उ. धर्मोपमानलुप्ता

क) **श्रौती**	भेद सम्भव नहीं	
ख) **आर्थी**	1. समासगा	22. मुखसदृशं न उपलभ्यते ।
	2. वाक्यगा	23. मुखस्य सदृशं न उपलभ्यते ।

ऊ. उपमेयावादिलुप्ता

क) **श्रौती** भेद सम्भव नहीं

ख) **आर्थी** 1. क्यच्-गा 24. पद्मीयति मुखं तव ।

ए. उपमानवादिधर्मलुप्ता

क) **श्रौती** भेद सम्भव नहीं

ख) **आर्थी** 1. समासगा 25. पद्मकान्ति मुखं तस्याः

8.2 रूपकालङ्कार

लक्षण - तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः

अर्थ - उपमान और उपमेय (जिनका भेद प्रसिद्ध है, उनका सादृश्यातिशय) का जो अभेद वर्णन है, वह रूपक अलङ्कार है । अर्थात् - अत्यन्त सादृश्य के कारण प्रसिद्ध भेद वाले उपमान और उपमेय का अभेद वर्णन रूपकालङ्कार कहलाता है ।

8.2.1 रूपक के भेद

आचार्य मम्मट के अनुसार रूपक अलङ्कार के अधोलिखित भेद है ।

क)	**सांग रूपक**	1)	समस्तवस्तुविषय	
		2)	एकदेशविवर्ती	
ख)	**निरंग रूपक**	1)	शुद्ध	
		2)	मालात्मक	
ग)	**परंपरित रूपक**	1)	श्लिष्ट	अ) शुद्ध
				अ) मालात्मक
		2)	अश्लिष्ट	अ) शुद्ध
				आ) मालात्मक

क) सांग समस्तवस्तुविषय रूपक

'जब आरोपित (अर्थात् आरोप्यपाण अर्थ) शब्दतः निर्दिष्ट होते है, अर्थात् उपात्त (श्रौत) होते हैं, तब (वह रूपक का) समस्त वस्तुविषय (नामक) (प्रथम) भेद होता है । अर्थात् सभी आरोप्यमाण ओर सभी आरोप के विषयों का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन किया जाना । जैसे -

ज्योत्स्नाभस्मच्छुरणधवला बिभ्रती तारकास्थी -
न्यन्तर्द्धानव्यसनरसिका रात्रिकापालिकीयम् ।
द्वीपाद् द्वीपं भ्रमति दधती चन्द्रमुद्राकपाले,
न्यस्तं सिद्धाञ्जनपरिमलं लाञ्छनस्य च्छलेन ।।

अर्थ - चाँदनी रूप भस्म से व्याप्त होने के कारण धवल वर्ण, तारिकारूप अस्थियों को धारण किये हुए और अन्तर्धान (सब वस्तुओं को छिपा लेने) के व्यसन की रसिका, यह रात्रिरूप कापालिकी, चन्द्रकलारूप कपाल में कलङ्क के बहाने से सिद्धाञ्जन

चूर्ण को रखे हुए द्वीप द्वीपान्तर में घूमती फिरती है ।

अन्विति - उक्त उदाहरण में रात्रि के ऊपर कापालिकी का आरोप किया गया है। वही प्रधान रूपक है। उसके उपपादन के लिए अङ्गरूप में ज्योत्स्ना पर भस्म का तारकों पर अस्थिका, चन्द्रकला पर कपाल का और लाञ्छन पर सिद्धाञ्जन परिमल का आरोप किया गया है । ये सब अङ्गभूत रूपक है । अतः यहाँ उस रूपक का उप उपमा के साथ संकर हुआ है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए । क्योंकि उक्त उदाहरण में रूपक पक्ष में निर्णय कराने वाले अनेक विनिगमक हेतु विद्यमान हैं । रूपक के उन विनिगमक हेतुओं में 'अन्तर्धानव्यसनरसिका' यह विशेषण मुख्य है । यह विशेषण कापालिकी पक्ष में तो बन जाता है, परन्तु रात्रि के पक्ष में ठीक तरह से नहीं बनता है, अतः उसके आधार पर यहाँ रूपक का ही निश्चय होता है।

ख) सांग एकदेशविवर्ति रूपक -

जिस रूपक में वे (अर्थात् आरोपित धर्म उपमान कुछ अंश में) (शब्दतः) शब्दों से प्रतिपादित और कुछ अंशों में) आर्थ (अर्थात् अर्थतः आक्षिप्त (ध्वनित) होते है वह 'एकदेश विवर्ति' रूपक होता है । संक्षेप मे इस रूपक में कुछ उपमान शब्दों से प्रतिपादित होती हैं, और कुछ अर्थ के बल से जानने योग्य होते हैं ।जैसे -

यस्य रणान्तःपुरे कुर्वतो मण्डलाग्रलताम् ।

रससम्मुख्यपि सहसा पराङ्मुखी भवति रिपुसेना ।। (संस्कृत छाया)

अर्थ - जिसके रणरूप अन्तःपुर में खङ्गलता (तलवार) को हाथ में पकड़ते ही युद्धोत्साहसे बढ़ती हुई (रस सम्मुखी) भी शत्रुसेना सहसा भाग खडी होती है ।

अन्विति - प्रकृत पद्य में 'रण' के ऊपर 'अन्तःपुरत्व' रूप आरोप्यमाण शब्दतः निर्दिष्ट है, परन्तु 'खङ्गलता' का (आरोप्यमाण) 'नायिकात्व' (अर्थात् खङ्गलता पर नायिका का आरोप) तथा 'रिपुसेना' का आरोप्यमाण 'प्रतिनायिकात्व' (अर्थात् शत्रुसेना पर प्रतिनायिका का आरोप) अर्थबल से प्रतीत होता है । इस प्रकार (एक भाग में) रणान्तः पुररूप एक देश में स्पष्ट रूप से वर्तमान (विशेषेण वर्तनात्) होने से यह रूपक एकदेशविवर्ति (रूपक) कहलाता है ।

ग) निरङ्ग शुद्ध रूपक

शुद्ध अर्थात् अङ्गांगि भाव से रहित, अन्य रूपकों से अमिश्रित के एक अद्वितीय रूपक निरङ्ग रूपक कहलाता है । जैसे

कुरङ्गीवाङ्गानि स्तिमितयति गीतध्वनिषु यत् सखी कान्तोदन्तं श्रुतमपि पुनः प्रश्नयति यत् ।

अनिद्रं यच्चान्तः स्वपिति तदहो वेद्म्यभिनवां, प्रवृत्तोऽस्याः सेक्तुं हृदि मनसिजः प्रेमलतिकाम् ।।

अर्थ - क्योंकि यह (किशोरी नायिका) गाने की आवाज (सुनने) पर हरिणी के समान अङ्गो को निश्चल कर लेती है । प्रियतम के (एक बार) सुने हुए समाचार को भी सखी से बार-बार पूछती है और बिना नींद के भी भीतर सोती (लेटी रहती) है । इससे मैं समझती हूँ कि कामदेव ने इसके हृदय में नयी प्रेमलता को सींचना प्रारम्भ कर दिया है ।

अन्विति - प्रकृत पद्य में प्रेम के ऊपर लतिका का आरोप किया गया है, इसलिए रूपक है । उसके अङ्गरूप में और कोई रूपक नहीं आया है ? इसलिए यह निरङ्गरूपक का उदाहरण है ।

घ) निरङ्ग माला रूपक

पूर्ववत् (अर्थात् पूर्व में कथितानुसार) अर्थात् 'मालोपमा' के समान एक (आरोपविषय) पर बहुतों का आरोप किया जाता है । वहाँ माला रूपक होता है । जैसे -

सौन्दर्यस्य तरङ्गिणी तरुणिमोत्कर्षस्य हर्षोद्गमः कान्तेः कार्मणकर्म नर्मरहसामुल्लासनावासभूः ।
विद्या वक्रगिरांविधेरनवधि प्रावीण्यसाक्षात्क्रिया बाणाः पञ्चशिलीमुखस्य ललनाचूडामणिः सा प्रिया।।

अर्थ - स्त्रियों की शिरोमणि वह प्रिया, सौन्दर्य की नदी नवयौवन के उत्कर्षकी प्रसन्नता का प्रवाह, कान्तिका (कार्मण कर्म) वशीकरण मन्त्र, रतिक्रिया का आश्रय स्थान, वक्रोक्तिरूप वाणी की विद्या, (अर्थात् वक्रोक्ति में निपुण) विधाता के अनन्त निपुणता का साक्षात्कार कराने वाली और कामदेव के (समस्त) बाणरूप है ।

अन्विति - उक्त श्लोक में एक प्रियतमारूप उपमेय या आरोप विषय पर सात आरोप्यमाणों का आरोप किया गया है और उन सातों में परस्पर अङ्गाङ्गिभाव नहीं है, इसलिए यह निरङ्ग माला रूपक है ।

ङ) परम्परित रूपक

श्लिष्ट अथवा अश्लिष्ट शब्दों के होने पर जो अन्य का आरोप, अवश्यापेक्षणीय अर्थ के आरोप का कारण होता है । वह परम्परित रूपक कहलाता है । 'परम्परित' का अर्थ है - पम्परा आश्रित, अर्थात् कार्य और कारण रूप से आरोपों की परम्परा होना, उपमेय में किये गये एक आरोप का दूसरे आरोप के आश्रित होना । अतः 'परम्परित' रूपक में एक आरोप का कारण होता है । इसके दो भेद हैं (1) श्लेष मूलक (2) अश्लेष मूलक

1) श्लेष मूलक

विद्वन्मानसहंस ! वैरिकमलासंकोचदीप्तद्युते ! दुर्गामार्गणनीललोहित ! समित्स्वीकारवैश्वानर !
सत्यप्रीतिविधानदक्ष ! विजय प्राग्भावभीम ! प्रभो ! साम्राज्यं वरवीर ! वत्सरशतं वैरिञ्चमुच्चैः क्रियाः।।

अर्थ - हे वीरवर राजन् ! विद्वानों के मन (रूप मानसरोवर) के हंस, शत्रुओं की

लक्ष्मी के संकोचरूप, कमलों के विकास के लिए सूर्य, दुर्गा अर्थात् किलों के अमार्गण न खोजनेरूप दुर्गा अर्थात् पार्वती के मार्गण अर्थात् अनुसन्धान (प्राप्ति) के लिए नीललोहित अर्थात् - शिव, समित् अर्थात् युद्धों के स्वीकार करने रूप समिधाओं (इन्धन) के स्वीकार के लए अग्निरूप,सत्यभाषण में प्रीतिरूप और सती अर्थात् पार्वती की अप्रीति (नाराजगी) उसके करने में दक्ष प्रजापतिरूप, विजय अर्थात् शत्रु का पराभव ही विजय अर्थात् अर्जुन, उसका प्राग्भाव अर्थात् अर्जुन की अपेक्षा प्रथम उत्पत्ति, उसके लिए भीमरूप , हे वीरवर । आप ब्रह्मा के सौ वर्ष तक (वैरिञ्चवत्सरशतं) महान् साम्राज्य को (अर्थात् चक्रवर्ती राज्य को) करो ।

अन्विति - उक्त पद्य श्लिष्ट, मालारूप परम्परित रूपक का उदाहरण है । यद्यपि यह श्लेषाधिष्ठित 'परम्परित रूपक अलङ्कार का उदाहरण है, जैसा कि पूर्व में नवम उल्लास में कहा है, फिर भी प्राचीन आचार्यों की परम्परा का अनुसरण कर उसका यहाँ विवेचन किया है । कारण यह भी है, अन्य भामह आदि आचार्य इसको 'एकदेशविवर्ती' रूपक कहते हैं ।

2) पृथक् पद युक्त परम्परित रूपक

अब अश्लिष्ट अमला रूप केवल परम्परित रूपक का उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है। जैसे -

आलानं जयकुञ्जरस्य दृषदां सेतुर्विपद्वारिधेः, पूर्वाद्रिः करवालचण्डमहसो लीलोपधानं श्रियः ।

संग्रामामृतसागरप्रमथनक्रीडाविधौ मन्दरो राजन् ! राजति वीरवैरिवनितावैधव्यदस्ते भुजः ।।

अर्थ - हे राजन् शत्रुओं की स्त्रियों को वैधव्य प्रदान करने वाला आपका बाहु, विजयरूप हाथी का बन्धन स्तम्भ (आलान) है, विपत्तिरूप सागर (को पार करने) का पत्थरों का पुल है, तलवार के प्रचण्ड तेजरूप सूर्य का उदयाचल है, लक्ष्मी के आराम करने का तकिया, संग्रामरूप अमृत सागर मंथन करने की क्रीडा में मन्दराचलरूप शोभित हो रहा है ।

अन्विति - प्रकृत पद्य में अलग-अलग शब्दों से वाच्य जयादि पर कुञ्जरत्वादिका आरोप होने पर भुजा पर आलान आदि का आरोप बनता है । अतः यह परम्परित रूपक है । आरोप विषय जयादि तथा आरोप्यमाण कुञ्जरत्वादि दोनों अलग-अलग शब्दों से वाच्य है । 'विद्वन्मानस' आदि शब्दों के समान श्लिष्ट शब्दों से वाच्य नहीं हैं, अतएव यह अश्लिष्ट परम्परति रूपक है और इस प्रकार के अनेक आरोप एक ही भुजा के ऊपर किये गये है इसलिए यह अश्लिष्ट परम्पररित मालारूपक का उदाहरण है ।

8.3 उत्प्रेक्षालङ्कार

लक्षण - 'सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् ।

अर्थ - प्रकृत (अर्थात् वर्ण्य उपमेय) की सम (अर्थात् उपमान) के साथ सम्भावना (अर्थात् उत्कटैककोटिक सन्देह) उत्प्रेक्षा कहलाती है । संक्षेप में उपमेय में उपमान की सम्भावना की जाने को उत्प्रेक्षालंकार कहते हैं ।

उत्प्रेक्षा का अर्थ है - ' उत्कटा प्रकृष्टस्योपमानस्य ईक्षा ज्ञानं उत्प्रेक्षापदार्थः । अर्थात् उपमान का उत्कटता से ज्ञान किया जाना । सम्भाव वान' का अर्थ भी 'एक कोटि का प्रबल ज्ञान' है । एक ज्ञान तो समान कोटि का होता है । जैसे अंधेरे में सूखे वृक्ष के ठूठ को देखकर सन्देह होता है कि यह मनुष्य है या वृक्ष का ठूंठ ? ऐसे समान कोटिक संशय ज्ञान में मनुष्य का होना और वृक्ष के ठूंठ का होना दोनों ज्ञानों की समान कोटि होती है। ऐसा समान कोटि का ज्ञान जहाँ कवि प्रतिभोत्पन्न - चमत्कारक होता है वहाँ तो पूर्वोक्त सन्देह अलङ्कार होता है और जहाँ ऐसे संशय ज्ञान में एक कोटि का प्रबल (उत्कट) ज्ञान होता है अर्थात् निश्चितप्राय ज्ञान मान लिया जाता है । उसे सम्भावना कहते हैं उत्कटैककोटिः संशयः सम्भावनम् । उत्प्रेक्षा अलङ्कार में उपमेय में उपमान की सम्भावना की जाती है । जैसे -

उन्मेषं यो मम न सहते जातिवैरी निशायामिन्दोरिन्दीवरदलदृशा तस्य सौन्दर्यदर्पः। नीतः शान्तिं प्रसभमनया वक्रकान्त्येतिहर्षाल्लग्ना मन्ये ललिततनु ते पादयोः पद्मलक्ष्मीः।।

अर्थ - जो (मुझ कमलश्री का) जन्म का बैरी (चन्द्रमा) रात्रि में (भी) मेरे विकास को सहन नही करता है, इस कमलनयनी ने उस (चन्द्रका) का सौन्दर्याभिमान अपने मुख की कान्ति से हठात् नष्ट कर दिया है, इस कारण से (ऐसा मानकर) हे सुन्दर शरीरवाली प्रियतमे ! प्रसन्नता के कारण कमल की लक्ष्मी मानों तुम्हारे चरणों में चिपट गयी है ।

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ।।

(वर्षाकाल की रात्रि के समय) अन्धकार अङ्गों को लीपसा रहा है । आकाश काजल की वृष्टि सी कर रहा है और दुष्ट पुरुष की सेवा के समान दृष्टि विफल सी हो गयी है ।

अन्विति - इत्यादि में व्यापन आदि (उपमेय, उपमानभूत) लेपनादिरूप से सम्भावित (उत्कटैककोटिक सन्देह रूप) किये गये हैं, अतः यहाँ उत्प्रेक्षालङ्कार है ।

उपमा और उत्प्रेक्षा का भेद

1. मन्ये, शङ्के , ध्रुवं, प्रायः, नूनं ये उत्प्रेक्षावाचक शब्द है । इनका प्रयोग उपमा में नहीं होता है। अतः जहाँ इन शब्दों का प्रयोग होता है, वहाँ स्पष्टतः 'उत्प्रेक्षा' अलङ्कार समझना चाहिये ।

2. 'इव' शब्द ऐसा है, जो उत्प्रेक्षा तथा उपमा दोनों का वाचक है , किन्तु उत्प्रेक्षा में 'इव' शब्द का प्रयोग प्रायः क्रियापद के साथ होता है, जैसे लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' वर्षतीवाञ्जनं नभः' आदि के सदृश जब क्रियापद के साथ 'इव' का प्रयोग हो तब उसको निश्चितरूप से उत्प्रेक्षा समझना चाहिये ।

3. उपमा का प्राण सादृश्य है और उत्प्रेक्षा का प्राण सम्भावना है । सम्भावना में उपमान कल्पित होता है। उपमेय का वस्तुसत् उपमान के साथ सादृश्य होने पर उपमा होती है और उपमेय की कल्पित उपमानरूपेण सम्भावना होने पर उत्प्रेक्षा होती है ।

8.4 अर्थान्तरन्यास अलङ्ककार

लक्षण - सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।

यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ।।

अर्थ - सामान्य अथवा विशेषका उससे भिन्न (अर्थात् सामान्य का विशेष के द्वारा अथवा विशेष का सामान्य) के द्वारा जो समर्थन किया जाता है, वह अर्थान्तरन्यास (अलङ्कार) साधर्म्य तथा वैधर्म्य से होता है। अर्थान्तन्यास का अर्थ है अर्थान्तर (अन्य अर्थ) का न्यास अर्थात् रचना । यह भी गम्य औपम्याश्रित सादृश्य मूलक अलङ्कार है । चार प्रकार का होता है ।

8.4.1 भेद

साधर्म्याधिष्ठित

1. विशेष से सामान्य का साधर्म्य से समर्थन ।
2. सामान्य से विशेष का साधर्म्य से समर्थन ।

वैधर्म्याधिष्ठित

3. विशेष से सामान्य का वैधर्म्य से समर्थन ।
4. सामान्य से विशेष का वैधर्म्य से समर्थन ।

साधर्म्याधिष्ठित (विशेष से सामान्य का समर्थन)

निजदोषावृतमनसामतिसुन्दरमेव भाति विपरीतम् ।
पश्यति पित्तोपहतः शशिशुभ्रं शंखमपि पीतम् ।।

अर्थ - अपने दोष से जिनका मन व्याप्त हो रहा है, उनको अत्यन्त सुन्दर वस्तु भी बुरी जान पडती है। पित्त से पीडित पुरुष को चन्द्रमा के समान शुभ्र शंख भी पीला दिखलाई देता है ।

अन्विति - प्रकृत में अपने मन में दोष होने पर अच्छी बात भी बुरी मालूम होती है, इस सामान्य सिद्धान्त का समर्थन पीलिया रोग से ग्रस्त रोगी को शंख भी पीला

दिखलाई देता है, इस विशेष उदाहरण के द्वारा किया गया है । अतः यह साधर्म्य के द्वारा विशेष से सामान्य के समर्थन का उदाहरण है ।

2. साधर्म्याधिष्ठित (सामान्य से विशेष का समर्थन)

सुसितवसनालंकारायां कदाचन कौमुदीमहसि सुदृशि स्वैरं यान्त्यां गतोऽस्तमभूद्विधुः।
तदनु भवतः कीर्तिः केनाप्यगीयत येन सा प्रियगृहमगान्मुक्ताशंका क्व नासि शुभप्रदः।।

अर्थ - सुन्दर शुभ्र वस्त्रों एवं आभूषणों को धारण किये हुए किसी दिन चन्द्रमा की चाँदनी में सुनयना नायिका अभिसार के लिए प्रिय के घर जा रही थी । इतनें में चन्द्रमा अस्त हो गया । (फलतः अन्धेरा हो जाने से उसके सफेद कपडे और अधिक दूर से दिखलाई देने लगे । इससे वह नायिका घबडा गयी ।) तभी किसी ने राजा की कीर्ति का गान किया । (जिससे फिर से चान्दनी से भी अधिक शुभ्रप्रकाश हो गया, क्योंकि कवियों के यहाँ कीर्ति का वर्ण शुभ्र माना गया है ।) इस प्रकार वह नायिका निरशंक होकर प्रिय के घर चली गई । हे राजन् आप कहाँ कल्याणप्रद नहीं हो ।

अन्विति - प्रकृत में 'क्व नासि शुभप्रदः' इस सामान्य से अभिसारिका के उपकाररूप विशेष का समर्थन किया गया है । अतः यह साधर्म्य द्वारा सामान्य से विशेष के समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास का उदाहरण है ।

3. वैधर्म्याधिष्ठित (सामान्य का विशेष से समर्थन)

गुणानामेव दौरात्म्याद् धुरि धुर्यो नियुज्यते ।
असंजातकिणस्कन्धः सुखं स्वपिति गौर्गलिः ।।

अर्थ - गुणों के ही दौरात्म्य के कारण (धुरं वहतीति धुर्यः) उत्तम बैल (अथवा कार्यकुशल पुरुष) सदा जुए में जोता जाता है । दुष्ट बैल के कन्धे पर दाग भी नहीं लगता और वह आनन्द से सोता रहता है ।

अन्विति - प्रकृत में गुणवान् उत्तम पुरुष ही सदा कार्य में पीसे जाते हैं, इस सामान्य बात का दुष्ट बैल के उदाहरण द्वारा विशेष से समर्थन किया गया है । अतः यह वैधर्म्य से अर्थान्तरन्यास अलङ्कार का उदाहरण है।

4. वैधर्म्याधिष्ठित (सामान्य से विशेष का समर्थन)

अहो हि मे बह्वपराद्धमायुषा यदिप्रियं वाच्यमिदं मयेदृशम् ।
त एव धन्याः सुहृदः पराभवं जगत्यदृष्टवैव हि ये क्षयं गताः ।।

अर्थ - अरे मेरी लम्बी आयु ने यह बडा अपराध किया है, कि जिससे मुझे इस प्रकार का (सुहृद्विनाशक) अप्रिय (समाचार) कहना पड रहा है । वे ही वास्तव में धन्य हैं, जो संसार में सुहृद् के पराभव को देखे बिना ही मुत्यु को प्राप्त हो जाते हैं ।

अन्विति - उक्त श्लोक में सामान्य से विशेष का वैधर्म्य से समर्थन किया गया है, अतः यह अर्थान्तर न्यास का उदाहरण है ।

8.5 अतिशयोक्ति अलङ्कार

अतिशयोक्ति अलङ्कार को अध्यवसायमूलक अभेद प्रधान अलङ्कार माना गया है।

लक्षण - निर्गीर्याध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत् । प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् ।।

कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः । विज्ञेयाऽतिशयोक्तिः सा ।।

अर्थ - 1) उपमान के द्वारा उपमेय का निगरण (अन्तर्भाव) करके जो अभेद अभेदकथनरूप 'अध्यवसान' करना है, वह प्रथम प्रकार की अतिशयोक्ति होती है । 2) प्रस्तुत अर्थ का अन्य रूप से वर्णन द्वितीय प्रकार की अतिशयोक्ति होती है । 3) 'यदि' के समानार्थक शब्द लगाकर जो कल्पना की जाती है वह तृतीय प्रकार की अतिशयोक्ति होती है। 4) और, कार्य-कारण के पौर्वापर्यका जो विपर्यय होता है, वह चतुर्थ प्रकार की अतिशयोक्ति होती है । इस प्रकार अतिशयोक्ति के चार भेद है ।

क्रमशः प्रत्येक का उदाहरण -

1. उपमान के द्वारा भीतर निगल लिये गये (अर्थात् पृथक् न कहे हुए) उपमेय का जो अध्यवसान होता है । (अर्थात् उपमान के साथ अभेद निश्चय होता है ।) वह प्रथम प्रकार की अतिशयोक्ति होती है । जैसे-

कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम् ।
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम् ।।

अर्थ - (अपनी प्रियतमा को देखकर उसकी सखी के प्रति नायक की यह उक्ति है) - बिना जल के कमल रूप मुख, कमल में दो नीलकमल (रूप नेत्र) और वे (एक कमल तथा दो कमल नायिका के गौरवर्ण शरीर रूप सोने की लता में (लगे हुए हैं) और वह (सोने की लतारूप शरीर भी) सुकुमार तथा सुन्दर है, यह कैसी अनर्थ परम्परा है ।

अन्विति - इस प्रथम प्रकार की अतिशयोक्ति में उपमान के द्वारा उपमेय का निगरण करके उपमान के साथ उसका आहार्य अभेद निश्चय किया गया है । अर्थात् इसमें धर्मी का अभेद प्रतिपादन किया गया है । अर्थात् प्रकृत में मुख आदि का निगरण करके कमल आदि रूप से अभिन्नतया निश्चित किये गये हैं ।

2. अतिशयोक्ति के द्वितीय भेद का लक्षण बताते है जिसमें धर्मी का अभेद नहीं होता अर्थात् 'सामान्य जातीय वस्तु को उससे भिन्न असमानजातीय बतलाया जाता है, वह दूसरे प्रकार की अतिशयोक्ति होती है ।'

अन्यत् सौकुमार्यम् अन्येव कापि वर्तनच्छाया ।
श्यामा सामान्यप्रजापतेः रेखैव न भवति ।। (संस्कृत छाया)

अर्थ - (उस नायिका का) सौन्दर्य कुछ और ही है (लोकोत्तर है) और शरीर की

कान्ति भी कुछ ओर ही (अलौकिक सी) है । (उष्णकाल में शीत देहवाली, और शीतकाल में उष्णदेहवाली षोडशवर्षदेशीया नायिका रूप) 'श्यामा' साधारण (संसार के बनाने वाले) ब्रह्मा की रचना ही नहीं हो सकती है ।

अन्विति - प्रकृत में लोक प्रसिद्ध सौन्दर्य तथा शरीरकान्ति को ही कवि ने 'अन्य' अर्थात् अलौकिक लोकोत्तर रूप में वर्णित किया है । अतः यह द्वितीय प्रकार की अतिशयोक्ति का उदाहरण है ।

3. 'यद्यर्थस्य' अर्थात् यदि शब्दे से अथवा 'चेत्' शब्द के द्वारा कथन करने में जो कल्पना अर्थात् असम्भव अर्थ की कल्पना है, वह तीसरे प्रकार की अतिशयोक्ति होती है । संक्षेप में जहाँ यदि, 'जो' 'चेत्' आदि शब्दों के प्रयोग द्वारा असम्भव कल्पना की जाय । जैसे

राकायामकलङ्कं चेदमृतांशोर्भवेद्वपुः ।
तस्या मुखं तदा साम्यपराभवमवाप्नुयात् ।।

अर्थ - पूर्णिमा की रात्रि में यदि चन्द्रमा का बिम्ब कलंक रहित हो तब उस (नायिका) का मुख चन्द्रमासे सादृश्यरूप पराभव को प्राप्त कर सकता है ।

अन्विति - प्रकृत में 'चेत्' इस पद के द्वारा असम्भाव्य अर्थ की कल्पना की गई है । तथा इस कल्पना की सहायता से सम्पूर्ण पद्य में व्यतिरेक अलङ्कार का साधन किया गया है ।

4. कारण की शीघ्रकारिता को कहने के लिये कार्य का (कारण की अपेक्षा) पूर्व कथन करने पर (कार्य कारण के विपर्यय रूप) चौथी प्रकार की अतिशयोक्ति होती है जैसे -

हृदयमधिष्ठितमादौ मालत्याः कुसुमचापबाणेन ।
चरमं रमणीवल्लभ ! लोचनविषयं त्वया भजता ।।

अर्थात् - हे रमणी वल्लभ (स्त्रियों के प्रियनायक) पुष्प ही जिसका धनुष तथा बाण है, उस कामदेव में मालती (नायिका) के हृदय पर पहिले ही अधिकार कर लिया और तुमने दृष्टिगोचर होकर बाद में (उसके हृदय पर अधिकार कर पाया)

अन्विति - प्रकृत में 'वल्लभ का दृष्टिगोचर होना' यह कारण और 'मालती के हृदय में कामभावना का उत्पन्न होना' रूप कार्य है वस्तुतः कारण कि स्थिति कार्य के पूर्व होती है किन्तु प्रकृत पद्य में कारण के पूर्व ही कार्य का कथन किया गया है ।

8.6 भ्रान्तिमान् अलङ्कार

लक्षण - भ्रान्तिमानन्यसंवित् तत्तुल्यदर्शने ।।

अर्थ - अन्य अप्राकरणिक वस्तु के समान प्राकरणिक वस्तु के देखने पर जो अन्य वस्तु (अन्य अप्राकरणिक अर्थ) का भान होता है, वह भ्रान्तिमान् अलङ्कार होता है । अर्थात्

अप्रकृत (उपमान) के समान प्रकृत (उपमेय) को देखने पर अप्रकृत की भ्रान्ति होने में भ्रान्तिमान अलङ्कार होता है । कहने का तात्पर्य यह है कि एक वस्तु के भ्रम के कारण दूसरी वस्तु समझ लेना ।

आचार्य मम्मट ने प्रकृत प्रसंग में यह स्पष्ट किया है कि उक्त अलङ्कार रूपक अथवा निगर्याध्वसानरूपा अतिशयोक्ति नहीं है, क्योंकि उन दोनों में वास्तव में भ्रम नहीं होता है । और यहाँ अन्वर्थ संज्ञा होने के कारण उस भ्रान्ति की स्पष्ट स्वीकृति होने से यह अलङ्कार रूपक तथा अतिशयोक्ति से भिन्न है । जैसे -

कपाले मार्जारः पय इति करान् लेढि शशिनः, तरुच्छिद्रप्रोतान् बिसमिति करी संकलयति ।

रतान्ते तल्पस्थान् हरति वनिताऽप्यंशुकमिति प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विप्लवयति।।

अर्थ - खप्पर में पड़ी हुई चन्द्रमा की किरणों को यह दूध है, ऐसा समझकर बिल्ली चाट रही है । वृक्ष के छिद्रों से निकलती हुई (किरणों) को हाथी मृणाल दण्ड समझ लेता है । स्त्री सुरतसम्भोग के बाद पलंग पर फैली हुई किरणों को यह शुभ्र वस्त्र है, यह समझकर समेटने लगती है । इस प्रकार प्रभा से मत्त चन्द्रमा इस संसार को भ्रम में डाल रहा है । यह बड़े आश्चर्य की बात है ।

अन्विति - प्रकृत प्रसंग में चन्द्रमा की किरणे प्रकृत हैं तथा दूध, कमल तन्तु तथा रेशमी वस्त्र अप्रकृत हैं किन्तु प्रस्तुत में अप्रकृत वस्तुओं के रूप से चन्द्र किरणों कि प्रतीति अनुक्रम से बिल्ली, हाथी तथा कामिनी को हो रही है ।

8.7 दृष्टान्त अलङ्कार

लक्षण- दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम् ।

अर्थ - 'उपमान, उपमेय, उनके विशेषण और साधारण धर्म आदि का बिम्ब प्रतिबिम्बभाव होने पर दृष्टान्त अलङ्कार होता है । दृष्टान्त का अर्थ है- ' दृष्टोऽन्तः निश्चयोऽत्र स दृष्टान्तः' - दृष्टान्त अलङ्कार में दृष्टान्त (निश्चित) वाक्यार्थ दिखाकर दार्ष्टान्त (अनिश्चित) वाक्यार्थ का निश्चय कराया जाता है । अर्थात् दृष्टान्त दिखाकर किसी कही हुई बात का निश्चय कराया जाता है । संक्षेप में यह कह सकते हैं कि दृष्टान्त वाक्य या उपमान वाक्य के साथ बिम्ब - प्रतिबिम्बभाव के द्वारा दार्ष्टान्तिक वाक्य या उपमेय वाक्य के अर्थ का 'अन्त' अर्थात् निश्चय देखा जाता है वह दृष्टान्त अलङ्कार है ।

भेद - यह अलङ्कार साधर्म्य और वैधर्म्य के भेद से दो प्रकार का होता है ।

1. साधर्म्य से दृष्टान्त अलङ्कार

त्वयि दृष्ट एव तस्या निर्वाति मनो मनोभवज्वलितम् ।

आलोके हि हिमांशोर्विकसति कुसुमं कुमुद्वत्याः ।।

अर्थ - तुमको देखते ही उस नायिका का काम से सन्तप्त हृदय शान्त हो जाता है, जैसे - चन्द्रमा को देखने पर कुमुदिनी का फूल खिल उठता है ।

अन्विति - प्रकृत में नायक तथा चन्द्रमा का, नायिका तथा कुमुदिनी का और मन तथा कुसुम का, मनोभव सन्तप्तत्व तथा सूर्यसन्तप्तत्व का, निर्वाण तथा विकास का बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होने से दृष्टान्त अलङ्कार है ।

2. वैधर्म्य से दृष्टान्त अलङ्कार

तवाहवे साहसकर्मशर्मणः करं कृपाणान्तिकमानिनीषतः ।

भटाः परेषां विशरारुतामगुः दधत्यवाते स्थिरतां हि पांसवः ।।

अर्थ - हे राजन् ! साहसपूर्ण कामों में आनन्द प्राप्त करने वाले तुम्हारे तलवार की ओर हाथ बढाते ही शत्रुओं के सैनिक तितर-बितर हो गये । वायु न चलने पर ही धूल स्थिर रहती है ।

अन्विति - उक्त श्लोक में धूल तथा शत्रु सैनिको का और पलायन एवं अस्थिरत्व का, बिम्ब प्रतिबिम्बभाव है। 'पांसवः अवाते स्थिरतां दधति' इसका 'वाते स्थिरतां न दधति' इस रूप में पर्यवसान होने से यह वैधर्म्य से दृष्टान्त अलङ्कार का उदाहरण है ।

8.8 विभावना अलङ्कार

अलङ्कारों के वर्गीकरण में दूसरा वर्ग 'विरोधमूलक अलङ्कारों' का है । विभावना अलङ्कार इसी 'विरोधमूलक' अलङ्कार वर्ग का है ।

लक्षण - क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना

अर्थ - कारण का अभाव या निषेध होने पर भी फलकी उत्पत्ति का वर्णन होने पर विभावना अलङ्कार होता है । क्रियतेऽनयेति क्रिया इस व्युत्पत्ति के अनुसार यहाँ क्रिया शब्द कारण का बोधक है अर्थात् हेतु रूप क्रिया का निषेध होने पर भी फल की उत्पत्ति विभावना अलङ्कार है । रसगंगाधरकार ने भी स्वयं स्वीकार किया है क्रियाशब्देनात्र कारणम् विवक्षितम् । जैसे

कुसुमितलताभिरहताऽप्यधत्तरुजमलिकुलैरदष्टाऽपि ।

परिवर्तते स्म नलिनीलहरीभिरलोलिताऽप्यघूर्णत सा ।।

अर्थात् - खिली हुई लताओं से ताडित न होने पर भी (नायिका) पीडा को प्राप्त हो रही थी, भ्रमरकुल से न काटे जाने पर भी तड़प रही थी और कमलिनियों से युक्त लहरो के चक्कर में पडे बिना भी वह चक्कर खा रही थी ।

अन्विति - प्रकृत में लताओं की चोट पीडा का कारण हो सकती थी । भ्रमर का काटना तडपने का और कमलिनियों की लहरों के चक्कर में फँस जाना चक्कर आने का कारण हो सकता था, परन्तु उन कारणों का निषेध करने पर भी कार्य का प्रकाशन किया गया है । इसलिए यह विभावना अलङ्कार का उदाहरण है ।

8.9 विशेषोक्ति अलङ्कार

यह भी विरोधमूलक अलङ्कार माना गया है ।

लक्षण - 'विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः ।

अर्थ - सम्पूर्ण कारणों के होते हुए भी फल (या कार्य के) न होने के वर्णन को विशेषोक्ति कहते है।

प्रकृत में यह ध्यातव्य है कि विभावना में कारण के बिना कार्य उत्पन्न होता है और विशेषोक्ति में कारण के होने पर भी कार्य नहीं होता है ।

भेद - विशेषोक्ति अलङ्कार (1) अनुक्तनिमित्ता (2) उक्तनिमित्ता और (3) अचिन्त्यनिमित्त इस तरह तीन प्रकार का होता है । जैसे - 1 अनुक्तनिमित्ता

निद्रानिवृत्तावुदिते द्युरत्ने सखीजने द्वारपदं पराप्ते ।
श्लथीकृताश्लेषरसे भुजंगे चचाल नालिङ्गनतोऽङ्गना सा ।

अर्थ - निद्रा खुल जाने पर, सूर्य के उदय हो जाने पर, सखियों के दरवाजे पर आ जाने पर और उपपति (भुजंग) के आलिंगन के रस को त्याग देने पर भी वह आलिंगन से विचलित नहीं हुई ।

अन्विति - उक्त श्लोक में न्रिदानिवृत्ति, सूर्य का उदय हो जाना तथा सखियों का घर पर आ जाना, सब आलिंगन परित्याग के कारणों के होने पर भी आलिंगन परित्याग रूप कार्य के न होने से विशेषोक्ति अलङ्कार है और उसका निमित्त नहीं बतलाया गया है, इसलिए यह अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण है ।

2 उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति

कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने ।
नमोऽस्त्ववार्यवीर्याय तस्मै मकरकेतवे ।।

अर्थ - जो (कामदेव) कपूर के समान भस्म हो जाने पर भी जन-जन में शक्तिमान् हो गया है, उस अप्रत्याहत पराक्रमवाले कामदेव को नमस्कार है ।

अन्विति - प्रकृत में भस्म हो जाना शक्तिक्षय का कारण है, उसके विद्यमान होने पर भी कामदेव की शक्ति का क्षय नहीं हुआ है । यह कारण के होने पर भी कार्य के न होने से विशेषोक्ति अलङ्कार है, परन्तु यहाँ उसका कारण या निमित्त 'अवार्यवीर्यत्व' कहा हुआ है । अतः यह उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण है ।

3. अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति

एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः ।
हरताऽपि तनुं यस्य शंभुना न बलं हृतम् ।।

अर्थ -फूलों के अस्त्रधारण करने वाला वह कामदेव अकेला ही तीनों लोकों को पराजित कर देता है, जिसके शरीर का अपहरण करके भी शिव उसके शक्ति का विनाश

नहीं कर पाया ।

अन्विति - प्रकृत में कामदेव के शरीर का अपहरण होने रूप कारण के होने पर भी उसके बल का नाश न होना कहा गया है और इस बलनाश के नहीं किये जाने का कारण अज्ञात होने से अचिन्त्य है ।

8.10 ससन्देहालङ्कार

लक्षण - ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः ।

अर्थ - उपमेय में उपमानरूप से संशय, सन्देह नामक अलङ्कार है । अर्थात् उपमेय का 'सम' अर्थात् उपमान के साथ समान कोटिक संशय सन्देह अलङ्कार होता है । संक्षेप में यह का जा सकता है कि किसी वस्तु के विषय में सादृश्य मूलक संशय होने में सन्देह अलङ्कार होता है ।

भेद - यह अलङ्कार उक्तभेद तथा अनुक्त भेद से दो प्रकार का होता है ।

1. उपमान तथा उपमेय दोनों के भेद कथन रूप भेद

अयं मार्तण्डः किं स खलु तुरगैः सप्तभिरितः कृशानुः किं सर्वाः प्रसरति, दिशो नैष नियतम् ।

कृतान्तः किं साक्षान्महिषवहनोऽसाविति चिरं, समालोक्याजौ त्वां विदधति विकल्पान् प्रतिभटाः ।

अर्थ - यह (राजा) क्या (अत्यन्त तेजस्वी होने से) सूर्य है ? (यह संशय हुआ, उसका सूर्य से भेद अगले वाक्य में कहते हैं ।) वह (सूर्य) तो सात घोड़ो से युक्त होता है । (अतः यह सूर्य नहीं हो सकता) तब क्या यह अग्नि है ? (यह संशय हुआ) किन्तु यह अग्नि निश्चित रूप से सब दिशाओं में नहीं फैलता है । अतः यह अग्नि नहीं है । तब क्या यह साक्षात् यमराज है ? (संशय हुआ, अब निराकरण) किन्तु यमराज का वाहन तो भैंसा होता है, अतः यह यमराज भी नहीं है, इस प्रकार युद्ध भूमि में तुमको देखकर शत्रुवीर बडी देर तक सन्देह करता रहता है । इसमें सन्देह का निवारण भी किया गया है, अतः भेदोक्ति का निश्चयगर्भ भेद कहलाता है ।

भेद के कथन न करने पर सन्देहालङ्कार का दूसरा उदाहरण

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो न पुष्पाकरः ।

वेदाभ्यासजडः कथन्नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ।।

अर्थ - इस (नायिका) के निर्माण में क्या कान्ति को देने वाला चन्द्रमा ही प्रजापति बना था ? अथवा केवल शृङ्गारमय कामदेव स्वयं अथवा पुष्पाकर मास (वसन्त, इसका प्रजापति बना) क्योंकि वेदाभ्यास के कारश्ण मूढमति और विषयों में कौतूहल रहित, वृद्ध

ब्रह्मा इस मनोहर रूप का निर्माण करने में कैसे समर्थ हो सकता है ।

अन्विति - प्रकृत में चन्द्रमा आदि से भेद दिखाने वाले धर्म नहीं कहे गये है । अतः भेद की अनुक्ति है। उत्तरार्ध में कहे गये ब्रह्मा की वृद्धता आदि धर्म चन्द्रमा आदि द्वारा रचना किये जाने के सन्देह को पुष्ट करते है।

8.11 निदर्शना अलङ्कार

लक्षण - निदर्शना । अभवन्वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः ।।

अर्थ - जहाँ वस्तु का असम्भव या अनुपद्यमान सम्बन्ध (प्रकृत के अप्रकृत के साथ) उपमा का परिकल्पक अर्थात् उपमा में पर्यवसित होता है वह निदर्शना नामक अलङ्कार होता है । संक्षेप में निदर्शना का अर्थ है दृष्टान्त रूप में करके दिखाना । निदर्शना अलङ्कार में दृष्टान्त रूप में अपने कार्य की उपमा दी जाती है ।

भेद - यह निदर्शना अलङ्कार वाक्यार्थ निदर्शना, पदार्थ निदर्शना तथा माला निदर्शना के भेद से तीन प्रकार का होता है ।

1. वाक्यार्थ निदर्शना जैसे -

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः ।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ।।

अर्थ - कहाँ सूर्य से उत्पन्न वंश (सूर्य वंश) और कहाँ मेरी क्षुद्र बुद्धि । (इन दोनों का सम्बन्ध नहीं हो सकता है ।) सूर्यवंश का वर्णन करना (प्रयास करना) यह अज्ञानवश दुस्तर सागर को छोटी सी नौका से पार करना चाहता हूँ ।

अन्विति - प्रकृत में मेरी बुद्धि के द्वारा सूर्यवंश का वर्णन, उडुप (छोटी सी नौका) से सागर के पार करने के समान है, इस उपमा में इस श्लोक के वाक्य का पर्यवसान है । इस उदाहरण में पूर्वार्ध और उत्तरार्धरूप दो वाक्यों का उपमानोपमेयभाव पर्यवसित होता है । अतः इसे 'वाक्यार्थ निदर्शना' कहा जाता है ।

2. पदार्थ निदर्शना जैसे -

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जा वहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम् ।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम् ।।

अर्थ - जिसकी किरणरूप रस्सियाँ ऊपर की ओर फैल रही हैं, इस प्रकार के सूर्य के उदय होने और (हिमधाम्नि) चन्द्र के अस्त होते समय यह (पर्वत) दो लटकते हुए दो घण्टों से युक्त हाथी की शोभा धारण कर रहा है ।

अन्विति - प्रकृत पद्य में दूसरे (हाथी) की शोभा को दूसरा (पर्वत) कैसे धारण कर सकता है अर्थात् नहीं धारण कर सकता है, अतः 'वारणेन्द्रलीला' रूप पदार्थ का रैवतक पर्वत के साथ सम्बन्ध अनुपन्न होकर उसके समान शोभा को धारण करता है । इस उपमा

में पर्यवसित होता है अतः यह पदार्थ निदर्शना है ।

3. माला निदर्शना जैसे -

दोर्भ्यां तितीर्षति तरङ्गवतीभुजङ्गमादातुमिच्छति करे हरिणाङ्कबिम्बम् ।
मेरुं लिलङ्घयिषति ध्रुवमेव देव ! यस्ते गुणान् गदितुमुद्यममादधाति ।।

अर्थ - हे राजन् (देव) जो तुम्हारे गुणों का वर्णन करने का प्रत्यत्न करता है वह (तरङ्गवती भुजङ्ग अर्थात्) समुद्र को बाहुओं से पार करना चाहता है, चन्द्रमा के बिम्बों हाथ में पकड़ना चाहता है और मेरु पर्वत को लाँघना चाहता है । इस उदाहरण में यह (निदर्शना) मालारूप में भी पायी जाती है ।

8.12 काव्यलिङ्ग अलङ्कार

लक्षण - काव्यलिङ्गंहेतोर्वाक्यपदार्थता ।

अर्थ - हेतु का वाक्यार्थ अथवा पदार्थ (एक पदार्थ अथवा अनेक पदार्थ) रूप में कथन करना काव्यलिंग अलङ्कार होता है । (जहाँ कारण की वाक्यार्थता और पदार्थता होती है वहाँ काव्यलिंग अलङ्कार होता है)

काव्यलिङ्गं में 'काव्य' और 'लिङ्ग' दो शब्द हैं । 'काव्य' शब्द का प्रयोग यहाँ तर्कशास्त्र में माने हुए 'लिङ्ग', से पृथकता करने के लिए किया गया है । 'लिङ्ग' शब्द का अर्थ है हेतु अर्थात् कारण । इस अलङ्कार में जिस बात को सिद्ध करना सापेक्ष होता है, उसको सिद्ध करने के लिए उसका कारण वाक्य के अर्थ में अथवा पद के अर्थ में कहा जाता है । ध्यातव्य - काव्यलिङ्ग में सामान्य विशेष भाव नहीं होता, अर्थान्तरन्यास में सामान्य विशेष भाव रहता है । इन दोनों में यही भेद है ।

भेद - इस अलङ्कार के वाक्यार्थ रूप, अनेक पदार्थ रूप और एक पदार्थ रूप भेद हो सकते हैं ।

1. वाक्यार्थरूप (हेतु की वाक्यार्थता होने पर काव्यलिंग का उदाहरण) जैसे-

वपुः प्रादुर्भावादनुमितमिदं जन्मनि पुरा पुरारे ! न प्रायः क्वचिदपि भवन्तं प्रणतवान्।
नमन्मुक्तः सम्प्रत्यहमतनुरग्रेऽप्यनतिभाक् महेश ! क्षन्तव्यं तदिदमपराधद्वयमपि।।

अर्थ - हे शिवजी । इस शरीर के उत्पन्न होने से, यह अनुमान होता है, कि पूर्व जन्म में मैंने आपको प्रायः कभी नमस्कार नहीं किया । अब इस जन्म में नमस्कार करता हुआ मैं मुक्त हो जाऊँगा, अतः शरीर न रहने से आगे भी आपको नमस्कार नही कर सकूँगा। अतः मेरे इन दोनों अपराधों को क्षमा करना ।

अन्विति - इस उदाहरण में 'पुरा जन्मनि भवन्तं न प्रणतवान्' और 'अग्रेऽप्यनतिभाक्' इन वाक्यों का अर्थ उपराधद्वय का हेतु है । यद्यपि अनमन स्वयं अपराधस्वरूप है, इसलिए उनमें साधारणतः हेतु-हेतुमद् भाव नहीं है, परन्तु अनमन को हेतु और उससे उत्पन्न दुरित

या अदृष्ट को हेतुमान् कहा जा सकता है । इस प्रकार यह हेतु के वाक्यार्थरूप होने पर काव्यलिङ्ग अलङ्कार का उदाहरण है ।

2. अनेक पदार्थरूप (अनेक पदार्थ रूप हेतु के होने पर काव्यलिङ्ग का उदाहरण है ।) जैसे -

प्रणयिसखीसलीलपरिहासरसाधिगतैर्ललितशिरीषपुष्पहननैरपि ताम्यति यत् ।
वपुषि वधाय तत्र तव शस्त्रमुपक्षिपतः पततु शिरस्यकाण्ड यम दण्ड इवैष भुजः ।।

अर्थ - प्रेम करने वाली सखियों के द्वारा परिहास रस में पाये हुए कोमली शिरीष पुष्प की चोट से भी जो व्याकुल हो जाती है, उसके शरीर पर उसके मारने के लिए शस्त्र उठाने वाले तेरे शिर पर यमदण्ड के समान अचानक (मेरा) यह हाथ पड़ता है ।

अन्विति - प्रकृत पद्य 'वपुषि शस्त्रमुपक्षिपतः' ये अनेक पद भुजपात के हेतु हैं । इनमें मुख्य क्रिया का अभाव होने से यह पद समुदाय वाक्य नहीं बन पाया है और एक पद भी नहीं है अतः इसको अनेक पद या खण्डवाक्य कहा जा सकता है । इसी खण्ड वाक्य के लिए यहाँ 'अनेक पदार्थ' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार यह अनेक पदार्थ रूप हेतु का उदाहरण है ।

3. एक पदार्थता (हेतु के एक पदार्थ रूप होने पर काव्यलिंग का उदाहरण) जैसे-

भस्मोद्धूलन ! भद्रमस्तु भवते, रुद्राक्षमाले । शुभं हा ! सोपानपरम्परां गिरिसुता कान्तालयालङ्कृतिम्।
अद्याराधनतोषितेन विभुना युष्मत्सपर्यासुखालोकोच्छेदिनि मोक्षनामनि महामोहे निधीयामहे ।।

अर्थ - हे भस्मलेपन ! तुम्हारा कल्याण हो, हे रुद्राक्षमाले ! तुम सुखी रहो । हाय शिवालय की, अलङ्कारभूत सीढियों ! आराधना से प्रसन्न हुए शिवजी आज हमें तुम्हारी सेवा सुख के प्रकाश को नष्ट कर देने वाले मोक्ष नामक महान्धकार में डाल रहे हैं । अतः हम आप से विदा मांग रहे हैं । यह किसी शिवभक्त की उक्ति है ।

भामह को 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार मान्य नहीं था (भामह 2/86) दण्डीने 'हेतु' के नाम से इस अलङ्कार का विस्तृत विवेचन किया है । 'काव्यलिङ्ग' नामक जिस अलङ्कार का उल्लेख किया गया है, उसके लक्षणोदाहरणों से उत्तरकालीन आलङ्कारिको का 'अनुमान' अलङ्कार प्रतीत होता है । रुद्रट ने 'हेतु' नामक अलङ्कार का उल्लेख किया है (रुद्रट 7/28), किन्तु यह हेतु दण्डी के 'हेतु', उद्भट के 'काव्यलिङ्ग' से और मम्मटोक्त 'काव्यलिङ्ग' और 'अनुमान' अलङ्कारों से एकदम भिन्न है । इसका उल्लेख मम्मट ने 'कारणमाला' अलङ्कारों के सन्दर्भ में किया है।

'काव्यलिङ्ग' और 'अनुमान' इन दो अलङ्कारों का प्रतिपादन (उल्लेख) मम्मट और रुय्यक ने किया है और इनके लक्षण भी प्रायः एक जैसे ही हैं । (दे रुय्यक - पृ.143, 146) । शोभाकर ने भी इन दोनों अलङ्कारों का उल्लेख किया है । (रत्नाकर, पृ.133,

38) विश्वनाथ, और अप्पय्य दीक्षित ने 'काव्यलिङ्ग, अनुमान और हेतु-इन तीनों अलङ्कारों का प्रतिपादन किया है । पं. राज जगन्नाथ ने केवल 'काव्यलिङ्ग' और :नुमान' दो अलङ्कारों का ही प्रतिपादन किया है । (दे. जगन्नाथ पृ. 446,475) काव्यलिङ्ग के विवेचन के अन्त में पं. जगन्नाथ ने 'दो वस्तुओं के मध्य में स्थित हेतु हेतुमद्भाव के विधान में कुछ भी चमत्कृति न होने से, 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार मूलतः है ही नहीं ऐसा कहा है, जिसे अन्य आलङ्कारिक 'काव्यलिङ्ग' कहते हैं, वह वास्तव में 'निर्हेतुत्व' नामक दोष का अभाव ही है।

000

Note

Note

Note

Note

Note